श्रीहरिः

परमशान्तिका मार्ग



लेखक

जयदयाल गोयन्दका

मूल्य दो रुपये पचास पैसे

श्रीहरिः

परम शान्तिका मार्ग



लेखक—

जयदयाल गोयन्दका

प्रकाशक–

गोविन्द भवन कार्यालय,

गीता प्रेस, गोरखपुर

संवत् २०१६ से २०३५ तक	७०,०००
संवत् २०३८ सातवाँ संस्करण	२०,०००
संवत् २०४० आठवाँ संस्करण	२०,०००
संवत् २०४० नौवाँ संस्करण	२५,०००
	कुल १,३५,०००

मूल्य : रु० २·५०

मुद्रक–अमित आफ़सेट, २५७–गोलागंज, लखनऊ

पता – गीता प्रेस, पो० गीता प्रेस, गोरखपुर

श्रीपरमात्मने नमः

नम्र निवेदन

इस पुस्तकमें 'कल्याण'के ३० वेंसे ३२ वें वर्षतकके अङ्कोंमें प्रकाशित हुए मेरे लेखोंका संशोधन करके संग्रह किया गया है। इन लेखोंमें आस्तिकता, भगवत्प्रेम, मनोनिरोध, श्रद्धा-भक्ति, ज्ञान-वैराग्य, सद्गुण-सदाचार, धर्म, पुरुषार्थ, उत्तम भाव, सत्सङ्ग-स्वाध्याय आदि साधनोंका, महापुरुषोंके प्रभावका एवं भगवान्‌के स्वरूपका बहुत सरलतापूर्वक विवेचन किया गया है; साथ ही सभी मनुष्योंके लिये उपयोगी सब प्रकारकी उन्नति, व्यावहारिक और सामाजिक सुधार, शिष्टाचार, बालकोंके कर्तव्य आदिका एवं तमोगुण, आत्महत्या और ऋण आदिके दुष्परिणामोंका भी निरूपण किया गया है। अतः सभी भाइयों, बहिनों और माताओंसे विनीत प्रार्थना है कि वे यदि उचित समझें तो इन लेखोंको मननपूर्वक पढ़नेकी कृपा करें और तदनुसार अपना जीवन बनानेका पूर्ण प्रयत्न करें, जिससे वे परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्तिके पथपर अग्रसर हो सकें। इनमें लिखी बातोंको काममें लानेपर मनुष्यका अवश्य कल्याण हो सकता है, क्योंकि ये ऋषि-मुनि, संत-महात्मा, शास्त्र और भगवान्‌के वचनोंके आधारपर लिखी गयी हैं। मैंने तो जो कुछ भी निवेदन किया है, वह मेरी एक प्रार्थना है। जो कोई भी उसको काममें लायेंगे, उनका मैं अपनेको आभारी मानता हूँ।

पुस्तकमें जो भी त्रुटियाँ रह गयी हों, उनके लिये विज्ञजन क्षमा करें और मुझे सूचना देनेकी कृपा करें।

विनीत

जयदयाल गोयन्दका



श्रीहरिः

विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या



चित्र-सूची





ध्रुवपर कृपा

|| ॐ श्रीपरमात्मने नमः ||

परमशान्तिका मार्ग

धर्मयुक्त उन्नति ही उन्नति है

मनुष्यको उचित है कि वह अपनी सब प्रकारकी उन्नति करे । मनुष्यकी सब प्रकारकी उन्नति निष्कामभावपूर्वक धर्मका पालन करनेसे ही हो सकती है; किंतु दुःखका विषय तो यह है कि आजकल बहुत-से लोग तो धर्मके नामसे ही घृणा करते हैं । वास्तवमें वे लोग धर्मके तत्त्वको नहीं समझते । अतः प्रत्येक मनुष्यको धर्मका तत्त्व, रहस्य और स्वरूप समझना चाहिये । धर्मका स्वरूप है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

(वैशेषिकदर्शन सूत्र २)

'इस लोक और परलोकमें जो हितकारक है, उसीका नाम धर्म है ।'

जो इस लोकमें हितकर जान पड़े, किंतु परलोकमें अहितकर हो, वह धर्म नहीं है। अतः हमारी सभी क्रियाएँ धर्मके अनुसार ही होनी चाहिये। इसीसे हमारी सर्वाङ्गपूर्ण उन्नति हो सकती है। शारीरिक, भौतिक, ऐन्द्रियिक, मानसिक, बौद्धिक, व्यावहारिक, सामाजिक, नैतिक और धार्मिक—आदि उन्नतिके कई प्रकार हैं।

शारीरिक उन्नति

शारीरिक उन्नतिके साथ भी धर्मका बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः शारीरिक उन्नति धर्मानुकूल ही होनी चाहिये। शारीरिक उन्नति भोजनसे विशेष सम्बन्ध रखती है। सात्त्विक भोजन करना शरीरके लिये बहुत ही हितकर है और वही धर्मानुकूल है। भगवान्‌ने गीता अध्याय १७ श्लोक ८ में सात्त्विक भोजनका इस प्रकार वर्णन किया है--

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय---ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।'

हमें सात्त्विक भोजनके इन लक्षणोंपर ध्यान देना चाहिये। आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले पदार्थोंका भोजन ही सात्त्विक भोजन है। साथ ही वह भोजन रसयुक्त, चिकना, हृदयको प्रिय तथा बहुत कालतक ठहरनेवाला होना

चाहिये । ऐसा भोजन क्या है ? गायका दूध, दही, घी, खोवा, छेना आदि; तिल, बादाम, मूँगफली, नारियल आदिका तेल; बादाम, पिश्ता, दाख, छुहारी, खजूर, काजू आदि मेवा; केला, अनार, अंगूर, संतरा, मोसम्बी, नासपाती, सेव आदि फल; आलू, अरबी, तुरई, भिंडी, कोंहड़ा, लौकी, बथुआ, मेथी, पुदीना, पालक आदि शाक-सब्जी; एवं जौ, तिल, गेहूँ, चना, चावल, मूँग आदि अनाज—ये सभी सात्त्विक पदार्थ हैं । ये सभी आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले हैं, शरीरको पुष्ट करनेवाले हैं तथा प्राय: सभी पदार्थ स्निग्ध, चिकने, रसयुक्त और मधुर हैं । इन सात्त्विक पदार्थोंका अपनी प्रकृति तथा शारीरिक स्थितिके अनुसार परिमित-रूपमें सेवन करनेसे शारीरिक और मानसिक उन्नति होती है । इसके विपरीत, राजसी-तामसी भोजन करनेसे शारीरिक और मानसिक हानि होती है; अत: उनका सेवन नहीं करना चाहिये । राजसी और तामसी भोजनका लक्षण बतलाते हुए भगवान्‌ने कहा है—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

(गीता १७ । ९-१०)

'कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दु:ख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषको प्रिय होते हैं अर्थात् राजसी

भोजन है। एवं जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है अर्थात् वह तामसी भोजन है।'

अतः उपर्युक्त राजसी और तामसी भोजनका परित्याग करके सात्त्विक भोजनका सेवन करना ही उचित है।

इसके सिवा पुरुषोंके लिये आसन, दण्ड, बैठक, कुश्ती, दौड़ आदि कसरत करना तथा स्त्रियोंके लिये चक्कीसे आटा पीसना, चर्खा कातना, रसोई बनाना, झाड़-बुहारकर घरकी सफाई रखना—आदि गृहकार्य करना एवं अन्य शारीरिक न्याययुक्त परिश्रम करना शरीरकी उन्नतिमें लाभदायक है। इसके विपरीत निकम्मा रहना, अधिक सोना, प्रमाद, दुराचार, मिथ्या बकवाद, अनुचित परिश्रम और मैथुन करना—ये सब शरीरके लिये महान् हानिकर हैं। इनसे बचकर रहना चाहिये। इस प्रकार शरीरमें सात्त्विक बुद्धि, बल, आयु, आरोग्य, सुख और प्रीतिका बढ़ना एवं शरीरका स्वस्थ रहना शारीरिक उन्नति है।

भौतिक उन्नति

भौतिक उन्नति शारीरिक उन्नतिसे भिन्न है। भौतिक उन्नति उसकी अपेक्षा व्यापक है। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन पाँचों भूतोंको अधिक-से-अधिक मनुष्योपयोगी बना लेना भौतिक उन्नति है। वर्तमानमें जिसे भौतिक विज्ञान या लौकिक विज्ञान कहते हैं, जिससे आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वीसे नयी-नयी चीजोंका आविष्कार किया जाता है, इस विज्ञानके सम्बन्धमें वैज्ञानिक महानुभाव कहते

हैं कि हम बड़ी उन्नति कर रहे हैं; किंतु वस्तुतः उनकी यह उन्नति आंशिक ही है। पूर्वके लोगोंमें भौतिक उन्नति इसकी अपेक्षा बहुत ही बढ़ी-चढ़ी थी, परंतु उसका प्रकार तथा साधन दूसरा था और वह अधिक विकसित एवं प्रभावोत्पादक था। रामायणमें वर्णित 'पुष्पक' विमान, राजा शाल्वका 'सौभ' विमान, पाशुपतास्त्र, नारायणास्त्र और ब्रह्मास्त्र एवं श्रीवेदव्यासजीका वर्षों बाद मृत अठारह अक्षौहिणी सेनाका आवाहन करके प्रत्यक्ष दिखाना और बातचीत करा देना तथा श्रीभरद्वाजजी एवं श्रीकपिलदेवजी आदिके जीवनमें अष्टसिद्धियोंके चमत्कारकी घटनाएँ इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

ऐन्द्रियिक उन्नति

इसी प्रकार हमें इन्द्रियोंकी भी उन्नति करनी चाहिये। इन्द्रियोंमें विशुद्धता, नीरोगता, तेज, ज्ञान, बल, शक्ति और योग्यताका बढ़ना इन्द्रियोंकी उन्नति है।

मनुष्यको उचित है कि अपनी वाणी, कान, नेत्र आदि इन्द्रियोंको शुद्ध बनावे। सत्य, प्रिय, हित और मित भाषणसे तथा भगवान्‌के नाम-जप, लीलागुण-गान और सत्-शास्त्रोंके स्वाध्यायरूप वाणीके तपसे वाणीकी शुद्धि होती है और इसके विपरीत भाषणसे वाणी अपवित्र होती है। इसी प्रकार कानोंके द्वारा उपदेशप्रद, हितकर और सद्गुण-सदाचार तथा भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी बातें सुननेसे कानोंकी शुद्धि होती है और इसके विपरीत पर-निन्दा, दूसरोंके दुर्गुण-दुराचार तथा व्यर्थकी बातें सुननेसे कान दूषित होते हैं। इसी तरह नेत्रोंके द्वारा अच्छे पुरुषोंका दर्शन करनेसे, दूसरोंके गुण

देखनेसे तथा परायी स्त्रियोंको मातृभावसे देखनेसे नेत्र शुद्ध होते हैं और इसके विपरीत दूसरोंके दुर्गुण-दुराचारोंको तथा विकार पैदा करनेवाले मलिन दृश्यों, चित्रों, पदार्थोंको देखनेसे या परायी स्त्रियोंको अश्लील दृष्टिसे देखनेसे नेत्र दूषित होते हैं।

इसी प्रकार अन्य सभी इन्द्रियोंके विषयमें समझ लेना चाहिये। जब इन्द्रियाँ शुद्ध होकर दिव्य हो जाती हैं, तब उनकी शक्ति बढ़ जाती है। जैसे नेत्रोंसे दूर देशकी वस्तु दीखने लग जाती है, कानोंसे दूर देशकी बातें सुनने लग जाती हैं तथा वाणीसे कहे हुए वचन प्रामाणिक माने जाते हैं और सत्य होते हैं।

मानसिक उन्नति

इसी प्रकार हमें अपने मनकी उन्नति करनी चाहिये। मनमें जो दुर्गुण-दुराचार और पापोंके संस्कार भरे हैं, यही मनका मैलापन है। किसी भी कार्यको करनेके लिये जो मनमें साहस नहीं होता है, यह मनकी कमजोरी है, दुर्बलता है तथा विषयोंमें आसक्ति होनेके कारण जो मनमें चञ्चलता है, यह मनका विक्षेप-दोष है। अतः मनको इन मलिनता, दुर्बलता तथा चञ्चलता आदि दोषोंसे रहित करके शुद्ध और बलवान् बनाना एवं स्थिर करना आवश्यक है। निःस्वार्थ भावसे कर्तव्यका पालन करनेसे, किसीका बुरा न चाहनेसे, बुरे और व्यर्थ संकल्पोंका त्याग करनेसे और भगवान्के नाम-रूपका स्मरण करनेसे मन शुद्ध होता है। ईश्वरपर विश्वास रखनेसे मनकी कमजोरी दूर होती है और धीरता, वीरता, गम्भीरता बढ़ती है तथा ईश्वरके ध्यानके अभ्यास, विषयोंमें वैराग्य

और अध्यात्मविषयक विचार करनेसे विक्षेपदोषका नाश होता है। इस प्रकार करनेसे मनमें पवित्रता, स्थिरता, साहस, बल आदिका आविर्भाव होकर मनकी उन्नति हो जाती है।

मनकी उन्नतिके लिये गीतामें भगवान्‌ने मानस-तपका यों वर्णन किया है—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते॥
(१७। १६)

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता— इस प्रकार यह मन-सम्बन्धी तप कहा जाता है।' इस मानस-तपके अनुष्ठानसे मानसिक उन्नति शीघ्र और स्थायी होती है।

बौद्धिक उन्नति

इसी प्रकार हमें अपनी बुद्धिकी उन्नति करनी चाहिये। बुद्धिमें अपवित्रता, अज्ञता, विपरीत ज्ञान, संशय और अस्थिरता आदि अनेक दोष भरे हैं, वे सब सात्त्विक भाव, निष्काम सेवा, सत्पुरुषोंके सङ्ग, सत्‌शास्त्रोंके स्वाध्याय और परमात्माके ध्यानसे दूर होते हैं। अतएव बुद्धिको सात्त्विक बनाना चाहिये। सात्त्विक बुद्धिके लक्षण गीता अध्याय १८ श्लोक ३० में भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार बताये हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

'पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गको, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थ जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है ।'

इस प्रकार समझकर बुद्धिकी उन्नति करनी चाहिये । बुद्धि सात्त्विक हो जानेपर मनुष्यमें धीरता, वीरता, गम्भीरता, क्षमा, दया, शान्ति, संतोष, समता, सरलता आदि सद्गुण अपने-आप स्वाभाविक आ जाते हैं ।

व्यावहारिक उन्नति

इसी तरह हमें अपने व्यवहारकी उन्नति करनी चाहिये । हम सबके साथ ऐसा व्यवहार करें, जो सत्यता, सरलता, स्वार्थ-त्याग, निष्कामभाव, उदारता, विनय और प्रेमसे युक्त हो तथा जिससे दूसरोंका हित हो । व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी, विश्वासघात कभी नहीं करना चाहिये । वस्तुओंके लेन-देनके समय वजन, नाप और संख्यामें न तो अधिक लेना और न कम देना ही चाहिये । इसी प्रकार ग्राहकको एक चीज दिखाकर उसके बदले दूसरी चीज नहीं देनी चाहिये और नफ़ा, आढ़त, दलाली, कमीशन, भाड़ा, ब्याज ठहराकर न तो कम देना चाहिये और न अधिक लेना चाहिये । बढ़िया चीजमें घटिया और पवित्रमें अपवित्र चीज मिलाकर न तो खरीदना चाहिये और न बेचना ही चाहिये एवं ऐसी वस्तुओंका भी व्यवसाय नहीं करना चाहिये जिनमें प्राणियोंकी विशेष हिंसा हो तथा जो मांस, मदिरा, अण्डे, हड्डी, चमड़ा आदि अपवित्र गंदी चीजोंसे सम्बन्ध रखनेवाली हों । व्यवसायके समय

परस्पर सबके साथ बहुत उत्तम तथा सरल, विनम्र, स्पष्ट, न्याययुक्त और सत्य व्यवहार करना चाहिये। गल्ला-किराना, सूत-कपड़ा, गुड़-चीनी, लोहा-सिमेंट आदि किसी भी वस्तुके भाव तेज या मंदे हो जानेपर भी स्वीकार किये हुए सौदेके मालको देने और लेनेमें न तो जरा भी आनाकानी करनी चाहिये, न बेईमानी करनी चाहिये और न अस्वीकार ही करना चाहिये, चाहे कितनी ही हानिका सामना करना पड़े। किसी भी दलाल, व्यापारी या एजेंटका कोई भूलसे दोष हो जाय तो उसे क्षमा कर देना चाहिये तथा अपने सम्पर्कमें आनेवाले सभी व्यक्तियोंको अधिक-से-अधिक लाभ हो और उनकी सब प्रकारसे उन्नति हो, ऐसा भाव रखना चाहिये। ऐसे व्यापारसे इस लोक और परलोक—दोनोंमें सुगमतासे उन्नति हो सकती है।

सामाजिक उन्नति

इसी प्रकार हमें सामाजिक उन्नति भी करनी चाहिये। बच्चा पैदा होनेपर पार्टी देना, लोगोंको बुलाकर चौपड़-ताश खेलना, बीड़ी-सिगरेट पिलाना, विवाह-शादीमें दहेज लेना, दहेजका दिखलावा करना, आतिशबाजी करना, बिनोरी निकालना, बुरे गीत गाना, थियेटर-तमाशे दिखलाना, पार्टी देना, बहुत अधिक रोशनी करना, बड़े पण्डाल बनाना, दिखावेमें व्यर्थ खर्च करना एवं घरके किसी वृद्ध आदमीके मर जानेपर विधिसङ्गत ब्राह्मण-भोजन और बन्धु-बान्धवोंके अतिरिक्त प्रीतिभोज करना, पार्टी देना—आदि जो कुरीतियाँ और फिजूलखर्ची हैं, इनको हटाना चाहिये। ये सब बातें सामाजिक उन्नतिके अन्तर्गत हैं।

नैतिक उन्नति

इसी प्रकार हमें नैतिक उन्नति करनी चाहिये। आज जो हमारा नैतिक पतन हो गया है, उसका सुधार करना बहुत आवश्यक है।

स्कूल-कालेजोंमें पढ़नेवाले बालकोंको चाहिये कि उद्दण्डता और चञ्चलताका त्याग करके सबसे सभ्यतापूर्ण विनम्र व्यवहार करें। अध्यापकोंके प्रति पूज्यभाव रक्खें, उनके साथ श्रद्धा, विनय और आदरका व्यवहार करें और उनको नमस्कार करें। अध्यापकोंका कर्तव्य है कि वे छात्रोंके साथ पुत्रके समान स्नेहका व्यवहार रखते हुए सदा उनको अपने आचरणोंके द्वारा तथा मौखिकरूपसे आदर्श हितकर सत्-शिक्षा दें।

आजकल बहुत-से लड़कोंमें, अध्यापकोंमें तथा छात्र-छात्राओंमें अश्लील बातचीत, गंदी चेष्टा और हँसी-मजाक होते हैं—यह भयानक नैतिक पतन है। इसका सर्वथा त्याग करना चाहिये। अध्यापकोंको भी स्वयं इस दोषसे बचना और लड़कोंको अच्छी शिक्षा देकर बचाना चाहिये। आजकल स्कूल-कालेजोंमें पढ़ाईका समय बहुत कम रक्खा जाता है, अवकाश और छुट्टियाँ बहुत कर दी गयी हैं—इससे व्यर्थ तथा प्रमादमें समय नष्ट होता है और अध्ययन बहुत कम होता है—इसका भी सुधार करनेकी आवश्यकता है।

इसी प्रकार कर्मचारी और मजदूरोंको उचित है कि वे उद्योगके, कारखानेके अथवा मालिक एवं मैनेजर आदिके प्रति

उद्दण्डताका बर्ताव न करें। ऐसा कोई काम न करें जिससे उद्योगको तथा किसी अधिकारी व्यक्तिको कोई हानि पहुँचे। अपितु अपने परिश्रम, ईमानदारी, आज्ञाकारिता तथा व्यवस्था-पालनके द्वारा उद्योगकी अधिक-से-अधिक उन्नति करके उसका हित करें तथा अधिकारियोंके प्रति सदा सद्भाव रक्खें एवं सद्व्यवहार करें। इसी प्रकार मालिक, मैनेजर और पदाधिकारियोंको चाहिये कि वे कर्मचारियों और मजदूरोंके साथ आत्मीयता तथा उदारताका और प्रेमभरा बर्ताव करें, सदा उनकी उन्नति करें, उनका हित करते रहें, उनके दुःख-सुखको अपना ही दुःख-सुख समझें, अपनेमें बड़प्पनका अभिमान न रक्खें, उनका कभी भी अपमान न करें, उनको नीचा न समझें; बल्कि अपनेको भी उन्हींकी भाँति एक कर्मचारी ही समझें।

रेलयात्रा करते समय किराया चुकाये बिना नियमविरुद्ध बोझ साथ न ले जायँ तथा नीचे दर्जेकी टिकट लेकर ऊँचे दर्जेमें न बैठें और न बिना टिकट ही यात्रा करें। न तो हकसे अधिक जगह ही रोकें और न जगह रहते हुए किसीको आनेसे मना ही करें। प्रत्युत सबके साथ प्रेमपूर्वक न्याययुक्त और उदारतापूर्ण व्यवहार करें। इसी प्रकार मेले आदिमें भी नीतिका व्यवहार करना चाहिये।

कहीं पंचायतीका काम पड़े तो पंच बनकर लोभ, मोह या अज्ञानसे अथवा मान-बड़ाईकी इच्छासे किसीका पक्षपात न करें, बल्कि सबके साथ न्याययुक्त, सम और सत्य व्यवहार करें।

इसी प्रकार उच्चपदस्थ मन्त्री, रेल-अधिकारी, पुलिस-अधिकारी

तथा अन्यान्य सरकारी अफ़सरोंको चाहिये कि वे सब जनताके साथ स्वार्थत्यागपूर्वक न्याययुक्त समताका व्यवहार करें; मान, बड़ाई और भयसे या रिश्वत लेकर कभी शुद्ध नीतिका त्याग न करें।

उपर्युक्त प्रकारसे स्वार्थत्यागपूर्वक निष्कामभावसे व्यवहार करनेपर नैतिक उन्नति होती है। यही परम कर्तव्य है और इसीमें कल्याण है।

धार्मिक उन्नति

इसी प्रकार हमें धार्मिक उन्नति करनी चाहिये। जिससे अपनेमें और संसारमें धर्मका प्रसार हो, वही धार्मिक उन्नति है। धर्मके लक्षण श्रीमनुजीने इस प्रकार बतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(६।९२)

'१ धैर्य रखना, २ क्षमा करना, ३ मनको वशमें रखना, ४ चोरी न करना, ५ बाहर-भीतरकी पवित्रता रखना, ६ इन्द्रियोंको वशमें रखना, ७ सात्त्विक बुद्धि, ८ सात्त्विक ज्ञान, ९ सत्य वचन बोलना, और १० क्रोध न करना—ये धर्मके दस लक्षण हैं।'

यह सामान्य धर्म मनुष्यमात्रके लिये है। यही इस लोक और परलोकमें प्रत्यक्ष परम हितकर है। धर्मकी विशेष बातें बड़े विशद तथा सुचारु रूपसे मनुस्मृति आदि धर्म-ग्रन्थोंमें बतलायी गयी हैं, उन्हें वहाँ देख लेना चाहिये। जैसे—वर्ण-धर्मका निरूपण गीताके अठारहवें अध्यायमें ४२वेंसे ४४वें श्लोकतक तथा मनुस्मृतिके पहले अध्यायके ८८वेंसे ९१वें श्लोकतक किया गया है, उसे

देख सकते हैं। वर्णाश्रम-धर्मका विशेष विस्तार देखना चाहें तो मनुस्मृतिमें दूसरे अध्यायसे छठे अध्यायतक देखना चाहिये।

मनुष्यको उचित है कि धर्मके लिये अपने व्यक्तिगत स्वार्थका सर्वथा त्याग कर दे। जैसे यक्षके आग्रह करनेपर भी युधिष्ठिरने राज्य और अपने सहोदर भाइयोंकी परवा न करके नकुलको ही जीवित कराना चाहा (देखिये महाभारत वनपर्व अ० ३१३)। उन्होंने धर्मके लिये स्वर्गको भी ठुकरा दिया, पर अपने साथ हो जानेवाले कुत्तेका भी त्याग नहीं किया (देखिये महाभारत महाप्रस्थानिकपर्व अध्याय ३)।

गुरु गोविन्दसिंहके लड़कोंने धर्मके लिये अपने प्राणोंका त्याग कर दिया। जीते-जी अपनेको दीवालमें चुनवा दिया; किंतु अपने धर्मका परित्याग नहीं किया।

चित्तौड़गढ़में राजपूतोंकी तेरह हजार स्त्रियोंने धर्मकी रक्षाके लिये अपने प्राणोंकी आहुति दे दी।

इसी प्रकार जो आपत्ति पड़नेपर भी अपने धर्मका त्याग नहीं करता, उसका सहज ही कल्याण हो जाता है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः (३। ३५)—अपने धर्ममें मरना भी कल्याणकारक है।'

इसके सिवा बाढ़, भूकम्प, अकाल, महामारी, अग्निदाह, मेला आदिके समय आर्त्त मनुष्योंको हर प्रकारसे सुख पहुँचाना चाहिये। स्त्रियोंकी मातृभाव रखकर सेवा करनी चाहिये। भय, स्वार्थ, आसक्ति, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और आरामके वशीभूत होकर कभी

नीति, सत्य, समता और धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। एवं सबके साथ सदा उदारता, दया, स्वार्थत्याग, निष्कामता, विनय और प्रेमसे भरा व्यवहार करना चाहिये।

श्रीतुलसीदासजीने धर्मका सार बतलाते हुए कहा है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

(राम० उत्तर० ४०। १)

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

(राम० अरण्य० ३०। ५)

भगवान् श्रीकृष्णने भी कहा है—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(गीता १२। ४)

'वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत पुरुष मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

यह सब धार्मिक उन्नतिके अन्तर्गत है। अतएव हमें हरेक काममें इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरोंको आराम पहुँचावें, वह भी केवल निष्कामभावसे—मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिकी इच्छासे या स्वार्थसिद्धिके अभिप्रायसे नहीं।

इस प्रकार परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे और परहितकी भावनासे स्वार्थका त्याग करके निष्कामभाव और प्रेमपूर्वक आचरण करनेपर उपर्युक्त सभी प्रकारकी उन्नति परमार्थमें परिणत हो जाती है अर्थात् मनुष्यका कल्याण करनेवाली हो जाती है। जैसे भक्ति, ज्ञान, वैराग्यसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है, इसी प्रकार उपर्युक्त सद्गुण-सदाचारयुक्त उन्नतिसे भी मनुष्यका कल्याण हो जाता है।



श्रीगीताजयन्ती और गीताकी महिमा

यह प्रश्न होता है कि 'श्रीगीताजयन्ती मार्गशीर्ष शुक्ला ११ को ही क्यों मनायी जाती है ? इसी दिन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति गीताका उपदेश दिया था, इसका क्या प्रमाण है ?' इसके लिये हमें महाभारतके युद्धारम्भ एवं पितामह भीष्मके परलोकगमनके कालपर दृष्टिपात करना आवश्यक है—महाभारत, भीष्मपर्वके अध्याय २, श्लोक २३-२४ में लिखा है कि कार्तिककी पूर्णिमाके चन्द्रमाको देखकर श्रीवेदव्यासजीने धृतराष्ट्रसे कहा कि निकट भविष्यमें बड़ा भयंकर युद्ध होनेवाला है; क्योंकि चन्द्रमाका रूप अग्निके समान लाल, कान्तिहीन और अलक्ष्य दिखायी पड़ता है । महाभारत, अनुशासनपर्वके १६७ वें अध्यायके २७वें-२८वें श्लोकोंमें वर्णन आता है कि भीष्मजीने माघ शुक्ला अष्टमीके दिन अपने शरीरका परित्याग किया था । श्रीभीष्मजी बहुत दिनोंतक शरशय्यापर पड़े रहे । इस हिसाबसे माघ शुक्लपक्ष या पौष शुक्लपक्षमें तो गीताजयन्ती हो नहीं सकती, प्रत्युत मार्गशीर्षमें ही हो सकती है ।

यदि शुक्लपक्ष न मानकर कृष्णपक्ष ही गीताजयन्तीका

काल मान लिया जाय तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि महाभारत, द्रोणपर्वमें वर्णन है कि चौदहवें दिनकी रात्रिमें जो संग्राम हुआ था, उस समय घोर अन्धकार था, प्रज्वलित दीपकों (मशालों) के प्रकाशमें ही वह युद्ध हुआ था (देखिये अ० १६३); वहाँ अँधेरेमें अपने-परायेका ज्ञान न रहनेसे लोग अपने पक्षके वीरोंका भी संहार करने लगे । तब अर्जुनने युद्ध बंद करके विश्राम करनेकी आज्ञा दे दी (देखिये अ० १८४) । इस प्रकारकी अन्धकारमयी रात्रि कृष्णपक्षमें ही रहती है । इस हिसाबसे गीताके प्राकट्यका समय कृष्णपक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि गीता युद्धारम्भके पहले ही कही गयी थी और उक्त चौदहवें दिनकी रात्रिके युद्धके समयमेंसे तेरह दिन घटानेपर शुक्लपक्ष ही सिद्ध होता है ।

यदि कहें कि 'एकादशीके दिन ही गीता कही गयी, इसका क्या प्रमाण है ?' तो इसका उत्तर यह है कि उक्त चौदहवें दिनकी रात्रिमें आधी रातके पश्चात् चन्द्रमाके उदय होनेपर पुनः युद्ध आरम्भ हुआ था । वहाँका चन्द्रमाका वर्णन कृष्णपक्षकी नवमीके जैसा है; क्योंकि अर्धरात्रिके बाद चन्द्रोदय अष्टमीके पूर्व हो नहीं सकता । अतः उस युद्धकी रात्रिको पौष कृष्णपक्षकी नवमी मानें तो उससे तेरह दिन घटानेपर मार्गशीर्ष शुक्ला ११ ही ठहरती है ।

यदि यह मानें कि प्राचीन कालकी गणनामें शुक्लपक्ष पहले गिना जाता था, कृष्णपक्ष बादमें—इस न्यायसे मार्गशीर्ष कृष्ण नवमीकी रात्रिमें युद्ध हुआ तो इसमें कोई विरोध नहीं है । उस

कालसे भी १३ दिन घटानेपर तिथि मार्गशीर्ष शुक्ला ११ ही ठहरती है ।

इसके सिवा एकादशीका दिन पर्वकाल है और मार्गशीर्षका महीना सबसे उत्तम माना गया है, जिसके लिये स्वयं भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्' (१० । ३५) । इन सब प्रमाणोंके आधारपर ही अनेक पण्डितोंने यह निर्णय किया है कि मार्गशीर्ष शुक्ला ११ को ही युद्ध आरम्भ हुआ था और उसी दिन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति गीतोपदेश दिया था ।*

संसारमें अध्यात्मविषयक ग्रन्थ गीताके समान और कोई नहीं है । गीतापर जितनी टीकाएँ, भाष्य और अनुवाद नाना प्रकारकी भाषाओं और लिपियोंमें मिलते हैं, उतने दूसरे किसी धार्मिक ग्रन्थपर नहीं मिलते । गीताप्रेस, गोरखपुरमें ही संस्कृत, हिंदी, गुजराती, बँगला, मराठी, उर्दू, अरबी, फारसी, गुरुमुखी, अंग्रेजी, फ्रांसीसी आदि अनेक भाषाओं और लिपियोंमें मूल तथा भाषाटीका मिलाकर ९०० से अधिक गीताओंका संग्रह है ।

गीताकी महिमा जो पद्मपुराणमें मिलती है, उसे देखनेपर मालूम होता है कि गीताके सदृश महिमा दूसरे किसी ग्रन्थकी नहीं । गीताकी महिमा महाभारतमें स्वयं वेदव्यासजीने भी कही है—

* 'गीता-धर्म-मण्डल' पूनाने तथा प्रसिद्ध विद्वान् श्रीकरंदीकर महोदयने बहुत-से प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया है कि गीताका उपदेश मार्गशीर्ष शुक्ला ११ को ही हुआ था । प्रसिद्ध ज्योतिषी पं० इन्द्रनारायणजी द्विवेदीका भी यही मत है ।

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता ॥

(भीष्मपर्व ४३ । १)

'गीताका ही अच्छी प्रकारसे गान—श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण करना चाहिये; अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुखकमलसे निकली हुई है ।'

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः ।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः ॥

(भीष्मपर्व ४३ । २)

'जैसे मनुजी सर्ववेदमय हैं, गङ्गा सकल तीर्थमयी है और श्रीहरि सर्वदेवमय हैं, इसी प्रकार गीता सर्वशास्त्रमयी है ।'

भारतामृतसर्वस्वगीताया मथितस्य च ।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम् ॥

(भीष्मपर्व ४३ । ५)

'महाभारतरूपी अमृतके सर्वस्व गीताको मथकर और उसमेंसे सार निकालकर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके मुखमें उसका हवन किया है ।'

गीता सारे उपनिषदोंका सार है । शास्त्रमें बतलाया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

'सम्पूर्ण उपनिषद् गायें हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण उनको दुहनेवाले (ग्वाला) हैं, अर्जुन बछड़ा हैं और गीताप्रेमी सात्त्विक

बुद्धियुक्त भगवत्-जन उनसे निकले हुए महान् गीतामृतरूपी दूधका पान करनेवाले हैं ।'

सम्पूर्ण शास्त्रोंमें गीताको सर्वोपरि माना गया है । कहा है—

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत-
मेको देवो देवकीपुत्र एव ।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥

'श्रीदेवकीनन्दन श्रीकृष्णका कहा हुआ गीताग्रन्थ ही एक सर्वोपरि शास्त्र है, श्रीकृष्ण ही एकमात्र सर्वोपरि देव हैं, उनके जो नाम हैं, वे ही सर्वोपरि मन्त्र हैं और उन परमदेवकी सेवा ही एकमात्र सर्वोपरि कर्म है ।'

गीता गङ्गासे भी बढ़कर है । गङ्गामें स्नान करनेका तो अधिक-से-अधिक फल स्नान करनेवालेकी मुक्ति बताया गया है; अतः गङ्गामें स्नान करनेवाला तो स्वयं ही मुक्त हो सकता है, वह दूसरोंको मुक्त नहीं कर सकता । किंतु गीतारूपी गङ्गामें स्नान करनेवाला तो स्वयं मुक्त होता है और दूसरोंको भी मुक्त कर सकता है ।

गीताकी भाषा भी मधुर, सरल, अर्थ और भावयुक्त है । अतएव सभी माता-बहिनों और भाइयोंको प्रतिदिन कम-से-कम एक अध्यायका पाठ तो अर्थ और भाव समझते हुए अवश्य करना ही चाहिये ।



प्राचीन सिद्धान्तको माननेमें परम लाभ और न माननेमें हानि

वर्तमान युगमें पाश्चात्त्य सिद्धान्तोंको सुन-पढ़कर बहुत-से मनुष्योंके हृदयमें यह बात बैठ गयी है कि जड पदार्थोंसे अर्थात् पाँच भूतोंसे चेतन जीवात्माकी उत्पत्ति होती है, किंतु यह मान्यता शास्त्रविपरीत तो है ही, युक्तिसे भी विपरीत है। यदि ऐसी ही बात होती तो जो मनुष्य मर जाता है, उसका पाञ्चभौतिक शरीर तो यहाँ विद्यमान है ही, उसमें जिस भूतकी कमी हो, उसकी पूर्ति करके उसमें नये जीवात्माको क्यों नहीं तैयार कर लेते? जो बालक तथा जवान मनुष्य मर जाता है, उसके तो प्रायः सभी अवयव अच्छी हालतमें ही विद्यमान रहते हैं; अतः उसमें तो

जीवात्माको तैयार कर लेना बहुत ही सीधा काम होना चाहिये, किंतु ऐसा होता नहीं। इसलिये उनका कथन बिल्कुल असङ्गत और गलत है।

दूसरी बात इसमें यह विचारणीय है कि जीवात्मा तो इस शरीरसे निकलकर चला जाता है और शरीर यहाँ ही पड़ा रहता है, यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। इसलिये जीवात्मा और पाञ्चभौतिक शरीर भिन्न-भिन्न है।

तीसरी बात यह विचारणीय है कि जन्मसे ही कोई मनुष्य तो दुःख पाता है और कोई सुख; तो यह भेद क्यों? उन्होंने इस जन्ममें तो अभीतक कोई पाप या पुण्य किया ही नहीं, फिर उनको दुःख-सुख क्यों? अतः मानना पड़ेगा कि पूर्वमें किये हुए बुरे कर्मका फल दुःख और अच्छे कर्मका फल सुख होता है।

संसारमें दो पदार्थ प्रत्यक्ष हैं—(१) जड और (२) चेतन। जो जानने-समझने और देखनेमें आता है, वह जड है और जो जानने-समझने और देखनेवाला है, वह चेतन है; वह उस जाननेमें आनेवाले पदार्थसे भिन्न है। जड पदार्थको तो सुख-दुःख होता नहीं, प्रत्युत जडके सम्बन्धसे चेतन जीवात्माको ही सुख-दुःख होता है। यह बात स्पष्ट ही देखी जाती है। सभी जड पदार्थ बदलते रहते हैं। कालके सम्बन्धसे शरीर भी आयु, माप और वजनमें घटता-बढ़ता रहता है। इसलिये वह क्षणभङ्गुर और परिवर्तनशील कहा गया है; किंतु जीवात्मा कभी देश-कालके सम्बन्धसे घटता-बढ़ता नहीं है। देखा जाता है कि जिस मनुष्यका

आत्मा जो बीस वर्षके पूर्व था, वही आज है; किंतु बीस वर्षके पूर्व उस मनुष्यका जो शरीर था, वह आज ठीक उसी रूपमें नहीं, उसका वजन, माप, अवस्था तथा शरीरके अन्य सब परमाणु भी बदल गये; पर आत्मा तो वही है, जो पहले था।

हमारे शास्त्रोंमें तो यह स्पष्ट लिखा ही है कि जीवात्मा जो पहले था, वही अब है और वही बादमें भी रहेगा। गीतामें भगवान् कहते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥

(२। १२)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।'

जिस तरह शरीरकी अवस्था बदलती है, वैसे ही एक शरीरके बाद दूसरा शरीर बदल जाता है, पर जीवात्मा वही रहता है। भगवान्‌ने कहा है—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(गीता २। १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।'

क्योंकि देहके नाश होनेपर जीवात्माका नाश नहीं होता—

'न हन्यते हन्यमाने शरीरे।' (गीता २ । २०)

तथा—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(गीता २ । २२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।'

अतः शास्त्रसे तो उपर्युक्त बात सिद्ध ही है। इसके सिवा, इसमें युक्ति भी बहुत बलवान् है। थोड़ी देरके लिये मान लीजिये, आप तो यह मानते हैं कि शरीरका नाश होनेपर आत्माका नाश हो जायगा और हम मानते हैं कि ऐसा नहीं होगा, तो विचारिये, यदि आपकी ही बात सिद्ध हो गयी तो देहान्त होनेपर आपके लिये भी परलोक नहीं है और हमारे लिये भी नहीं है। इस पक्षमें तो दोनोंके लिये एक-समान बात है। अतः आपके पक्षसे भी हमारी कोई हानि नहीं। पर यदि हमारा पक्ष ही ठीक निकला कि शरीरके मरनेपर भी जीवात्मा रहता है तो हम तो परलोकमें अपने आत्माको सुख-शान्ति मिले ऐसी चेष्टा करेंगे, जिससे हमें तो परलोकमें वह लाभ प्राप्त हो सकता है। परंतु जो ऐसा नहीं मानेगा, वह परलोकके लिये प्रयत्न ही क्यों करेगा और प्रयत्न किये बिना उसे वह लाभ

मिलेगा भी कैसे ? अतः इस सिद्धान्तके अनुसार भी हमीं लाभमें रहेंगे और वह लाभसे वञ्चित रहेगा तथा वर्तमानमें भी वह यदि समाजमें नास्तिक समझा जाने लगेगा तो लोग उससे घृणा करेंगे और परलोकको माननेवाला मनमें परलोकका भय बना रहनेसे पाप भी नहीं करेगा, उसकी संसारमें इज्जत भी रहेगी; अतः उसको इस जीवनकालमें भी लाभ-ही-लाभ है।

उपर्युक्त मनुष्योंकी यह धारणा भी है कि जो भी पुरानी वस्तुएँ हैं—जैसे पुराने शास्त्र, प्राचीन धर्म, पुरानी रीति-रिवाज आदि—इन सबको नष्ट करके नित्य नयी वस्तुको लेना चाहिये, नया आविष्कार करना चाहिये; किंतु इस विषयमें गम्भीरतासे विचार करना चाहिये। एक प्रकारसे तो पदार्थमात्र ही परिणामी होनेके कारण बदलकर नित्य नया होता ही रहता है; और दूसरे प्रकारसे विचारकर देखनेपर यह प्रतीत होता है कि कोई मनुष्य पुरानी सभी वस्तुओंको काममें न लाकर सदा नयी ही वस्तुको काममें लाये, यह असम्भव है। जैसे हमलोग दाल, भात, रोटी, साग खाते हैं, तो उक्त मान्यताके अनुसार तो एक बार जिस पदार्थको खा लिया उसे फिर दुबारा नहीं खाना चाहिये। इस प्रकार तो नित्य एक नयी वस्तु खाते-खाते सब वस्तुएँ एक दिन पुरानी हो जायँगी और फिर नयी वस्तु कोई मिलेगी ही नहीं। इसी प्रकार दूसरे-दूसरे विषयोंके सम्बन्धमें भी यही बात है। आज एक स्त्रीसे सम्भोग किया, कल दूसरीसे; क्योंकि वह तो पुरानी हो गयी। आज एक कमरेमें वास किया, कल दूसरेमें। इस प्रकार तो कोई सदा कर ही नहीं सकता।

यदि कुछ कालके लिये कर भी ले तो विचार करनेपर वह पशु-जीवनसे भी गया-बीता जीवन ही सिद्ध होगा।

रही सिद्धान्तकी बात, सो सिद्धान्त तो ऋषि-मुनियोंका देखना चाहिये। वे त्रिकालज्ञ थे—उन्हें तीनों कालोंका ज्ञान था। उनमें योग और ज्ञानकी शक्ति तथा बल-बुद्धि थी। अथर्ववेद, नारदपुराण, योगदर्शन, महाभारत आदि हमारे शास्त्रोंमें कलाकौशलकी जो अलौकिक बातें आती हैं, वे वर्तमान युगमें किसी भी मनुष्यमें देखनेमें नहीं आतीं। उनको कोई भी मनुष्य नहीं दिखा सकता। पूर्व कालमें मनुष्योंमें तप, योग और मन्त्रोंकी अलौकिक शक्तियाँ और सिद्धियाँ प्रत्यक्ष थीं, उनके लिये शास्त्र प्रमाण हैं। ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र, नारायणास्त्र, ऐन्द्रास्त्र, वारुणास्त्र आदि अस्त्रोंकी जो शक्तियाँ शास्त्रोंमें बतलायी गयी हैं, वैसी शक्तियाँ आजके एटमबम, अणुबम आदि किसी भी अस्त्र-शस्त्रकी नहीं हैं। कुबेरके पुष्पकविमान, कर्दम मुनिके विमान, राजा शाल्वके सौभविमान और राजा उपरिचर वसुके विमान-की ओर ध्यान दीजिये। कितने विचित्र थे वे। इसी प्रकार अनेक विचित्र विमानोंका वर्णन शास्त्रोंमें पाया जाता है। ऐसे वायुयान वर्तमानमें कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होते। सिद्धियाँ भी जैसी उस समय कपिल, भरद्वाज आदि मुनियोंमें थीं, वैसी आज नहीं देखनेमें आतीं। श्रीहनुमान्‌जीमें भी कैसी विचित्र सिद्धियाँ थीं, वे इच्छानुसार छोटा और बड़ा रूप धारण कर लेते थे।

श्रीवेदव्यासजीमें कैसी अलौकिक शक्ति थी कि उन्होंने मरी हुई अठारह अक्षौहिणी सेनाको बहुत वर्षोंके बाद भी बुलाकर दिखा दिया तथा संजयको दिव्य दृष्टि प्रदान कर दी।

इन सब प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि प्राचीन कालके ऋषि-मुनियोंका कला-कौशल और ज्ञान आजकी अपेक्षा बहुत ही बढ़ा-चढ़ा था। दर्शन-शास्त्रोंके रचयिता ऋषि-मुनियोंकी बुद्धिकी प्रखरता उनके ग्रन्थोंका अध्ययन करनेसे स्पष्ट प्रतीत होती है।

महर्षि पतञ्जलिने शरीरकी शुद्धिके लिये चरककी, आत्माकी शुद्धिके लिये योगदर्शनकी और वाणीकी शुद्धिके लिये अष्टाध्यायीपर महाभाष्यकी रचना की। उनके-जैसा विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ आज कोई भी नहीं रच सकता। उन ऋषि-मुनियोंमें तप, योगबल और मन्त्रकी अद्भुत सामर्थ्य थी।

श्रीच्यवन ऋषिने अपने तपसे राजा शर्यातिकी सेनाके मल-मूत्र बंद कर दिये और मन्त्रके बलसे देवराज इन्द्रके हाथको भी स्तम्भित कर दिया तथा कृत्याको पैदा करके इन्द्रको परास्त कर दिया। उनके पास सेना या एटमबम आदि कुछ नहीं था; किंतु उनमें तप और मन्त्रोंकी अलौकिक शक्ति थी।

इस प्रकार शास्त्रोंमें ज्ञान-विज्ञान, कलाकौशल, सिद्धि-शक्ति, अस्त्र-शस्त्र आदिकी अनेक अलौकिक बातें पायी जाती हैं; किंतु जो शास्त्रोंको पढ़ते नहीं, उनपर विश्वास करते नहीं, उनका तो उपाय ही क्या ?

वर्तमानमें जो रेडियो, बेतारका तार, टेलिफोन, टेलिप्रिंटर, टेलिविजन या बड़े-बड़े हवाई जहाज, अणुबम, एटमबम आदिके आविष्कार हुए हैं, यदि कुछ दिनों बाद ये नहीं रहें तो भविष्यमें इनको भी लोग मिथ्या कह सकते हैं। इसी तरह प्राचीन कालके

ऋषियोंने जो बातें शास्त्रोंमें लिखी हैं, उनको पुरानी मानकर उनकी अवहेलना कर दें तो यह हमलोगोंके लिये बहुत ही हानिकर है। भगवान्‌की नीति, धर्म, कानून, मुक्तिके उपाय और जीवात्मा—ये परिवर्तनशील वस्तुएँ नहीं हैं। ये कभी पुरानी होती ही नहीं, सदा नवीन ही रहती हैं। इसलिये इनको पुरानी समझकर इनकी अवहेलना करना और नये-नये मत-मतान्तरकी स्थापना करना बहुत भारी गलती है।

कितने ही मनुष्य यह मानते हैं कि 'खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ, इसके सिवा और कुछ भी नहीं। सांसारिक विषयभोगोंको भोगना ही सुख है और सांसारिक सुख न मिले तो यह जीवन ही व्यर्थ है।' पर गम्भीरतासे विचार करना चाहिये कि हमें इन्द्रियों और विषयोंके सङ्गसे जो सुख प्रतीत होता है, क्या वही वास्तवमें सुख है ? यदि वास्तवमें वही सुख होता तो सदा विद्यमान रहता। पर रहे कैसे ? यह तो दुःख ही है और उस दुःखमें ही सुख-बुद्धि कर रखी है। जैसे फतिंगे दीपकशिखामें सुखबुद्धि करके उसके निकट जाते हैं और फिर जलकर नष्ट हो जाते हैं, यही दशा विषयभोगोंको भोगनेमें है। कोई पुरुष स्त्रीसे सहवास करता है तो उसे एक बार क्षणिक सुख प्रतीत होता है; पर परिणाममें उसके बल, बुद्धि, वीर्य, तेज, शरीर, आयु और इज्जतकी तथा परलोक आदिकी हानि होती है।

वास्तवमें सुख तो है कामनाओंके त्यागमें, ईश्वरके चिन्तनमें, संकल्परहित अवस्थामें और समतामें। जो मनुष्य किसी भी वस्तुकी कामना नहीं रखता, वही सुखी है तथा जो मनुष्य सम्पूर्ण संकल्पोंका

त्याग करके केवल सच्चिदानन्दघन परमात्माका ही ध्यान करे तो उसे प्रत्यक्ष विशेष आनन्द और शान्ति प्राप्त हो सकती है। यदि परमात्मामें विश्वास न हो तो भी एक क्षण भी यदि सम्पूर्ण संकल्पोंसे रहित होकर बैठे तो प्रत्यक्ष शान्ति मिलती है। जो सम्पूर्ण संकल्पोंसे रहित पुरुष है, वह सुखी है।

जो विषयोंकी कामना करता रहता है, उसे ही दुःख होता रहता है; क्योंकि सभी कामनाओंकी तो पूर्ति होती नहीं और पूर्ति न होनेपर दुःख होता ही है। अनुकूलतामें सुखकी और प्रतिकूलतामें दुःखकी प्रतीति ही राग-द्वेषकी उत्पत्तिमें हेतु है तथा वह राग-द्वेष ही समस्त अवगुणों और अनर्थोंमें कारण है; किंतु जो मनुष्य अनुकूलता और प्रतिकूलतामें सम रहता है, उसे प्रत्यक्ष शान्ति मिलती है; क्योंकि समता ही अमृत है, यही सब साधनोंका फल है और परमात्माका स्वरूप है। इसके बिना किसीको शान्ति नहीं मिल सकती और इसका सभी सिद्धान्तवालोंने आदर किया है। इसे कोई भी करके देख सकता है।

कितने ही मनुष्य तो अनुकूल परिस्थिति न मिलने या प्रतिकूल परिस्थितिके प्राप्त होनेपर इतने घबरा जाते हैं कि इस जीवनको ही व्यर्थ समझने लगते हैं और जान-बूझकर जीवनको नष्ट करनेपर उतारू हो जाते हैं; किंतु यह बड़ी भारी मूर्खता है। मनुष्यको आत्महत्या करना—अपने शरीरसे प्राणोंका वियोग करना किसी भी हालतमें किसी भी सिद्धान्त या युक्तिसे लाभप्रद नहीं है, बल्कि उसमें सब प्रकारसे हानि-ही-हानि है। मनुष्यको इस जीवनमें चाहे

कितना ही भारी दुःख हो पर उससे ज्यादा दुःख आत्महत्या करनेके समय उसे होता है, चाहे वह विष खाकर मरे, चाहे जलमें डूबकर मरे, चाहे अग्निमें प्रवेश करे और आस्तिकवादकी दृष्टिसे तो उस आत्महत्यारेको वर्तमानसे भी बहुत अधिक दुःख मरनेपर होता है—उसे घोर नरकमें जाना पड़ता है। शुक्लयजुर्वेदमें चालीसवें अध्यायके तीसरे मन्त्रमें बतलाया है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

'असुरोंके जो प्रसिद्ध नाना प्रकारकी योनियाँ एवं नरकरूप लोक हैं, वे सभी अज्ञान तथा दुःख-क्लेशरूप महान् अन्धकारसे आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्माकी हत्या करनेवाले मनुष्य हों, वे मरकर उन्हीं भयंकर लोकोंको बार-बार प्राप्त होते हैं।'

आजकल कितने ही मनुष्य घरके बालकों, पुरुषों और स्त्रियों-को सर्वथा स्वतन्त्रता दे देते हैं। उसमें उन बालकों, पुरुषों या स्त्रियोंको भी सुख नहीं होता और न स्वतन्त्रता देनेवालेको ही सुख होता है; क्योंकि स्त्रियाँ—स्वतन्त्रतामें पड़कर व्यभिचारिणी हो जाती हैं। बुद्धि और विवेककी कमीके कारण वे अपना धन भी खो बैठती हैं और आजीवन दुःख पाती हैं। इस प्रकार पाखंडी धूर्तोंके पंजेमें पड़कर अपना पतन कर बैठती हैं। बालक भी स्वच्छन्द होकर उद्दण्ड हो जाते हैं। इससे वे सब नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। देखनेमें भी ऐसा आता है। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि अपने घरके बालकों और स्त्रियोंको

ऐसी स्वतन्त्रता न दे, जिससे वे स्वच्छन्द होकर अपना सर्वनाश कर लें, प्रत्युत उनके हितके लिये उनको अपने शुद्ध आचरणों और प्रेमपूर्वक यथायोग्य शासनके द्वारा न्यायोचित शिक्षा दे।

आजकल पुरुषों और स्त्रियोंमें जो मनोरञ्जनके लिये चौपड़-ताश आदि खेलनेकी प्रवृत्ति हो रही है, यह बहुत ही बुरी है। इसमें मनुष्यका समय व्यर्थ बरबाद होता है। न इसमें स्वार्थकी सिद्धि है और न परमार्थकी। इसलिये बुद्धिमान् स्त्री-पुरुषोंको इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

साथ ही, सिनेमा-नाटक आदिकी बुरी प्रवृत्ति भी बहुत बढ़ रही है। सिनेमा-नाटक आदिमें पात्र बनने या इनको देखनेसे समय और धर्मका नाश तो होता ही है, हृदयके भाव और चित्तकी वृत्तियाँ भी बहुत खराब हो जाती हैं; अश्लील भावोंकी जागृति होनेसे चरित्र भ्रष्ट हो जाता है, जिससे मनुष्यका यह लोक और परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिये इनसे बचकर रहना चाहिये।

इसी प्रकार स्त्री या पुरुषोंका निकम्मा रहना भी बहुत ही हानिकर है। आजकल यह दोष भी बहुत बढ़ रहा है; किंतु विचार करना चाहिये। जो स्त्री या पुरुष निकम्मे रहते हैं, उनका समय निद्रा, आलस्य, प्रमाद, भोग या पापमें बीतता है, इससे आदत खराब पड़ जाती है और स्वभाव खराब हो जाता है। अतः सभी स्त्री-पुरुषोंको सदा संसारके हितकी चेष्टा करने या अपने न्याययुक्त शरीर-निर्वाहकी चेष्टा करनेमें लगे रहना चाहिये। शिल्पकार्य, गृहकार्य, पठन-पाठन, व्यापार, लेखन आदि कोई-न-कोई कर्म करते

रहना चाहिये, निकम्मा कभी नहीं रहना चाहिये। अपने ऊपर आवश्यकतासे अधिक कामकी जिम्मेवारी रखनी चाहिये, जिससे बेकार रहनेके कारण पतन न हो।

वर्तमानकी शिक्षा-प्रणालीका भी परिणाम बहुत बुरा हो रहा है। इससे स्त्रियों और बालकोंमें निर्लज्जता, उद्दण्डता, अभिमान, अहंकार, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि अवगुणोंकी वृद्धि होकर वे अपने बड़े-बूढ़ोंका भी तिरस्कार करने लगे हैं और स्वयं भी नष्ट-भ्रष्ट हो रहे हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आ रही है।

इसलिये शास्त्रोंमें जितना स्वतन्त्रताका अधिकार दिया गया है, जो कर्तव्य बताया गया है, उसीका पालन करना उचित है। अपने अधिकारके अभिमानका त्याग करना, दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करना और अपना जो कर्तव्य है उससे कभी च्युत नहीं होना चाहिये। एवं समता, शान्ति, संतोष, सरलता, उदारता, दया और स्वार्थ-त्याग आदि गुणोंका आदर करना चाहिये तथा ईश्वरकी कृपासे हमें जो कुछ ऐश्वर्य, शक्ति, सामर्थ्य या विवेक प्राप्त हुआ है, उसके अनुसार सबके साथ उत्तमोत्तम व्यवहार करना चाहिये। इससे मनुष्यका प्रत्यक्ष सुधार होकर उद्धार हो सकता है।

हमें अपने जीवनकी गति-विधिका निरीक्षण करते हुए सोचना चाहिये कि हम किस ओर जा रहे हैं और हमारा कर्तव्य क्या है? विवेक-विचारपूर्वक गम्भीरतासे सोचनेपर यही बात निश्चित होती है कि जो अपना और सब लोगोंका इस लोक और परलोकमें कल्याण

करनेवाला है, वही कर्तव्य है। उसीको शास्त्रकारोंने धर्म कहा है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(वैशेषिकदर्शन सूत्र २)

'जिसके आचरणसे इस लोकमें उन्नति और परलोकमें कल्याण हो वही धर्म है।'

जो इस लोकमें तो हितकर हो, पर परलोकमें हितकर न हो तो उसका नाम धर्म नहीं है। जो इस लोक और परलोक—दोनोंमें हितकर है, वही धर्म है। मनुष्यके कर्तव्यका नाम धर्म है और जो अकर्तव्य है वही अधर्म है। अतः अकर्तव्यके त्याग और कर्तव्यके पालनसे ही मनुष्यको सुख-शान्ति मिलते हैं। जो कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह मनुष्यत्वसे गिर जाता है। धर्मकी आवश्यकता इसीलिये है कि वह इस लोक और परलोकमें भी सुखकर है। कर्तव्यका त्याग करके मन, वाणी और शरीरकी जो व्यर्थ चेष्टा है, यह प्रमाद है। वह इस लोक और परलोकमें हानिकर है, अतः वह त्याज्य है और इसके विपरीत मन, वाणी, शरीरकी जो चेष्टा अपने या संसारके लिये हितकर है, वही कर्तव्य है, उसे मनुष्यको अवश्यमेव करना चाहिये।

इस प्रकार करनेसे ऊपर बताये हुए दोषोंका अपने-आप ही निराकरण हो जाता है। ये दोष उसके पास भी नहीं आ सकते। अतएव सभी स्त्री-पुरुषोंको अपने कर्तव्यका विचार करके उसको करनेमें तत्परतासे लगे रहना चाहिये।



तीर्थोंकी महिमा, प्रयोजन और उत्पत्ति तथा तीर्थ-यात्राके पालनीय नियम

सर्वप्रथम 'तीर्थ' शब्दका अभिप्राय समझना चाहिये। 'तीर्थ' शब्दका आधुनिक ढंगसे निर्वचन किया जाय तो 'ती' शब्दसे 'तीन' और 'र्थ' से 'अर्थ'—प्रयोजन लेना चाहिये। इस प्रकार जिससे तीन अर्थोंकी सिद्धि अर्थात् तीन पदार्थोंकी प्राप्ति हो, उसे 'तीर्थ' कहते हैं। पदार्थका तात्पर्य है—प्रयोजन और अर्थ। संसारमें चार पदार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चारोंमेंसे अर्थ (धन) तो तीर्थ-यात्रा करनेमें खर्च ही होता है, अतः उसकी सिद्धि वहाँ प्रायः सम्भव नहीं है। धर्म, काम और मोक्ष—इन

तीनोंकी सिद्धि तीर्थ-यात्रासे होती है। (१) सात्त्विक पुरुष तो मोक्षके लिये ही तीर्थ-यात्रा करते हैं। (२) धर्म-संग्रहके लिये सात्त्विक और राजसी—दोनों प्रकारके ही मनुष्य तीर्थ-यात्रा करते हैं। (३) केवल इहलौकिक और पारलौकिक कामनाओंकी सिद्धिके लिये ही राजसी मनुष्य तीर्थ-यात्रा करते हैं। इनमें धर्म-संग्रहके लिये निष्कामभावसे तीर्थयात्रा करनेवाले मनुष्य सात्त्विक हैं और सकामभावसे यात्रा करनेवाले राजसी हैं; क्योंकि निष्कामभावसे की हुई तीर्थ-यात्राका फल मुक्ति है और सकामभावसे की हुई तीर्थ-यात्राका फल इस लोकके मान-प्रतिष्ठा, स्त्री-पुत्र, धन आदि और परलोकके स्वर्ग आदि भोगोंकी प्राप्ति है। तीर्थोंमें धर्म, काम और मोक्ष—इन तीनों पदार्थोंकी सिद्धि होती है और वे मनुष्यको पापोंसे मुक्त करनेवाले हैं, इसीसे उन्हें 'तीर्थ' कहा जाता है।

संसारमें जितने भी तीर्थ हैं, वे प्राय: सभी श्रीभगवान् और उनके भक्तोंके सङ्गसे ही तीर्थ बने हैं। उनकी तीर्थ-संज्ञा ईश्वरके महापुरुषोंके या पतिव्रता स्त्रियोंके प्रभावसे ही हुई है। पतिव्रताएँ भी एक प्रकारसे महात्मा ही हैं।

श्रीभागीरथी गङ्गा एक महान् तीर्थ है। श्रीमद्भागवतके नवम स्कन्धके नवें अध्यायमें बतलाया है कि महाराज भगीरथने अपने पितरोंके उद्धारके लिये इस मर्त्यलोकमें गङ्गाको लानेके उद्देश्यसे बड़ी भारी तपस्या की, जिससे प्रसन्न होकर गङ्गाने उनको प्रत्यक्ष दर्शन दिया और कहा—'जिस समय मैं स्वर्गसे पृथ्वीतलपर गिरूँ, उस समय कोई मेरे वेगको धारण करनेवाला होना चाहिये।' इसपर राजा

भगीरथने तपस्याके द्वारा भगवान् शङ्करको प्रसन्न किया, जिससे श्रीशङ्करने गङ्गाको अपनी जटामें ही धारण कर लिया। फिर राजा भगीरथकी प्रार्थनापर श्रीशिवकी कृपासे उनकी जटासे निकलकर गङ्गा पृथ्वीपर प्रवाहित हुईं। उन परमपावनी गङ्गाके स्पर्शमात्रसे राजा भगीरथके पितर—सगरपुत्र स्वर्गको चले गये। इसलिये उस स्थानका नाम 'गङ्गासागर तीर्थ' हुआ। भगवान् शिव और राजा भगीरथके प्रभावसे पाप-मुक्त करनेके कारण ही गङ्गा एक प्रधान तीर्थ मानी जाती हैं।

श्रीमहाभारतमें कहा गया है—

पुनाति कीर्तिता पापं दृष्टा भद्रं प्रयच्छति।
अवगाढा च पीता च पुनात्यासप्तमं कुलम्॥

(वन० ८५।९३)

'गङ्गा अपना नाम उच्चारण करनेवालेके पापोंका नाश करती हैं, दर्शन करनेवालेका कल्याण करती हैं और स्नान-पान करनेवालेकी सात पीढ़ियोंतकको पवित्र करती हैं।'

इसी प्रकार काशी-क्षेत्र भी भगवान् शिवके प्रतापसे 'तीर्थ' हुआ है। स्कन्दपुराणके काशी-खण्डमें कहा गया है कि वहाँ साक्षात् महेश्वर सदा निवास करते हैं। जो मनुष्य वहाँ मरता है, उसे प्राण-त्यागके समय भगवान् शङ्कर साक्षात् उपस्थित हो तारक-मन्त्र-का उपदेश देते हैं, जिससे वह शिवस्वरूप हो जाता है। भगवान् शिवने स्वयं ही वहाँ यह कहा है कि 'यह पाँच कोसका लंबा-चौड़ा क्षेत्र काशीधाम मुझे बहुत प्रिय है। काशीमें केवल मेरा ही

शासन चलता है, दूसरेका नहीं ।' सप्तपुरियोंमें काशीका प्रमुख स्थान है ।

कुरुक्षेत्रमें अग्नि, इन्द्र, ब्रह्मा आदि देवताओं और ऋषियोंने यज्ञ और तप किया था तथा राजा कुरुने भी वहाँ बड़ी भारी तपस्या की थी; अतः वह 'कुरुक्षेत्र' तीर्थके नामसे प्रसिद्ध हुआ ।

मथुरा-तीर्थ भगवान् श्रीकृष्णके अवतारके प्रभावसे विशेषताको प्राप्त हुआ है । इसी मथुराका नाम सत्ययुगमें 'मधुवन' था । जब भक्त ध्रुव माता सुनीतिके वचनोंसे अपना लक्ष्य स्थिर कर नगरसे बाहर चले गये, तब उनको श्रीनारदजीने उपदेश दिया और अन्तमें कहा—

तत् तात गच्छ भद्रं ते यमुनायास्तटं शुचि ।
पुण्यं मधुवनं यत्र सांनिध्यं नित्यदा हरेः ॥

(श्रीमद्भा० ४ । ८ । ४२)

'तात ! तेरा कल्याण हो, अब तू श्रीयमुनाके तटवर्ती परम पवित्र मधुवनको जा । वहाँ श्रीहरिका नित्य-निवास है ।'

भक्त ध्रुवने वहाँ जाकर तपस्या की और भगवान्का साक्षात् दर्शन किया, जिसके प्रभावसे मधुवनकी तीर्थसंज्ञा हुई । वही मधुवन आज मथुरापुरीके नामसे प्रसिद्ध है । तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णके अवतार लेकर लीला करनेके कारण मथुरा, वृन्दावन, गोकुल, गोवर्धन, बरसाना, नन्दगाँव आदि व्रजके सभी स्थानोंकी विशेषरूपसे तीर्थसंज्ञा हो गयी ।

भगवान् श्रीकृष्णके प्रभावसे ही द्वारकापुरीकी तीर्थसंज्ञा हुई,

जो चार धामोंमेंसे एक धाम है; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णने ही समुद्रके मध्यमें द्वारकाको बसाया था।

श्रीबदरिकाश्रममें भगवान्‌ने नर-नारायण ऋषिके रूपमें तपस्या की, इसीसे उसकी विशेषरूपसे तीर्थसंज्ञा हुई और वह चार धामोंमें गिना जाने लगा। शिव-पार्वतीका निवास-स्थान होनेके कारण हिमाचल, जिसे कैलासपर्वत भी कहते हैं, तीर्थ माना गया है। वह आजकल गौरीशंकरशिखरके नामसे प्रसिद्ध है।

श्रीस्कन्दपुराणके वैष्णवखण्डमें बतलाया गया है कि भगवान्‌के परम भक्त राजा इन्द्रद्युम्नके अश्वमेधयज्ञकी समाप्तिपर वहाँ पुरुषोत्तम-क्षेत्रमें भगवान् स्वयं चार काष्ठमयी मूर्तियोंमें प्रकट हुए। राजाने आकाशवाणीके अनुसार भगवान् जगन्नाथजी, बलभद्र, सुभद्रा और सुदर्शनचक्रकी उन प्रतिमाओंकी विधिवत् वहाँ स्थापना की और उनका पूजन किया। इसीसे वह क्षेत्र 'जगन्नाथपुरी'के नामसे प्रसिद्ध हुआ, जो चार धामोंमेंसे एक है।

स्वयं भगवान् श्रीरामके अवतार लेकर लीला करनेके कारण अयोध्यापुरीको परमधामप्रद और सरयूको मुक्तिदायक तीर्थ कहा गया है।

श्रीरामचरितमानसमें स्वयं भगवान् श्रीरामके वचन हैं—

पुनि देखु अवधपुरी अति पावनि। त्रिबिध ताप भव रोग नसावनि॥
(लङ्का० ११९। ५)

तथा—

जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जगु जाना॥
अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ॥

जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि बह सरजू पावनि ॥
जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा ॥
अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी। मम धामदा पुरी सुख रासी ॥
(उत्तर० ३। २-४)

भगवान् श्रीरामने लक्ष्मण और सीताके सहित वनवासके समय चित्रकूटमें निवास किया, इससे मन्दाकिनी और चित्रकूटको विशेषरूपसे तीर्थ माना जाता है। श्रीभरत भगवान् श्रीरामको राजतिलक करनेके लिये अपने साथ सब तीर्थोंका जल चित्रकूटमें ले गये थे। उन्होंने जिस कूपमें वह सब तीर्थोंका जल रखा, उस कूपकी भरतके प्रतापसे भरत-कूपके नामसे प्रसिद्धि है और इसीसे उसे तीर्थ माना गया है। इसी तरह श्रीराम, लक्ष्मण और सीता जिस शिलापर बैठा करते थे, उसे 'स्फटिक-शिला-तीर्थ' कहा जाता है।

श्रीअत्रि ऋषिकी तपस्या और अनसूयाके पातिव्रत्यके प्रभावसे 'अनसूया' नामक तीर्थ हुआ। श्रीशरभङ्ग ऋषिकी तपश्चर्याके प्रभावसे 'शरभङ्ग' नामक तीर्थ प्रसिद्ध हुआ। श्रीसुतीक्ष्णमुनिकी भक्ति और तपके प्रभावसे 'सुतीक्ष्णतीर्थ' प्रसिद्ध हुआ। इसी प्रकार 'अगस्त्याश्रमतीर्थ' अगस्त्यमुनिके तपके प्रभावसे हुआ। उस आश्रमके प्रभावका वर्णन करते हुए वाल्मीकीय रामायणमें स्वयं भगवान् श्रीराम अपने प्रिय भ्राता लक्ष्मणसे कहते हैं—

यदाप्रभृति चाक्रान्ता दिगियं पुण्यकर्मणा।
तदाप्रभृति निर्वैराः प्रशान्ता रजनीचराः ॥
अयं दीर्घायुषस्तस्य लोके विश्रुतकर्मणः।
अगस्त्यस्याश्रमः श्रीमान् विनीतमृगसेवितः ॥

नात्र जीवेन्मृषावादी क्रूरो वा यदि वा शठः।
नृशंसः पापवृत्तो वा मुनिरेष तथाविधः॥
(वा० रा० अरण्य० ११। ८३, ८६, ९०)

उन पुण्यकर्मा महर्षि अगस्त्यने जबसे इस दक्षिण दिशामें पदार्पण किया है, तबसे यहाँके राक्षस शान्त हो गये हैं। उन राक्षसोंने दूसरोंसे वैर-विरोध करना छोड़ दिया है। यह आश्रम उन जगत्-प्रसिद्ध उत्तम कर्म करनेवाले अगस्त्यऋषिका ही है; क्योंकि यहाँ मृग आदि पशु विनीतभावसे निवास कर रहे हैं और यह आश्रम शोभासम्पन्न हो रहा है। अगस्त्यऋषि ऐसे प्रभावशाली महात्मा हैं कि उनके आश्रममें कोई झूठ बोलनेवाला, क्रूर, शठ, नृशंस अथवा पापाचारी मनुष्य जीवित नहीं रह सकता।'

नासिकमें गोदावरीके तटपर पञ्चवटीमें भगवान् श्रीराम, लक्ष्मण और सीताके निवास करनेके कारण उनके प्रभावसे पञ्चवटीकी तीर्थसंज्ञा हुई है।

परम भक्तिमती शबरी (भीलनी) का निवासस्थान होनेसे 'पम्पा-सरोवर'की तीर्थसंज्ञा हुई।

सुग्रीव, हनुमान्, अङ्गद, जाम्बवान् आदि भगवद्भक्तोंका वासस्थान होनेसे 'किष्किन्धा' को भी तीर्थ कहा जाता है।

सेतुबन्ध रामेश्वर, जो चारों धामोंमें एक धाम है, उसकी तीर्थसंज्ञा भगवान् श्रीरामके द्वारा वहाँ सेतु बाँधे जाने और रामेश्वर शिवलिङ्गकी स्थापना होनेके कारण हुई।

इसी प्रकार पुष्कर-तीर्थकी उत्पत्ति ब्रह्माजीके प्रभावसे हुई है।

श्रीपद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें वर्णन है कि पुष्करमें लोककर्त्ता श्रीब्रह्माजीने यज्ञके निमित्त वेदीका निर्माण किया था और वे वहाँ सदा निवास करते हैं। उन्होंने जीवोंपर कृपा करनेके लिये ही इस तीर्थको प्रकट किया है। पुष्करकी महिमा वर्णन करते हुए श्रीमहाभारतमें कहा गया है—

नृलोके देवदेवस्य तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्।
पुष्करं नाम विख्यातं महाभागः समाविशेत्॥

(वन० ८२। २०)

'मनुष्यलोकमें देवाधिदेव ब्रह्माजीका त्रिलोकविख्यात तीर्थ है, जो 'पुष्कर' नामसे प्रसिद्ध है। उसमें कोई बड़भागी मनुष्य ही प्रवेश कर पाता है।'

तस्मिंस्तीर्थे महाराज नित्यमेव पितामहः।
उवास परमप्रीतो भगवान् कमलासनः॥

(वन० ८२। २५)

'महाराज! उस तीर्थमें कमलासन भगवान् ब्रह्माजी नित्य ही बड़ी प्रसन्नताके साथ निवास करते हैं।'

पुष्करेषु महाभाग देवाः सर्षिगणाः पुरा॥
सिद्धिं समभिसम्प्राप्ताः पुण्येन महतान्विताः।

(वन० ८२। २६)

'महाभाग! पुष्करमें पहले देवता तथा ऋषिगण महान् पुण्यसे सम्पन्न हो सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं।'

यथा सुराणां सर्वेषामादिस्तु मधुसूदनः।
तथैव पुष्करं राजंस्तीर्थानामादिरुच्यते॥

(वन० ८२। ३४-३५)

'राजन् ! जैसे भगवान् मधुसूदन (विष्णु) सब देवताओंके आदि हैं, वैसे ही पुष्कर सब तीर्थोंका आदि कहा जाता है ।'

श्रीस्कन्दपुराणके आवन्त्यखण्डमें महाकालक्षेत्रका वर्णन करते हुए कहा गया है कि भगवान् शिवने उस महाकाल वनमें वास किया था, अतः उनके प्रभावसे वह तीर्थ हो गया । वहीं उन्होंने त्रिपुर नामक दानवको उत्कर्षपूर्वक जीता था, इसीसे उसका नाम 'उज्जयिनी' हो गया, जो आज उज्जैनके नामसे प्रसिद्ध है । यह सात पुरियोंमें 'अवन्ती' नामसे विख्यात पुरी है ।

श्रीगङ्गा और यमुनाका संगम होनेके कारण तथा उसके तटपर अनेक पुण्यात्मा पुरुषोंद्वारा प्राचीन कालसे बहुत-से यज्ञादि किये जानेके कारण 'प्रयाग'की तीर्थसंज्ञा हुई, यह प्रजापतिका क्षेत्र तथा तीर्थोंका राजा माना गया है । माघ मासमें यहाँ सब तीर्थ आकर वास करते हैं, इससे माघ महीनेमें वहाँ वास करनेका बहुत माहात्म्य बतलाया गया है । वन जाते समय भगवान् श्रीराम प्रयागमें श्रीभरद्वाज ऋषिके आश्रमपर होते हुए गये थे, इससे उसका माहात्म्य और भी बढ़ गया ।

श्रीदेवीभागवतमें कहा गया है कि जब ऋषिलोग कलिकालके भयसे बहुत घबराये, तब ब्रह्माजीने उन्हें एक मनोरम चक्र देकर कहा कि 'तुमलोग इस चक्रके पीछे-पीछे जाओ और जहाँ इसकी नेमि (मध्यभाग) विशीर्ण हो जाय, उसे ही अत्यन्त पवित्र स्थान समझना; वहाँ रहनेसे तुम्हें कलिका कोई भय नहीं रहेगा ।' ऋषियोंने वैसा ही किया । जहाँ जाकर वह नेमि विशीर्ण हुई,

वही स्थान 'नैमिषारण्य' तीर्थके नामसे प्रसिद्ध हुआ तथा वहाँ श्रीशौनक आदि अट्ठासी हजार ऋषियोंने एकत्र हो सूतजी (लोमहर्षण) से कथा सुनी और तपस्या की थी, इसीलिये वह और भी महिमासे युक्त होकर एक प्रसिद्ध तीर्थ माना जाता है।

श्रीपरशुरामजीके निवास और तपश्चर्याके प्रभावसे आसाममें 'परशुरामकुण्ड' नामक तीर्थ प्रसिद्ध हुआ।

इसी प्रकार अन्यान्य सब तीर्थोंके सम्बन्धमें समझना चाहिये। प्रायः सभी तीर्थ भगवान् और उनके भक्तोंके प्रभावसे ही बने हैं अर्थात् उनके जन्म, तपश्चर्या और सङ्ग-सांनिध्यके कारण ही उनकी तीर्थ-संज्ञा हुई है। ये सभी स्थान-विशेष तीर्थ हैं। इनमें निवास करने और मरनेसे मनुष्यकी मुक्ति हो जाती है, यह बात शास्त्रोंमें स्थान-स्थानपर बतलायी गयी है—

काशी काञ्ची च मायाख्या त्वयोध्या द्वारवत्यपि।
मथुरावन्तिका चैताः सप्त पुर्योऽत्र मोक्षदाः॥

(स्क० काशी० पूर्व० ६ । ६८)

'इस मनुष्यलोकमें काशी, काञ्ची, माया (लक्ष्मणझूलासे कनखलतक), अयोध्या, द्वारका, मथुरा और अवन्ती (उज्जैन)— ये सात पुरियाँ मोक्ष देनेवाली हैं।'

इनके सिवा बदरिकाश्रम, सेतुबन्ध-रामेश्वर, जगन्नाथपुरी, कुरुक्षेत्र, प्रयाग, पुष्कर आदि तीर्थोंमें वास करने और मरनेसे भी मनुष्यकी मुक्ति होनेका वर्णन शास्त्रोंमें मिलता है।

तीर्थयात्राका वास्तविक प्रयोजन है—आत्माका उद्धार

करना । इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके लिये तो और भी बहुत-से साधन हैं । अतएव मनुष्यको भोगोंकी प्राप्तिके लिये तीर्थयात्रा न करके आत्माके कल्याणके लिये ही तीर्थयात्रा करनी चाहिये । जो मनुष्य आत्मकल्याणके उद्देश्यसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नियमपालन करते हुए तीर्थयात्रा करता है, उसे तीर्थसे महान् लाभ होता है । जैसे सूर्यके तापसे रहित प्रातःकाल या सायंकालके उत्तम समयमें तथा उत्तम पुरुषोंके सङ्ग और उनके साथ वार्तालापके समयमें स्वाभाविक ही मनुष्यकी चित्तवृत्तियाँ शान्त और सात्त्विक रहती हैं, उसी प्रकार चित्रकूट, ऋषिकेश, वृन्दावन आदि तीर्थस्थानोंमें जाकर वहाँ एकान्त वनमें श्रद्धा-भक्ति और नियमपालन-पूर्वक निवास करनेसे वहाँके पवित्र परमाणुओंका प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है और भजन-ध्यानमें सहायता मिलती है; क्योंकि तीर्थोंमें अध्यात्मसम्बन्धी परमाणु स्वाभाविक ही व्याप्त रहते हैं । उनका साधारणतया तो वहाँ रहनेवाले सभी लोगोंपर प्रभाव पड़ता है, फिर जिनका हृदय शुद्ध होता है, उन श्रद्धालु मनुष्योंपर तो विशेषरूपसे उनका प्रभाव पड़ता है । जैसे सूर्यका प्रकाश सब जगह समानभावसे होते हुए भी दर्पणपर उसका प्रभाव विशेषरूपसे पड़ता है, उसी प्रकार ईश्वर और महात्माओंका प्रभाव सब जगह समान-भावसे रहते हुए भी जिनमें श्रद्धा-भक्ति और अन्तःकरणकी पवित्रता होती है, उनपर उनका विशेष प्रभाव पड़ता है ।

अतएव मनुष्यको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक विधि और नियमोंका पालन करते हुए ही तीर्थ-यात्रा करनी चाहिये । तीर्थ-यात्राके समय

पैरोंसे जीवोंको बचाते हुए, वाणी और मनसे भगवान्‌के नामका जप और उनके स्वरूपका ध्यान करते हुए अथवा भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए चलना चाहिये। इसी प्रकार श्रीगङ्गा, यमुना, सिन्धु, सरस्वती, गोदावरी, नर्मदा, कावेरी, कृष्णा, सरयू, मानसरोवर, कुरुक्षेत्र, पुष्कर, गङ्गासागर आदि तीर्थोंमें जाकर उनके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और महिमाका स्मरण करते हुए आत्म-शुद्धि और कल्याणके लिये प्रथम तो उनको नमस्कार करे, फिर तीर्थके जलको सिरपर धारण करे; तदनन्तर उनकी पुष्पादिसे पूजा करके आचमन और स्नान करे; किंतु तीर्थके जलमें वस्त्र न निचोड़े तथा तीर्थके जलसे गुदा-प्रक्षालन आदि कार्य न करे। तीर्थके किनारे मल-मूत्रका त्याग तो कभी भूलकर भी न करे, वहाँसे सौ कदम दूर जाकर करे। मलका त्याग करनेके बाद अपवित्र हाथोंको गङ्गा आदि तीर्थोंके जलसे न धोये तथा गङ्गा आदिके जलमें कभी दाँतुन-कुल्ला न करे।

तीर्थस्थानोंमें श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीशिव, श्रीविष्णु, श्रीदुर्गा आदि भगवद्विग्रहोंका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक दर्शन करते हुए उनके गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व, रहस्य और महिमा आदिका स्मरण करके दिव्य स्तोत्रोंके द्वारा आत्मोद्धारके लिये उनकी स्तुति-प्रार्थना, पूजा और नमस्कार करना चाहिये। एवं अपने-अपने अधिकारके अनुसार संध्या, तर्पण, जप, ध्यान, पूजा-पाठ, स्वाध्याय, हवन, बलिवैश्वदेव, सेवा आदि नित्य और नैमित्तिक कर्म ठीक समयपर करनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये। यदि किसी विशेष कारणवश समयका

उल्लङ्घन हो जाय, तो भी कर्मका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये। गीता-रामायण आदि शास्त्रोंका अध्ययन, भगवन्नामजप, सूर्य-भगवान्‌को अर्घ्यदान, इष्टदेवकी पूजा, ध्यान, स्तुति, नमस्कार और प्रार्थना आदि तो सभी वर्ण और आश्रमके स्त्री-पुरुषोंको अवश्य ही करने चाहिये। तीर्थोंमें जाकर यज्ञ, तप, दान, श्राद्ध-तर्पण, पिण्डदान, व्रत, उपवास आदि भी अपने अधिकारके अनुसार करने चाहिये।

तीर्थोंमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप यमों तथा शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधानरूप नियमोंका* पालन भी विशेषरूपसे करना चाहिये। भोग और ऐश्वर्यको अनित्य समझते हुए विवेक-वैराग्यके द्वारा वशमें किये हुए मन और इन्द्रियोंको शरीर-निर्वाहके अतिरिक्त अपने-अपने विषयोंसे हटानेकी चेष्टा करनी चाहिये तथा कीर्तन और स्वाध्यायके अतिरिक्त समयमें मौन रहनेका प्रयत्न करना चाहिये; क्योंकि मौन रहनेसे जप और ध्यानके साधनमें विशेष मदद मिलती है। यदि विशेष कार्यवश बोलना पड़े तो सत्य, प्रिय और हितकर वचन बोलने चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें वाणीके तपकी परिभाषा करते हुए कहा है—

---

* अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।
(योग० २।३०)

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।
(योग० २।३२)

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥
(गीता १७।१५)

'जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठन एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है, वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

तीर्थोंमें काम, क्रोध, लोभ आदिके वशमें होकर किसी भी जीवको किसी प्रकार किंचिन्मात्र भी दुःख कभी नहीं पहुँचाना चाहिये तथा साधु, ब्राह्मण, तपस्वी, ब्रह्मचारी, विद्यार्थी आदि सत्पात्रोंकी एवं दुखी, अनाथ, आतुर, अङ्गहीन, बीमार और साधक पुरुषोंकी अन्न, वस्त्र, औषध और धार्मिक पुस्तकों आदिके द्वारा यथायोग्य सेवा करनी चाहिये।

तीर्थोंमें निवास-स्थान और बर्तनोंके अतिरिक्त किसीकी कोई भी चीज काममें नहीं लानी चाहिये, बिना माँगे देनेपर भी बिना मूल्य स्वीकार नहीं करनी चाहिये तथा सगे-सम्बन्धी, मित्र आदिकी भेंट-सौगात आदि भी नहीं लेनी चाहिये। बिना अनुमतिके तो किसीकी कोई भी वस्तु काममें लेना चोरीके समान है। बिना मूल्य औषध आदि भी लेना प्रतिग्रह ही है।

तीर्थोंमें मन, वाणी और शरीरसे ब्रह्मचर्यके पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये। स्त्रीको पर-पुरुषका और पुरुषको पर-स्त्रीका दर्शन, स्पर्श, भाषण और चिन्तन आदि भी कभी नहीं करना चाहिये। यदि विशेष आवश्यकता हो तो स्त्रियाँ पर-पुरुषको पिता

या भाईके समान समझती हुई और पुरुष पर-स्त्रीको माता या बहिन-के समान समझते हुए नीची दृष्टि करके संक्षेपमें शास्त्रानुकूल वार्तालाप कर सकते हैं। यदि एकपर दूसरेकी भूलसे भी पाप-बुद्धि हो जाय तो कम-से-कम एक दिनका उपवास करना चाहिये।

ऐश-आराम, स्वाद, शौक और भोगबुद्धिसे तीर्थोंमें न तो किसी पदार्थका संग्रह करना चाहिये और न सेवन ही करना चाहिये। केवल शरीर-निर्वाहके लिये त्याग और वैराग्यबुद्धिसे अन्न-वस्त्रका उपयोग करना चाहिये।

तीर्थोंमें अपनी कमाईके द्रव्यसे पवित्रतापूर्वक सिद्ध किये हुए अन्न और दूध-फल आदि सात्त्विक पदार्थोंका ही भोजन करना चाहिये। स्वार्थ और अहंकाररहित होकर सबके साथ दया, विनय और प्रेमपूर्ण सात्त्विक व्यवहार करना चाहिये तथा काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मात्सर्य, राग-द्वेष, दम्भ-कपट, प्रमाद-आलस्य आदि दुर्गुणोंका; बीड़ी-सिगरेट, तंबाकू-गाँजा, भाँग-सुरती, अफीम-चरस, कोकिन आदि मादक वस्तुओंका; लहसुन-प्याज, बिस्कुट-बरफ, सोडा-लेमोनेड आदि अपवित्र पदार्थोंका; ताश-चौपड़, शतरंज खेलना और नाटक, सिनेमा तथा अन्य प्रकारके खेल-तमाशे, बाग-बगीचे, महल आदि विलासकी वस्तुएँ देखना आदि प्रमादका तथा गाली-गलौज, चुगली-निन्दा, हँसी-मजाक, फालतू बकवाद, आक्षेप आदि व्यर्थ वार्तालापका सर्वथा त्याग करना चाहिये। सर्दी-गर्मी, सुख-दु:ख और अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थोंके प्राप्त होनेपर उनको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार मानकर सदा-सर्वदा प्रसन्नचित्त और संतुष्ट रहना चाहिये।

तीर्थयात्रामें अपने सङ्गवालोंमेंसे किसीको अथवा अपने किसी आश्रितको बीमारी आदि विपत्ति आनेपर काम, क्रोध, लोभ, परिश्रम या भयके कारण उसे मार्गमें अकेले छोड़कर आगे नहीं जाना चाहिये। अपना परमधर्म समझकर महाराज युधिष्ठिर तो अपने साथ आनेवाले कुत्तेको भी छोड़कर स्वर्गको नहीं गये। जो लोग अपने किसी साथी या आश्रितके बीमार पड़ जानेपर उसे मार्गमें ही छोड़कर तीर्थ-स्नान और भगवद्विग्रहके दर्शन आदिके लिये आगे बढ़ जाते हैं, उनपर भगवान् प्रसन्न न होकर उलटे अप्रसन्न होते हैं; क्योंकि परमात्मा ही सबकी आत्मा हैं—इस सिद्धान्तके अनुसार उस आपत्तिग्रस्त साथीका तिरस्कार परमात्माका ही तिरस्कार है। इसलिये विपत्तिग्रस्त साथीका त्याग तो भूलकर भी कभी नहीं करना चाहिये।

तीर्थोंमें किसी प्रकारका किंचिन्मात्र भी पाप कभी नहीं करना चाहिये; क्योंकि जैसे तीर्थोंमें किये हुए स्नान-दान, जप-तप, यज्ञ-हवन, व्रत-उपवास, ध्यान-दर्शन, पूजा-पाठ, सेवा-सत्सङ्ग आदि महान् फलदायक होते हैं, वैसे ही वहाँ किये हुए असत्यभाषण, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजी, विश्वासघात, मांसभक्षण, मद्यपान, जूआ, व्यभिचार, हिंसा आदि पाप वज्रलेप हो जाते हैं।

शास्त्रोंमें तीर्थोंकी बड़ी भारी महिमा गायी गयी है। श्रीमहाभारतमें पुलस्त्य ऋषिने कहा है—

पुष्करे तु कुरुक्षेत्रे गङ्गायां मध्यमेषु च।
स्नात्वा तारयते जन्तुः सप्त सप्तावरांस्तथा॥

(वन० ८५। ९२)

'पुष्कर, कुरुक्षेत्र, गङ्गा और प्रयाग आदि मध्यवर्ती तीर्थोंमें स्नान करनेवाला मनुष्य अपनी सात पीछेकी और सात आगेकी पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है।'

ऐसे तीर्थ-माहात्म्यके वचनोंको लोग अर्थवाद और रोचक मानते हैं; किंतु इनको अर्थवाद और रोचक न मानकर यथार्थ ही समझना चाहिये। इनका फल यदि पूरा देखनेमें नहीं आता हो तो उसका कारण वर्तमान नास्तिक वातावरण, पंडे और पुजारियोंके दुर्व्यवहार तथा तीर्थोंमें पाखण्डी, नास्तिक और भयानक कर्म करनेवालोंके निवास आदिसे लोगोंके हृदयमें तीर्थोंके प्रति श्रद्धा-विश्वास और प्रेमका कम हो जाना ही है। इसीसे तीर्थका पूरा लाभ नहीं मिलता; किंतु जो मनुष्य श्रद्धा-भक्तिपूर्वक यम-नियमोंका पालन करते हुए तीर्थवास आदि करते हैं, उनको तीर्थका पूरा फल प्राप्त होता है।

श्रीस्कन्दपुराणमें कहा गया है—

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्।
निर्विकाराः क्रियाः सर्वाः स तीर्थफलमश्नुते॥

(माहे० कुमा० २।६)

'जिसके हाथ, पैर और मन भलीभाँति वशमें हों तथा जिसकी सभी क्रियाएँ निर्विकारभावसे सम्पन्न होती हों, वही तीर्थका पूरा फल प्राप्त करता है।'

इसी प्रकार स्कन्दपुराणके काशीखण्डमें बतलाया गया है कि अश्रद्धालु, पापात्मा, नास्तिक, संशयात्मा और केवल तर्कका सहारा लेनेवाला—ये पाँच प्रकारके मनुष्य तीर्थ-सेवनका फल नहीं पाते।

इसलिये हमलोगोंको यम-नियमोंका पालन करते हुए श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे ही तीर्थोंका सेवन करना चाहिये । इससे मनुष्यका शीघ्र कल्याण हो सकता है ।

तीर्थोंमें जाकर मनुष्यको महात्मा पुरुषोंके सत्सङ्गका विशेष-रूपसे लाभ उठाना चाहिये । श्रीस्कन्दपुराणमें कहा गया है—

मुख्या पुरुषयात्रा हि तीर्थयात्रानुषङ्गतः ।
सद्भिः समाश्रितो भूमिभागस्तीर्थतयोच्यते ॥

(माहे० कुमा० ११ । ११)

'तीर्थ-यात्राके प्रसङ्गसे महापुरुषोंके दर्शनके लिये जाना तीर्थ-यात्राका मुख्य उद्देश्य है; अतः जिस भूभागमें संत-महात्मा निवास करते हैं, वह विशेष 'तीर्थ' कहलाता है ।'

क्योंकि भगवद्भक्त महात्मा पुरुषोंको तीर्थोंको भी तीर्थत्व प्रदान करनेवाले कहा गया है । श्रीनारदजीने अपने भक्तिसूत्रोंमें कहा है—

भक्ता एकान्तिनो मुख्याः । कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च । तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि ।

(सूत्र ६७, ६८, ६९)

'एकान्त (अनन्य) भक्त ही श्रेष्ठ हैं । प्रेमके कारण जिनका कण्ठ रुक जाता है, शरीर पुलकित हो जाता है और आँखोंमें प्रेमके आँसुओंकी धारा बहने लगती है, ऐसे अनन्य भक्त परस्पर सम्भाषण करते हुए अपने कुलोंको और पृथ्वीको पवित्र करते हैं । वे तीर्थोंको सुतीर्थ, कर्मोंको सुकर्म और शास्त्रोंको सत्-शास्त्र कर देते हैं ।'

श्रीमद्भागवतमें धर्मराज युधिष्ठिर महात्मा विदुरजीसे कहते हैं—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं प्रभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥
(१।१३।१०)

'प्रभो! आप-सरीखे भगवद्भक्त स्वयं तीर्थस्वरूप हैं; क्योंकि आपलोग अपने हृदयमें विराजित भगवान् गदाधरके प्रभावसे तीर्थोंको भी तीर्थ (पवित्र) बना देते हैं।'

अतएव ऐसे महात्मा पुरुषोंके सङ्गको तीर्थोंसे भी बढ़कर बतलाया गया है। श्रीस्कन्दपुराणमें आता है—

तीर्थादप्यधिकः स्थाने सतां साधुसमागमः।
पचेलिमफलः सद्यो दुरन्तकलुषापहः॥
अपूर्वः कोऽपि सद्गोष्ठीसहस्रकिरणोदयः।
य एकान्ततयात्यन्तमन्तर्गततमोपहः॥
(स्क० मा० कुमा० ११।६-७)

'यह सच है कि श्रेष्ठ (श्रद्धालु एवं सरलहृदय) पुरुषोंका साधुओं—महापुरुषोंके साथ समागम तीर्थसे भी बढ़कर है; क्योंकि उसका परिपक्व फल तुरंत प्राप्त होता है तथा वह दुरन्त—कठिनाईसे दूर होनेवाले पापोंका भी नाश कर देता है। श्रेष्ठ पुरुषोंका सङ्ग हजारों किरणोंसे प्रकाशमान सूर्योदयकी भाँति अद्भुत प्रभावशाली है; क्योंकि वह अन्तःकरणमें व्याप्त अज्ञानरूप अन्धकार-का अत्यन्त नाश करनेवाला है।'

इसीलिये श्रीरामचरितमानसमें संत-महात्माओंको जङ्गम तीर्थराज बतलाया गया है—

मुद मंगलमय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू॥
(बाल० १।४)

अतएव तीर्थोंमें जाकर मनुष्यको साधु, महात्मा, ज्ञानी, योगी और भक्तोंके दर्शन, सेवा, सत्सङ्ग, वन्दन, उपदेश, आदेश और वार्तालापके द्वारा विशेष लाभ उठानेके लिये उनकी खोज करनी चाहिये। भगवान्ने अर्जुनके प्रति गीतामें कहा है—

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
(४।३४)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ; उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और उनसे कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

परंतु कञ्चन-कामिनीके लोलुप, अपने नाम-रूपको पुजवाकर लोगोंको अपना उच्छिष्ट (जूँठन) खिलानेवाले, मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाके गुलाम, प्रमादी और विषयासक्त पुरुषोंका सङ्ग भूलकर भी नहीं करना चाहिये, चाहे वे साधु, ब्रह्मचारी और तपस्वीके वेशमें भी क्यों न हों। मांसाहारी, मादक पदार्थोंका सेवन करनेवाले, पापी, दुराचारी और नास्तिक पुरुषोंका तो दर्शन भी नहीं करना चाहिये।

तीर्थोंमें किसी-किसी स्थानपर तो पंडे-पुजारी और महंत आदि

यात्रियोंको अनेक प्रकारसे तंग किया करते हैं। यात्रा सफल करवानेके नामपर दुराग्रहपूर्वक अधिक धन लेनेके लिये अड़ जाना, देव-मन्दिरोंमें बिना पैसे लिये दर्शन न कराना, बिना भेंट लिये स्नान न करने देना, यात्रियोंको धमकाकर और पापका भय दिखलाकर जबर्दस्ती रुपये ऐंठना, मन्दिरों और तीर्थोंपर भोग-भंडारे आदिके नामपर अधिक भेंट चढ़ानेके लिये अनुचित दबाव डालना, अपने स्थानोंपर ठहराकर अधिक धन प्राप्त करनेका प्रयत्न करना, सफेद चील (काँक) पक्षियोंको ऋषि और देवताका रूप देकर और उनकी जूँठन खिलाकर भोले-भाले यात्रियोंसे धन ठगना तथा देवमूर्तियोंके द्वारा शर्बत पिये जाने आदि झूठी करामातोंको प्रसिद्ध करके लोगोंको ठगना इत्यादि चेष्टाएँ निन्दनीय हैं। अतः तीर्थयात्रियोंको इन सबसे सावधान रहना चाहिये।

स्त्रीके लिये पति, बालकोंके लिये माता-पिता तथा शिष्यके लिये गुरु भी जङ्गम तीर्थ हैं। अतः मनुष्यको तीर्थयात्रा इनके साथ अथवा इनकी आज्ञासे करनी चाहिये, तभी तीर्थयात्रा सफल होती है; क्योंकि ये साक्षात् सजीव तीर्थ हैं। इसीलिये इनकी सेवा-शुश्रूषा करनेका तीर्थयात्रासे बढ़कर माहात्म्य है। अतः मनुष्यको उनके हितमें रत रहते हुए निष्काम प्रेमभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनकी सेवा, वन्दन और आज्ञा-पालन करना चाहिये।

इसी प्रकार सत्य, क्षमा, दया, तप, दम, संतोष, धैर्य, धर्मपालन, अन्तःकरणकी पवित्रता तथा ज्ञानपूर्वक भगवान्का ध्यान

आदि तो तीर्थोंसे भी बढ़कर हैं। इनको शास्त्रोंमें 'मानसतीर्थ' कहा गया है—

ध्यानपूते ज्ञानजले रागद्वेषमलापहे।
यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम्॥
(स्कन्द० काशी० पूर्व० ६। ४१)

'ध्यानसे पवित्र, ज्ञानरूप जलसे भरे हुए तथा रागद्वेषरूप मलको दूर करनेवाले मानसतीर्थमें जो पुरुष स्नान करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है।'

अतएव मनुष्यको कुसङ्गसे बचकर तीर्थोंमें श्रद्धा-प्रेम रखते हुए सावधानीके साथ महापुरुषोंका सङ्ग और उपर्युक्त यम-नियमादिका भलीभाँति पालन करके तीर्थोंसे लाभ उठाना चाहिये। यदि इन नियमोंके पालनमें कहीं कुछ कमी भी रह जाय तो उतना हर्ज नहीं; परंतु चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते, भगवान्‌के नामका जप तथा उनके स्वरूपका ध्यान तो गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यके सहित सदा-सर्वदा निरन्तर ही करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इसमें त्रुटि नहीं रहनी चाहिये।

तीर्थयात्रियोंके लिये उपर्युक्त बातें बहुत ही उपयोगी हैं, अतः उनको समय-समयपर पढ़कर काममें लानेकी अवश्य चेष्टा करनी चाहिये। काममें लानेसे निश्चय ही मनुष्यका सुधार होकर उद्धार हो सकता है।



भारतका परम हित

इस समय सभी ओर उन्नतिकी पुकार मची हुई है; परंतु 'यथार्थ उन्नति' क्या है और किसमें है, इसका विचार बहुत कम किया जाता है। धन, विलास, भौतिक सुख या पदमें उन्नति नहीं है। वास्तविक उन्नति उसीमें है, जिसमें मनुष्योंका जीवनस्तर नैतिकता तथा सदाचारकी दृष्टिसे ऊँचा हो, उनमें 'सर्वभूतहित'की सच्ची भावना जाग्रत् हो, इन्द्रियोंपर और मनपर स्वामित्व हो, जीवनमें संयम और सेवाका स्वभाव हो और जिससे इस लोक तथा परलोकमें सबका सब प्रकारसे हित होता हो और साथ ही मानव अपने परम हित परमात्माकी प्राप्तिकी ओर अग्रसर हो। यही यथार्थ उन्नति है। इस उन्नतिका परम साधन है—'धर्म और ईश्वरपर निष्ठा एवं विश्वास'।

जबतक भारतमें धर्म और ईश्वरपर निष्ठा-विश्वास रहा, मनुष्य ईश्वरके आश्रित और धर्मपरायण रहे, तबतक भारतकी उत्तरोत्तर उन्नति होती रही। ज्यों-ज्यों इसमें कमी आयी, त्यों-ही-त्यों भारत अवनतिके गर्तमें गिरता गया। आजके भारतकी तो वस्तुतः बहुत शोचनीय स्थिति है। धर्म और ईश्वरके तत्त्वको न समझनेके कारण बहुत लोग तो धर्म और ईश्वरको मानते ही नहीं, कुछ लोग धर्म और ईश्वरको स्वीकार तो करते हैं पर हृदयसे नहीं मानते। इसलिये उनकी स्वीकृति भी कथनमात्रकी होती है, और इसी कारण उनको विशेष लाभ भी नहीं होता। माननेवालोंमें कुछ लोग ऐसे हैं, जिनमें आत्मबल नहीं है। जिनमें यत्किंचित् आत्मबल है, उनकी संख्या थोड़ी है और उनकी चलती भी नहीं। शिक्षामें धर्मका विशिष्ट स्थान न रहनेसे शिक्षित पुरुष—जो समाजके सभी क्षेत्रोंमें स्वाभाविक अग्रणी होते हैं—धर्म और ईश्वरको महत्त्व नहीं दे पाते। इन्हीं सब कारणोंसे यथार्थ उन्नतिकी दृष्टिसे भारतका दिनोंदिन ह्रास और विनाश ही हो रहा है।

धर्म और ईश्वरमें निष्ठा न होनेके कारण ही 'यथार्थ कर्तव्य' की ओर ध्यान कम हो गया और अनर्थकारी अर्थकी प्रधानता बढ़ गयी। सरकारी अधिकारियोंमें घूस-रिश्वतका प्रसार हो गया। अन्याय तथा असत्-मार्गसे आनेवाले धनसे सबकी ग्लानि निकल गयी। चारों ओर चोरबाजारी, ठगी और भ्रष्टाचारका विस्तार हो गया। कर्तव्यपालनके स्थानमें आरामतलबी और धोखाधड़ी आ गयी। इसीसे मजदूर-मालिकोंका पवित्र सम्बन्ध भी दूषित हो गया।

स्कूल-कालेजोंमें गुरु-शिष्यका पवित्र आदर्श नष्ट हो गया। यों सर्वत्र उच्छृङ्खलता, स्वेच्छाचारिता और धर्महीनता आ गयी। असदाचार और अनैतिकताकी यह बाढ़ न रुकी तो पता नहीं हमलोगोंकी क्या दशा होगी।

इसी आर्थिक और लौकिक महत्ताके प्रभावसे हमारी सरकारको भी भाँति-भाँतिके नये-नये टैक्स लगानेको बाध्य होना पड़ रहा है। जब व्ययका बहुत बड़ा आयोजन सामने होगा, तब उसकी पूर्तिके लिये टैक्स लगाने और बढ़ाने पड़ेंगे ही; परंतु जिन टैक्सोंसे गरीब तथा मध्यवित्त जनताका जीवन कष्टमय हो जाता हो, जिनसे ज्ञान-प्रसारमें बाधा आती हो, ऐसे टैक्स न लगाये जायँ तो बहुत उत्तम है। जैसे उदाहरणके लिये गेहूँ, चावल, चीनी, नमक, कपड़ा आदि आवश्यक खाने-पहननेकी चीजोंपर टैक्स लगानेसे गरीब तथा मध्यवित्त लोगोंका जीवन-निर्वाह बहुत कठिन हो रहा है। हमारे पास ऐसे बहुत-से लोग आते हैं और अपनी कठिन परिस्थिति बतलाते हैं। इसी प्रकार कागज, कापी, पुस्तकादिपर टैक्स लगनेसे गरीब विद्यार्थियोंका व्यय-भार बढ़ गया है। पारसल, रजिस्ट्री, मनीआर्डर आदिकी दर बढ़ जानेसे जनताकी कठिनाई बढ़ गयी है। अतएव हम अपनी सरकारसे विनयपूर्वक अनुरोध करते हैं कि वह गम्भीरतासे इस विषयपर विचार करे और उचित व्यवस्था करे, जिससे जनताका जीवन बढ़ती हुई कठिनाइयोंसे छुटकारा पा सके।

एक और आवश्यक विषय है। इधर समाज-सुधारकी दृष्टिसे

धर्मस्थानोंकी सम्पत्ति आदिके तथा साधुओंके सम्बन्धमें जो नये कानून बने हैं या बनने जा रहे हैं, उनसे यही पता लगता है कि ये प्रायः सारे कानून हिंदुओंके लिये ही बनते हैं भारतमें शास्त्रोंको माननेवाले और उनपर श्रद्धा करनेवाले ऐसे लोग बहुत हैं, जिनका किसी राजनीतिक दलसे कोई सम्बन्ध नहीं है, पर जो बिना किसी राग-द्वेषके अपने सरल-सहज विश्वासके अनुसार ऐसा मानते हैं कि इन कानूनोंसे परम्परागत हिंदू-धर्मपर आघात पहुँचा है या पहुँच रहा है। अतएव जैसे ईसाई-धर्म और इस्लाम-धर्म, उनके गिरजाघर-मस्जिद, उनके पादरी-पीर, फकीर-काजी, उनके सामाजिक आचार आदिके सम्बन्धमें सरकार कोई भी कानून न बनाकर उनकी धार्मिक मान्यताओंको सुरक्षित रखती है—जो उचित ही है, वैसे ही हिंदू-धर्मकी मान्यता-को भी सुरक्षित रखना सरकारका कर्तव्य है। इसलिये भारतकी हिंदू-जनता सरकारसे विनयपूर्वक प्रार्थना करती है कि सरकार ऐसा कोई कानून न बनाये, जिससे सनातनधर्मी, आर्यसमाजी, बौद्ध, जैन, सिख आदि हिंदुओंके धर्मपर, उनके मठ-मन्दिर, गुरुद्वारे या पूजास्थलोंपर तथा उनके साधु-संन्यासियों और भिक्षुओंपर आघात पहुँचता हो!

साथ ही यह भी विनय है कि इधर कुछ समयसे भारतमें ईसाईलोग भोले-भाले गरीब भाई-बहिनोंको फुसलाकर और लोभ दिखाकर उनका धर्म-परिवर्तन कर रहे हैं; उनपर शीघ्र कठोर रोक लगायी जाय। गो-वध सर्वथा बंद करनेके लिये सभी प्रदेशोंमें कानून बनें और जहाँ ऐसे कानून बन चुके हैं, वहाँ सावधानीसे

उनपर अमल किया जाय । स्वास्थ्यनाशक तथा गोवधमें सहायक वनस्पति-घीका प्रचार भी कानूनद्वारा शीघ्र रोका जाय ।

हाथकी बनी चीजों और हाथसे बुने कपड़ेके प्रचारमें सहायता की जाय और विशेष सुविधा दी जाय, जिससे गरीब जनता परिश्रम करके अपना जीवन-निर्वाह कर सके । धान, चीनी, तेल, कपड़े आदिकी मिलोंका विस्तार होनेसे ढेकीं, कोल्हू, चर्खा और कर्घा आदि चलानेवाले गरीबोंके रोजगारमें बड़ी बाधा आ गयी है । इस ओर सरकार ध्यान दे रही है और कई प्रकारकी सुविधाएँ सरकारने दी भी हैं । इसके लिये सरकारको धन्यवाद है ।

लोकसभा तथा धारासभाओंके चुनावके विषयमें बहुत-से लोग पूछते हैं कि किनको मत (वोट) दिया जाय । इसके उत्तरमें हमारा नम्र निवेदन है कि जो विशाल हृदयके स्वार्थत्यागी व्यक्ति हों, देशका यथार्थ हित चाहते हों, देशके हितके लिये अपने व्यक्तिगत हितका बलिदान करनेको तैयार हों, देशके हितमें ही अपनी स्वार्थ-सिद्धि मानते हों, गरीबों तथा दुखियोंसे सच्ची सहानुभूति रखते हों, मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठा तथा धन-सम्पत्तिके किङ्कर न हों, अभक्ष्य-भक्षी न हों, सदाचारी हों, मादक वस्तुओंके शौकीन न हों, सच्चरित्र हों, दयालु हों, गोवधको कानूनके द्वारा बंद करानेके समर्थक हों, धर्मविरुद्ध कानूनोंके विरोधी हों और ईश्वर, धर्म तथा लोक-परलोकको माननेवाले हों—ऐसे ही सज्जनोंके तथा माता-बहिनोंके पक्षमें वोट देना चाहिये, वे चाहे किसी भी दलके हों ।



बालकोंके लिये कर्तव्य तथा ईश्वर और परलोकको माननेसे लाभ एवं न माननेसे हानि

वर्तमान समयके दूषित वातावरणके प्रवाहमें बहते हुए बालकोंके हितके लिये, उनको किस प्रकार अपना जीवन बिताना चाहिये—इस विषयमें शास्त्रके आधारपर प्रार्थनाके रूपमें विनयपूर्वक कुछ लिखा जाता है; क्योंकि उपदेश, आदेश देनेकी न तो मुझमें योग्यता है और न मैं उसका अधिकारी ही हूँ।

बालकोंको अपने निम्नलिखित कर्तव्यकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। जिनके माता-पिता जीवित हैं, वे अधिक आयुवाले होनेपर भी बालकवत् ही हैं।

(१)

माता, पिता और गुरुजनोंकी सेवा बालकोंके लिये परम धर्म है। श्रीमनुजी कहते हैं—

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥

(मनु० २। २३७)

'इन तीनों—माता-पिता एवं गुरुकी सेवासे ही पुरुषके

कर्तव्यकी समाप्ति हो जाती है अर्थात् उसे कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता। यही साक्षात् परम धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं।'

यहाँ सेवासे अभिप्राय है—उनकी आज्ञाका पालन करना। आज्ञाका पालन ही सबसे बढ़कर सेवा है। श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥

(४२।३)

यद्यपि उनके शरीरकी सेवा भी उनकी ही सेवा है, तथापि उनकी आज्ञा, संतोष, संकेत और मनके अनुकूल उनके साथ व्यवहार करना उनकी परम सेवा है। जबतक माता, पिता और आचार्य जीवित हैं, तबतक पुत्र और शिष्यके लिये अन्य धर्मोंके पालनकी आवश्यकता नहीं है। यदि पालन किया भी जाय तो सेव्यके हितके लिये ही करना परम कर्तव्य है। श्रीमनुजी कहते हैं—

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
न तैरनभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत्॥

(मनु० २।२२९)

'इन तीनोंकी सेवा ही परम तप कहा जाता है। अतः इन तीनोंकी आज्ञाके बिना अन्य किसी धर्मका आचरण न करे।'

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥

(मनु० २।२३०)

'क्योंकि ये तीनों ही तीनों लोक हैं, ये ही तीनों आश्रम

हैं तथा ये ही तीनों वेद एवं तीनों अग्नि कहे गये हैं।'

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥

(मनु० २ । २३१)

'पिता तो गार्हपत्य अग्नि है, माता दक्षिणाग्नि मानी गयी है तथा गुरु आहवनीय अग्नि है । इस प्रकार ये तीनों सर्वोत्तम अग्नि हैं।'

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान् विजयेद् गृही ।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद् दिवि मोदते ॥

(मनु० २ । २३२)

'इन तीनोंकी सेवामें कभी प्रमाद न करनेवाला गृहस्थ भूः, भुवः, स्वः—इन तीनों लोकोंको जीत लेता है तथा वह अपने तेजसे प्रकाशित हुआ देवताओंकी भाँति स्वर्गमें आनन्द प्राप्त करता है।'

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥

(मनु० २ । २३३)

'मातृभक्तिसे मनुष्य इस पृथ्वीलोकके, पितृभक्तिसे मध्यम (अन्तरिक्ष) लोकके एवं गुरुसेवासे ब्रह्मलोकके सुख भोगता है।'

तैत्तिरीयोपनिषद्‌में आचार्य अपने स्नातक शिष्यको उपदेश देते हुए यही आदेश देते हैं—

मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव ।

(तैत्ति० १ । ११)

'माता, पिता और आचार्यको देवता माननेवाले बनो ।'

क्योंकि—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम् ।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥
(मनु० २ । २२७)

'माता-पिता बालकको जनने और उसका पालन-पोषण करनेमें जो क्लेश सहते हैं, बालक उसके बदलेमें सैकड़ों वर्ष उनकी सेवा करके भी उनके उस ऋणसे नहीं छूट सकता ।'

शास्त्रोंमें माता-पिता और गुरुकी सेवाके अनेक आदर्श उदाहरण मिलते हैं । माता-पिताकी सेवाके प्रभावसे ही धर्मव्याध त्रिकालज्ञ हो गये । जैसे मनुष्य देवताओंकी पूजा करते हैं, वैसे वे अपने माता-पिताको ही परम देवता मानकर उनको पुष्पोंसे, फलोंसे और धनसे प्रसन्न करते थे । वे स्वयं ही उन दोनोंके पैर धोते, स्नान कराकर उन्हें भोजन कराते तथा उनसे मीठे और प्रिय वचन कहते और उनके अनुकूल चलते थे । इस प्रकार वे आलस्यरहित हो शम-दम आदि साधनोंमें स्थित हुए अपना परम धर्म समझकर मन-वाणी-शरीरद्वारा पुत्र और स्त्रीके साथ तत्परतासे उनकी सेवा किया करते थे । उसके प्रतापसे वे इस लोकमें अचल कीर्ति और दिव्य-दृष्टिको पाकर उत्तम गतिको प्राप्त हुए । इनकी कथा महाभारत, वन-पर्वके २१४ वें और २१५ वें अध्यायोंमें देखनी चाहिये ।

श्रीकौशिक मुनि भी, जो माता-पिताकी आज्ञा लिये बिना ही तप करने चले गये थे, इन धर्मव्याधके साथ वार्तालाप करके, तपसे भी

माता-पिताकी सेवाको अधिक समझकर पुनः माता-पिताकी सेवा करके उत्तम गतिको प्राप्त हुए।

मूक चाण्डाल भी माता-पिताकी सेवाके प्रभावसे ही भगवान्‌के परमधामको चले गये। इनकी कथा पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें पढ़नी चाहिये।

एक तपस्वी वैश्य-मुनिके पुत्र श्रवण भी माता-पिताके बड़े ही भक्त हुए हैं। संसारमें आज भी कोई माता-पिताकी सेवा करता है तो उसे श्रवणकी उपमा दी जाती है। श्रवणकी कथा वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्डके ६३वें और ६४वें सर्गोंमें विस्तारसे वर्णित है।

महाराज युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंने तो माताकी शास्त्र और लोकसे विरुद्ध आज्ञाका भी पालन किया। एक स्त्रीके पाँच पति होनेकी बात न तो शास्त्रोंमें मिलती है और न लोकमें ही। माता कुन्तीने अनजानमें यह आज्ञा दे दी थी कि 'आज जो कुछ भिक्षाके रूपमें लाये हो, उसका सभी भाई उपभोग करो।' पर जब माता कुन्तीको यह ज्ञान हुआ कि ये लोग एक स्त्रीको लाये हैं और मैंने बिना विचारे ही आज्ञा दे दी है, तब उन्होंने सोचा—'मेरे ये वचन सत्य कैसे होंगे?' किंतु राजा युधिष्ठिरने मातासे कहा—आपका वचन सत्य करनेके लिये हम सभी भाई इसके साथ विवाह करेंगे।' (महाभारत आदि० १९०) तदनन्तर पाण्डवोंने वैसा ही किया।

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामकी तो बात ही क्या है। वे तो राजा दशरथ और माता कैकेयीकी आज्ञाके पालनके लिये चौदह वर्ष बड़ी प्रसन्नताके साथ वनमें रहे।

इसी प्रकार गुरुकी आज्ञाके पालनके विषयमें भी महाभारत, उपनिषद् आदिमें बहुत-से दृष्टान्त पाये जाते हैं। महाभारत आदिपर्वके तीसरे अध्यायमें गुरु-भक्त आरुणिका आख्यान सब लोगोंके पढ़नेयोग्य एवं आदर्शरूप है। एक समय आयोदधौम्य मुनिने अपने शिष्य पंजाबनिवासी आरुणिसे कहा—'आरुणे! तुम खेतमें जाकर मेढ़ बाँधकर जलको रोको।' आरुणि गुरुकी आज्ञा पाकर खेतमें गया, पर प्रयत्न करनेपर भी वह किसी प्रकार जलको रोक नहीं सका। अन्तमें उसे एक उपाय सूझा और वह स्वयं पानीको रोकनेके लिये मेढ़ बनकर लेट गया। उसके लेटनेसे जलका प्रवाह रुक गया। समयपर आरुणिके न लौटनेसे आयोदधौम्य मुनिने अन्य शिष्योंसे पूछा—'पंजाबनिवासी आरुणि कहाँ है?' शिष्योंने उत्तर दिया—'आपने ही तो उसे खेतकी मेढ़ बाँधकर पानी रोकनेके लिये भेजा है।' शिष्योंकी बात सुनकर मुनिने कहा—'चलो, जहाँ आरुणि गया है, वहीं हम सब लोग चलें।' तदनन्तर गुरुजी वहाँ खेतके निकट पहुँचकर उसे बुलानेके लिये पुकारने लगे—'बेटा आरुणे! कहाँ हो, चले आओ।' आरुणि आचार्यकी बात सुनकर अपने स्थानसे सहसा उठकर उनके निकट उपस्थित हुआ और बोला—'भगवन्! आपके खेतका जल निकल रहा था। मैं उसे किसी प्रकारसे रोक नहीं सका, तब अन्तमें मैं वहाँ लेट गया, इसीसे

जलका निकलना बंद हो गया। इस समय आपके पुकारनेपर सहसा आपके पास आया हूँ और प्रणाम करता हूँ। आप आज्ञा दीजिये, इस समय मुझको कौन-सा कार्य करना होगा।' गुरु बोले—बेटा ! तुम बाँधका उद्दलन करके निकले हो, इसलिये तुम 'उद्दालक' नामसे प्रसिद्ध होगे।' यह कहकर उपाध्याय उसपर कृपा करते हुए फिर बोले—'तुमने तन-मनसे मेरी आज्ञाका पालन किया है, इसलिये सम्पूर्ण वेद और धर्मशास्त्र तुम्हारे मनमें बिना पढ़े ही प्रकाशित रहेंगे और तुम कल्याणको प्राप्त करोगे।' इस प्रकार गुरुका आशीर्वाद पाकर आरुणि गुरुकी आज्ञासे अपने देशको चला गया।

जबालाका पुत्र सत्यकाम भी बड़ा उच्चकोटिका गुरुभक्त था। उसने एक समय हारिद्रुमत गौतमके पास जाकर कहा—'मैं आपके यहाँ ब्रह्मचर्यका पालन करता हुआ वास करूँगा, इसलिये मैं आपके पास आया हूँ।' गुरुने कहा—'सौम्य ! तू किस गोत्रका है ?' सत्यकाम बोला—'भगवन् ! मैं नहीं जानता।' तब गौतमने कहा—'ऐसा स्पष्ट भाषण ब्राह्मणेतर नहीं कर सकता, अतएव तू ब्राह्मण है; क्योंकि तुमने सत्यका त्याग नहीं किया है।' फिर आचार्य गौतमने उसका उपनयन-संस्कार करनेके अनन्तर गौओंके झुंडमेंसे चार सौ कृश और दुर्बल गौएँ अलग निकालकर उससे कहा—'सौम्य ! तू इन गौओंके पीछे-पीछे जा।' गुरुकी इच्छा जानकर सत्यकामने कहा—'इनकी संख्या जबतक पूरी एक सहस्र न हो जायगी, तबतक मैं नहीं लौटूँगा।' यों कह वह एक अच्छे वनमें चला गया, जहाँ जल एवं तृणकी बहुतायत थी और

बहुत कालपर्यन्त उन गौओंकी सेवा करता रहा। जब वे एक हजार हो गयीं, तब एक साँड़ने उससे कहा—'सत्यकाम! हम एक सहस्र हो गये हैं, अब तुम हमें आचार्यकुलमें पहुँचा दो।' सत्यकाम उन गौओंको आचार्यकुलमें ले आया। गुरु-आज्ञाके पालनके प्रतापसे उसको रास्ते चलते-चलते ही साँड़, अग्नि, हंस और मद्गुद्वारा विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके स्वरूपकी प्राप्ति हो गयी। यह कथा छान्दोग्य-उपनिषद्, चौथे अध्यायके चौथेसे नवें खण्डतक वर्णित है।

इन्हीं ब्रह्मवेत्ता सत्यकामकी एक गुरुभक्त शिष्य था उपकोसल। उसने इनसे यज्ञोपवीत लेकर बारह वर्षतक इनकी सेवा की। तब सत्यकामकी भार्याने स्वामीसे कहा—'यह उपकोसल बहुत तपस्या कर चुका है, इसने अच्छी तरह आपके आज्ञानुसार अग्नियोंकी सेवा की है। अतएव इसे ब्रह्मविद्याका उपदेश करना चाहिये।' पर सत्यकामने उसे कुछ उत्तर नहीं दिया और उपदेश दिये बिना ही बाहर चले गये। उनके चले जानेपर उपवास करनेवाले उपकोसल-को अग्नियोंने ब्रह्मका उपदेश दिया। उसके बाद गुरु लौटकर आये, तब उन्होंने उससे पूछा—'सौम्य! तेरा मुख ब्रह्मवेत्ताका-सा लग रहा है, तुम्हें किसने उपदेश दिया है?' उपकोसलने संकेतसे अग्नियोंका लक्ष्य कराया। उसके बाद जब आचार्यने पूछा—'क्या उपदेश दिया है?' तब उसने सारी बातें ज्यों-की-त्यों कह सुनायीं। आचार्य बोले—'सौम्य! अब तुझे उस ब्रह्मका उपदेश मैं करूँगा, जिसे जान लेनेपर तू जलसे कमलपत्रके सदृश पापसे लिप्त नहीं होगा।' उपकोसलने कहा—'उपदेश दीजिये।' इसपर आचार्यने

उसे ब्रह्मका उपदेश दिया और उसे सुनकर वह ब्रह्मको प्राप्त हो गया। इसकी कथा छान्दोग्य-उपनिषद्, चौथे अध्यायके दसवेंसे सत्रहवें खण्डतक कही गयी है।

आचार्य वेदके शिष्य उत्तङ्ककी गुरुभक्तिका प्रसङ्ग महाभारतके आदिपर्वके तीसरे अध्यायमें आता है। एक बार राजा जनमेजय और पौष्यने आचार्य वेदको पुरोहितके रूपमें वरण किया। आचार्य वेद कभी पुरोहितीके कामसे बाहर जाते तो घरकी देख-रेखके लिये अपने शिष्य उत्तङ्कको नियुक्त कर जाते थे। एक बार आचार्य वेद-ने बाहरसे लौटकर अपने शिष्य उत्तङ्कके सदाचार-पालनकी बड़ी प्रशंसा सुनी। तब उन्होंने कहा—'बेटा! तुमने धर्मपर दृढ़ रहकर मेरी बड़ी सेवा की है। मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम्हारी सारी कामनाएँ पूर्ण होंगी। अब जाओ।' उत्तङ्कने प्रार्थना की—'आचार्य! मैं आपको कौन-सी प्रिय वस्तु भेंटमें दूँ?' आचार्यने पहले तो कुछ भी लेना अस्वीकार किया, पीछे कहा—'अपनी गुरुआनीसे पूछ लो।' जब उत्तङ्कने गुरुआनीसे पूछा, तब उन्होंने कहा—'तुम राजा पौष्य-के पास जाओ और उनकी रानीके कानोंके कुण्डल माँग लाओ। मैं आजसे चौथे दिन उन्हें पहनकर ब्राह्मणोंको भोजन परोसना चाहती हूँ।' इसपर उत्तङ्क राजा पौष्यकी रानीके पास गया और बड़ी कठिनाई झेलकर उनके कुण्डल ले आया एवं उसने वे कुण्डल ठीक समयपर गुरुआनीको देकर उनका आशीर्वाद प्राप्त किया।

इस प्रकार माता, पिता और गुरुकी आज्ञाके पालनके विषयमें

और भी बहुत-से उदाहरण शास्त्रोंमें मिलते हैं । हमें उनसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये ।

(२)

बालकोंको विद्याके साथ-साथ शिक्षापर विशेष ध्यान देना चाहिये । विद्याका अर्थ है—अनेक लिपियों और भाषाओंका ज्ञान । इनका भी अधिक-से-अधिक अभ्यास करना चाहिये; किंतु शिक्षाको तो अमृतके समान समझकर विशेषरूपसे ग्रहण करना चाहिये । शिक्षा ग्रहण करनेका अर्थ है—देश, कुल, वर्ण, आश्रम और शास्त्र-की मर्यादाके अनुसार सदाचारका पालन । इसीसे परम कर्तव्यरूप धर्मका प्रादुर्भाव होता है । महाभारतमें आया है—

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते ।
आचारप्रभवो, धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः ॥

(अनुशासनपर्व० १४९ । १३७)

'सभी शास्त्रोंमें आचारको प्रथम माना जाता है । आचारसे ही धर्मकी उत्पत्ति होती है और धर्मके स्वामी भगवान् अच्युत हैं ।'

बाहर और भीतरकी पवित्रताको आचार कहते हैं । न्यायोपार्जित द्रव्यसे प्राप्त शुद्ध और सात्त्विक आहारके द्वारा भोजनकी, मृत्तिका एवं जलके द्वारा शौच-स्नान करनेसे शरीरकी और स्वार्थत्यागपूर्वक सत्य व्यवहारसे आचरणोंकी शुद्धि होती है । यह बाहरकी पवित्रता है । इसी प्रकार ईश्वरभक्ति और निष्कामकर्मके द्वारा दुर्गुण-दुराचारों-का नाश होकर भीतरकी पवित्रता सम्पन्न होती है ।

बालकोंको अपनी दिनचर्या किस प्रकार सदाचारमय बनानी चाहिये, यह नीचे बताया जाता है।

प्रातःकाल चार बजे उठकर शौचसे निवृत्त हो दाँतन-कुल्ला और स्नान करना चाहिये। फिर अपने-अपने अधिकारके अनुसार संध्या-गायत्री, जप-ध्यान, पूजा-पाठ, स्तुति-प्रार्थना आदि नित्यकर्म करने चाहिये। उसके बाद माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम करके विद्याभ्यास और शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिये। फिर ११ बजे भोजन करके पुनः विद्याभ्यास तथा शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणकी उन्नतिके लिये माता-पिता और गुरुजनोंकी आज्ञाके अनुसार कार्य करना चाहिये। सायंकालमें पुनः संध्या-गायत्री, जप, ध्यान और स्वाध्याय आदि नित्यकर्म करने चाहिये। रात्रिके समय भोजन करके पुनः माता-पिता और गुरुजनोंके संतोषके लिये उनकी आज्ञाके अनुसार कार्य करना चाहिये। रात्रिमें १० बजेसे ४ बजेतक छः घंटे शयन करना चाहिये।

(३)

बालकोंको ईश्वर, महात्मा, परलोक, धर्म, शास्त्र और गुरुजनोंपर श्रद्धा-विश्वास करना चाहिये। आजकल लोग जो ईश्वरकी सत्तामें संदेह करते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं। ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें सबसे बड़े प्रमाण तो शास्त्र हैं। भगवान् गीतामें कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(१८।६१)

'अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ अन्तर्यामी परमेश्वर सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है।'

इसके सिवा ईश्वरको हिंदू, ईसाई, मुसल्मान—सभी आस्तिक मानते हैं एवं उनकी यह मान्यता युक्तिसंगत भी है। यदि कोई पूछे कि 'ईश्वर कहाँ है, कैसा है, कबसे है और कौन है?' तो इसका उत्तर यह है कि जो आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, तारे, विद्युत्, समुद्र आदिका उत्पादक और शासक है तथा कर्मानुसार सबको शुभाशुभ फल देता है, वही ईश्वर है। वह ईश्वर सर्वव्यापक है, सदासे है और चेतनस्वरूप है।

ईश्वरको मानना युक्तिसंगत किस प्रकार है, अब इस विषयपर विचार किया जाता है। थोड़ी देरके लिये मान लिया जाय कि ईश्वरका अस्तित्व संदेहास्पद है—उसके सम्बन्धमें निश्चितरूपसे न यह कहा जा सकता है कि 'वह है' और न यही कहा जा सकता है कि 'वह नहीं है'; परंतु संदेहकी स्थितिमें भी न माननेकी अपेक्षा मानना अधिक लाभदायक है। यदि वास्तवमें ईश्वर नहीं है, तो भी उसे माननेवाला किसी प्रकार नुकसानमें नहीं रहेगा; क्योंकि ईश्वरको माननेवाला कम-से-कम पाप और अनाचारसे तो बचा ही रहेगा तथा वह जीवमात्रको ईश्वरका स्वरूप, अंश अथवा संतान मानकर सबके साथ प्रेम एवं सहानुभूतिका बर्ताव करेगा, जिससे उसकी इस लोकमें अवश्य कीर्ति होगी। बदलेमें औरोंसे भी उसे सद्भाव एवं सहानुभूति ही मिलेगी। इससे उसका जीवन सुख-शान्तिसे बीतेगा और जगत्में

भी वह उत्तम आदर्शके द्वारा सुख-शान्तिका ही प्रसार करेगा। ईश्वरके न होनेपर भी उसकी सत्ता माननेसे इतना लाभ तो प्रत्यक्ष ही है। इसके विपरीत यदि ईश्वर वास्तवमें है तो उसे माननेवाले सब प्रकारसे लाभमें रहेंगे ही; क्योंकि वे ईश्वरके विधानको मानकर, उसकी आज्ञाके अनुसार चलकर उसकी प्रसन्नता प्राप्त करेंगे और इसके फलस्वरूप उन्हें इस लोकमें सुख-शान्ति, मान-प्रतिष्ठा, कीर्ति मिलेगी एवं मृत्युके बाद वे परम शान्तिस्वरूप परमात्माको प्राप्त होंगे। परंतु ईश्वरके रहते भी जो उसे न मानकर उसकी आज्ञाका उल्लङ्घन करते हैं, उसके जीवोंको सताते हैं, उन्हें जीते-जी बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ेगा और मरनेके बाद उनकी बहुत दुर्गति होगी—जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं, ईश्वरपर विश्वास करनेसे साधकोंको प्रत्यक्ष लाभ होते देखा जाता है। ईश्वरको माननेवालोंके दुर्गुण-दुराचारोंका नाश होकर उनके अन्तःकरणोंमें धीरता, वीरता, गम्भीरता, सहृदयता, दया, क्षमा, निर्भयता, शान्ति, श्रद्धा, प्रेम आदि सद्गुण अपने-आप आ जाते हैं। अतएव ईश्वरके अस्तित्वमें श्रद्धा-विश्वास करनेमें ही सबका सब प्रकारसे लाभ है।

इसी प्रकार परलोकके अस्तित्वके विषयमें भी शास्त्र ही सर्वोपरि प्रमाण हैं। भगवान् गीतामें कहते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥

(२। १२)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।'

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥
(२।१३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था—ये तीन अवस्थाएँ होती हैं, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति भी उसे होती है; उसके विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।'

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(२।२०)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
(२।२२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण

करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।'

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥
(१३। २१)

'प्रकृतिमें स्थित ही पुरुष (जीवात्मा) प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है।'

भगवान्‌के इन वचनोंसे तो परलोक सिद्ध है ही, युक्तिसे भी परलोक सिद्ध होता है। बालक जन्मनेके समय दुःख अनुभव करता है तो रोता है। जन्मनेके बाद जब सुख अनुभव करता है, तब वह हँसता है। भय उत्पन्न होनेसे वह कम्पित होता है। माताके स्तनोंसे वह स्वतः ही दूधका आकर्षण करता है। नींद आनेपर सोता है इत्यादि। उसकी ये क्रियाएँ पुनर्जन्मको सिद्ध करती हैं। जन्म लेनेके बाद यहाँ तो उसने यह सब सीखा नहीं; इसलिये पूर्वजन्मका अभ्यास ही इस जन्ममें उससे उपर्युक्त क्रियाएँ कराता है—यह मानना पड़ेगा। फिर संसारमें कोई तो पशु है, कोई पक्षी और कोई मनुष्य है एवं मनुष्योंमें भी कोई धनी, कोई निर्धन, कोई सुखी, कोई दुखी, कोई सुरूप, कोई कुरूप, कोई नीरोग और कोई रोगी देखनेमें आता है। ये सब विषमताएँ भी पूर्वजन्मको सिद्ध करती हैं। जब पूर्वजन्म है तो पुनर्जन्म भी है ही। यदि बिना ही कारण ईश्वरने ऐसी विषम सृष्टि उत्पन्न कर दी—यह माना जाय तो न्यायकारी दयालु ईश्वरपर निर्दयता और विषमताका दोष आयेगा,

जो सर्वथा अनुचित है। इसलिये युक्तिसे भी यही सिद्ध होता है कि परलोक अवश्य है।

फिर भी कोई मान सकता है कि परलोक नहीं है और इधर हम कहते हैं कि परलोक है; ऐसी स्थितिमें यदि उसीकी बात सत्य हो तो उससे भी हमारी कोई हानि नहीं; क्योंकि परलोक न होनेकी स्थितिमें परलोकको न माननेवालेका कोई विशेष लाभ होता हो और माननेवालेको कोई दण्ड होता हो—ऐसी बात तो है नहीं, किंतु यदि हमारे पक्षके अनुसार परलोक है तो हमारी मान्यता हमारे लिये बहुत लाभदायक सिद्ध होगी; क्योंकि हम परलोक मानकर दण्डके भयसे कोई भी बुरा काम नहीं करेंगे, अपितु इस लोक और परलोकमें सुख प्राप्त करनेके लिये अच्छा काम करेंगे, किंतु जो परलोक नहीं मानता, उसे पापका दण्ड तो भोगना ही पड़ेगा और बिना श्रद्धाके अच्छा काम न करनेके कारण वह सुखसे भी वञ्चित रह जायगा; अतः उसकी सब प्रकारसे हानि-ही-हानि है। अच्छे काम करनेवाले पुरुषका इस लोकमें प्रत्यक्ष मान होता है और जो बुरा काम करता है, वह प्रत्यक्ष ही घृणाकी दृष्टिसे देखा जाता है; उसका जीवननिर्वाह भी कठिन हो जाता है। इसलिये ईश्वर और परलोकको माननेमें सब प्रकारसे लाभ है और न माननेमें हानि-ही-हानि है। सुतरां ईश्वर और परलोकको अवश्य मानना चाहिये तथा सदा-सर्वदा उनको याद रखते हुए धर्मके अनुसार अपना जीवन बिताना चाहिये। इसीमें यहाँ-वहाँ सर्वत्र कल्याण है।



काममें लाने योग्य आवश्यक बातें

सबेरे कम-से-कम सूर्योदयसे एक घंटे पूर्व उठना चाहिये—जैसे ६ बजे सूर्योदय होता हो तो ५ बजे उठना। फिर शौच जाकर, हाथ-पैर-मुँह धोकर कुल्ला करके स्नान करना चाहिये। तदनन्तर अपने अधिकारके अनुसार संध्योपासना तथा गायत्री-जप करना चाहिये। संध्या और गायत्रीका जप सबेरे सूर्योदयसे पूर्व और सायंकाल सूर्यास्तसे पूर्व करना चाहिये तथा सभीको भगवन्नामजप, ध्यान, गीता-रामायण आदिका अर्थ और भावसहित पाठ, स्तुति-प्रार्थना आदि ईश्वरोपासना अवश्य करनी चाहिये। उसके बाद घरमें गुरुजनोंको प्रणाम करके तथा शरीरकी स्थितिके अनुसार व्यायाम करके अपने शरीरके अनुकूल दूध आदि पवित्र पदार्थोंका सेवन करना चाहिये। भोजन नित्य बलिवैश्वदेव करके एवं मौन होकर करना चाहिये।

निम्नलिखित नियमोंका पालन करना चाहिये—

(१) हाथका बुना हुआ पवित्र वस्त्र पहनना।

(२) व्यापारमें झूठ-कपटका, चोरबाजारीका और सेलटैक्स-इन्कमटैक्सकी चोरी आदिका त्याग करना एवं किसीको भी कष्ट न देते हुए दूसरोंको सुख पहुँचानेके उद्देश्यसे सबके साथ सत्यता और विनयपूर्वक निःस्वार्थभावसे व्यवहार करने और हर समय भगवान्‌को याद रखनेका प्रयत्न करना।

(३) बाजारकी, होटलकी, स्टेशनकी, खोमचेकी—बाहरकी बनी हुई किसी प्रकारकी मिठाई, पावरोटी, बिस्कुट-चाय आदिको काममें नहीं लाना । बाजारकी केवल प्राकृतिक चीजें—जैसे साग, फल, मेवा, दूध, घी, अनाज आदि पवित्र पदार्थोंको ही काममें लाना ।

(४) चमड़ेकी किसी भी चीजको काममें न लेना ।

(५) गाँजा-भाँग, बीड़ी-सिगरेट, तम्बाकू आदि मादक वस्तुओंका सेवन कभी नहीं करना ।

(६) ताश, चौपड़, लाटरी, जूआ आदिसे सदा दूर रहना ।

(७) सिनेमा, नाटक आदि नहीं देखना; क्योंकि इनमें हर प्रकारसे हानि ही है ।

(८) चमड़ा, चर्बी, हड्डी आदिसे सम्बन्धित अपवित्र—घृणित पदार्थोंको काममें नहीं लाना एवं उनका व्यापार भी नहीं करना ।

(९) फालतू कामोंमें, विषय-भोगोंमें, खेल-तमाशोंमें, पापकर्ममें, प्रमाद और आलस्यमें तथा अधिक सोनेमें अपने समयको बर्बाद नहीं करना ।

(१०) ऐश-आराम, भोग-विलास, स्वाद-शौकमें व्यर्थ खर्च न करना ।

(११) भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार आदि सद्गुणोंकी वृद्धिके लिये प्रयत्न करना ।

सर्वोपयोगी सार-सार बातें

यहाँ सार-सार बात बतलायी जाती है। एक तो अपने शरीरको कोई रोग हो जाय तो उसके वशीभूत नहीं होना चाहिये और बीमारीको बहुत महत्त्व नहीं देना चाहिये। महत्त्व देनेसे शरीरमें अभिमान, ममता और आसक्तिकी वृद्धि होती है।

दूसरी बात यह है कि शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियोंसे हर समय काम लेना चाहिये और उत्तम-से-उत्तम काम लेना चाहिये। सर्वश्रेष्ठ बात तो यह है कि जिससे अपने आत्माका कल्याण हो, उद्धार हो—वैसा ही काम हमें शरीर आदिसे लेना चाहिये।

तीसरी बात यह है कि अपनेमें कोई बुरी आदत हो या कोई दुर्व्यसन हो तो उसको दूर करनेके लिये उससे सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तियों और पदार्थोंका त्याग कर देना चाहिये। नहीं तो उसका दूर होना कठिन है। उदाहरणके लिये यदि हमारी पाँच व्यक्तियोंके साथ बैठकर ताश या चौपड़ खेलनेकी बान पड़ गयी हो तो उस बुरी आदतको छुड़ानेके लिये जहाँ लोग ताश-चौपड़ खेलते हों, वहाँ उनके पास कभी नहीं जाना चाहिये। यदि कहीं इस प्रकारका संयोग उपस्थित हो जाय तो दूरसे ही उस मार्गसे हट जाना चाहिये। अथवा कोई कुमार्गमें जानेवाला मनुष्य हो और उसके सङ्गसे अपनेमें कोई बुरी आदत आ गयी हो तो पुनः उस कुमार्गगामी पुरुषका कभी सङ्ग ही न करे। संसारके लोगोंमें या अपनेमें जितनी भी बुरी आदतें हैं, सब-की-सब प्रायः आसक्तिके

ही कारण हैं। आसक्तिका नाम ही सङ्ग है। संयोगका नाम भी सङ्ग है। अतः उक्त दोनों ही अर्थोंमें सङ्गका त्याग कर देना चाहिये।

आसक्तिका त्याग हो सके, तब तो आसक्तिका ही त्याग करना चाहिये; सर्वोत्तम बात यही है; किंतु हम यदि ऐसा न कर सकें तो बुराईके साथ कम-से-कम सम्बन्धविच्छेद तो कर ही देना चाहिये। जगत्‌में जितने और जो भी मनुष्य हैं, उनसे अधिकांश जो पाप होते हैं, उनका विशेष कारण आसक्ति ही है। यह आसक्ति इसलिये है कि भोगोंमें हमारी सुख-बुद्धि है, हमें भोगोंमें सुखकी प्रतीति होती है। वास्तवमें भोगोंमें सुख है ही नहीं। ऐसी दशामें विवेकद्वारा बुद्धिसे मनको समझाना चाहिये और समझा-बुझाकर इस सुख-बुद्धिका त्याग कराना चाहिये।

समय नामकी जो वस्तु है, वह बहुत ही मूल्यवान् है। लाख रुपया व्यय करनेपर भी एक क्षणका भी समय नहीं मिल सकता। अतः हमको अपने समयका आदर करना चाहिये। जो समयका आदर करता है, वह कालको जीत लेता है अर्थात् जन्म-मरणसे सदाके लिये छूट जाता है। फिर उसे काल कभी नहीं मार सकता। यों समझना चाहिये कि अपने समयको बर्बाद करना मनुष्य-जन्मको नष्ट करना है। एक ओर रुपया हो और दूसरी ओर समय, तो समयके लिये रुपयोंका त्याग किया जा सकता है; किंतु अपने समयको अवश्य उत्तम काममें लाना चाहिये।

जो अनुभवी पुरुष हैं, उनके सङ्गसे हमें लाभ उठाना चाहिये। इसी प्रकार जो वयोवृद्ध अर्थात् अवस्थामें अपनेसे

बड़े हों, उनके परिपक्क अनुभवसे भी लाभ उठाना चाहिये। साथ ही महात्माओं, ज्ञानियों, सज्जनों और भक्तोंके तथा जितने भी उच्च कोटिके अच्छे-अच्छे पुरुष हैं, उनके सङ्गका तो अवश्य ही लाभ लेना चाहिये। इसके विपरीत नास्तिक, पापी, नीच और दुर्व्यसनी पुरुषोंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये। उनके साथ मित्रता तो कभी करे ही नहीं। यदि किसी समय उनसे भेंट हो भी जाय तो भीतरसे प्रीति नहीं करनी चाहिये, मनमें उनके प्रति उपेक्षा-बुद्धि ही रखनी चाहिये। योगदर्शनमें बतलाया गया है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।'
(१।३३)

'सुखी, दुखी, पुण्यात्मा और पापात्माओंमें क्रमशः मित्रता, दया, प्रसन्नता और उपेक्षाकी भावनासे चित्त शुद्ध होता है।'

ऊपरसे संयोग होनेपर भी भीतरसे जो उपेक्षा है, वह बहुत मूल्यवान् वस्तु है। बाहरका संयोग हानि नहीं पहुँचा सकता, यदि भीतरमें उपेक्षा हो। जैसा कि पहले कह आये हैं कि 'सङ्ग' शब्द आसक्तिका वाचक है और संयोगका भी। भीतरसे आसक्ति (प्रीति) का त्याग कर दिया जाय तो बाहरका संयोग उतना हानिकारक नहीं होता।

परमात्माने जो कुछ भी ज्ञान अपनेको दिया है, उसका ठीक-ठीक उपयोग करना चाहिये। ठीक उपयोग किये जानेसे उत्तरोत्तर उस ज्ञानकी वृद्धि होती है और वृद्धि होते-होते

उस बढ़े हुए ज्ञानके द्वारा परमात्माको जानकर मनुष्य मुक्त हो जाता है। परमात्माके विषयका जो ज्ञान है, उसे उत्तरोत्तर खूब बढ़ाना चाहिये। ईश्वरने जो हमलोगोंको ऐश्वर्य अर्थात् भोग-सामग्री दी है, उसका भी उचित रूपमें उपयोग करना चाहिये। अवश्य ही यह समझना चाहिये कि यह जो सामग्री भगवान्ने हमको दी है, वह आत्माके कल्याणके लिये दी है, न कि भोगके लिये। उन सम्पूर्ण सामग्रियोंको ईश्वरकी सम्पत्ति समझकर और सबमें ईश्वरको व्यापक जानकर उन सामग्रियोंसे जगद्रूप जनार्दनकी सेवा करना ही मुक्तिका मार्ग है। भगवान्की दी हुई सामग्रीसे ही भगवान्की सेवा करनी चाहिये। यों समझना चाहिये कि 'हम तो निमित्तमात्र हैं, भगवान्की सामग्री भगवान्को ही अर्पण कर रहे हैं। इसमें हमारा क्या है, हमारे द्वारा तो उन्हींकी वस्तु उन्हींको सौंपी जाती है। उनकी वस्तु उन्हें न देकर यदि हम अपने उपभोगमें लायें तो यह तो एक प्रकारसे चोरी ही है।' भगवान् गीतामें कहते हैं—

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥
(३।१२)

'देवताओंकी दी हुई वस्तुको जो उन देवताओंको दिये बिना ही स्वयं भोगता है, वह चोर ही है।'

अतएव भगवान्की दी हुई वस्तु उन्हें अर्पित करके यदि हम शरीर-निर्वाहके लिये काममें लायें, तब तो वह हमारे लिये भगवान्का प्रसाद बन जाता है और उस भगवत्प्रसादसे बुद्धि शुद्ध होकर

हमारे आत्माका कल्याण हो जाता है। यह एक प्रकारसे सिद्धान्तकी बात है कि हमारे पास जो कुछ है, उसपर प्राणिमात्रका अधिकार है। इसलिये सबको देनेके बाद जो बच रहे, वही हमारे लिये प्रसाद है। अपने शरीरमें तथा मन, बुद्धि एवं इन्द्रियोंमें जो बल है, उसीका नाम आत्मबल है। क्योंकि मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर—सबका नाम आत्मा है। यदि हम इनका दुरुपयोग करेंगे तो आगे जाकर हमें घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इसलिये पहलेसे ही सावधान रहकर हमें अपनी शक्ति और सामग्रीका उपयोग उचित रूपसे करना चाहिये। भगवान्‌ने जो सामग्री हमको दी है, वह आत्माके कल्याणके लिये दी है। जो भी मनुष्य इस प्रकारकी सामग्रीको पाकर अपने आत्माका कल्याण नहीं करता, उसे आगे जाकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ता है, यद्यपि समय बीत जानेपर इस पश्चात्तापसे कोई विशेष लाभ नहीं होता। इन सब बातोंको सोचकर हमें भगवत्कृपासे प्राप्त सामग्री और सामर्थ्यका उचित उपयोग करना चाहिये। अपने मन, बुद्धि, इन्द्रियोंमें जो शक्ति है, उसके सदुपयोगमात्रसे हमारा कल्याण हो सकता है; और कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है। यह शक्ति ही पर्याप्त है। इसका उपयोग हम ठीक करें तो थोड़े ही समयमें इसी शक्तिके द्वारा हम भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं; किंतु यदि इसका उपयोग हम ठीकसे न करें तो सौ वर्ष बीत जानेपर भी हम उस लाभसे वञ्चित ही रह जाते हैं और अन्तमें यह सब सामग्री हमारे लिये बेकार हो जाती है; क्योंकि उससे हमारा सम्बन्धविच्छेद हो जाता है। किसी भी वस्तुके साथ संयोग होनेपर उसका वियोग अवश्यम्भावी

है; क्योंकि संयोग वियोगको लिये हुए ही होता है अर्थात् संयोगका परिणाम वियोग निश्चित है। यह समझकर जबतक शरीर, मन, बुद्धि एवं इन्द्रियोंके साथ हमारा संयोग है, तभीतक उनसे जो कुछ लाभ हमें उठाना हो उठा लेना चाहिये। इसी प्रकार जो हमारे कुटुम्बी हैं—स्त्री है, पुत्र हैं तथा और जितने भी हमारे सम्बन्धी अथवा प्रेमी हैं, उनका भी उपयोग हमलोगोंको उचितरूपसे करना चाहिये। उन सबको भगवान्‌की सेवामें लगा देना ही उनका समुचित उपयोग है और यही हमारा उनके प्रति सबसे बड़ा कर्तव्य है। स्त्री हो तो उसे भी हम भगवान्‌की भक्तिमें लगायें। पुत्र हो तो उसे भी और जो हमारे प्यारे मित्र, कुटुम्बी आदि हों, उन सबको भी, जिससे उनका कल्याण हो, ऐसे काममें लगाना ही हमारा कर्तव्य है। सबके कल्याणके अन्तर्गत ही हमारा अपना कल्याण है। अपने कल्याणके लिये भगवान्‌से कोई अलग प्रार्थना नहीं करनी है। सबमें ही तो हम हैं। दूसरोंके हितके लिये हम अपने ऐश्वर्यका त्याग कर देते हैं—यह तो महत्त्वका कार्य है ही; इससे भी बढ़कर मूल्यवान् कार्य यह है कि दूसरोंके कल्याणके लिये हम अपने कल्याणका भी त्याग कर दें। यह और भी महत्त्वपूर्ण त्याग है। मान लीजिये भगवान् हमसे यह कहें कि मैं एकको दर्शन दे सकता हूँ, चाहे तुम कर लो या जिसे तुम कराना चाहो, उसे करा दो। ऐसा अवसर आनेपर यदि हम स्वयं दर्शन न करके किसी दूसरेको दर्शन देनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करें तो यह त्याग हमारे लिये विशेष मूल्यवान् है।

दूसरोंके साथ हम जो व्यवहार करते हैं, उनकी सेवा करते हैं, उनके प्रति उदारताका बर्ताव करते हैं—यह भी हमारा बहुत उत्तम कार्य है; किंतु इससे भी महत्त्वकी बात यह है कि हमारे निःस्वार्थ उत्तम आचरणके प्रभावसे दूसरा पुरुष भी वैसा ही बन जाय। मान लीजिये कि मैंने किसीका उपकार किया, सेवा की और उसके हृदयपर यह छाप पड़ी कि 'किसीका उपकार करना, सेवा करना उत्तम बात है; मेरे द्वारा भी किसीकी सेवा बन जाय तो मेरा अहोभाग्य है'—इस प्रकारका भाव उसके हृदयमें उत्पन्न हो गया तो यह हमारे द्वारा उसकी विशेष सेवा हुई। दूसरोंको शिक्षा देनेकी यह बहुत अच्छी पद्धति है। हम किसीको कहें कि 'तुम लोगोंका उपकार किया करो, सेवा किया करो' इसकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावोत्पादक तरीका यह है कि हम उसकी निःस्वार्थ सेवा करके अपनी क्रियासे उसे शिक्षा दें, केवल उपदेश देकर नहीं।

इसी प्रकार जो मनुष्य स्वयं सत्य बोलता है, ब्रह्मचर्यका पालन करता है, ईश्वरकी भक्ति करता है, उसका जो लोगोंके मनपर यह असर पड़ता है कि सत्य बोलना चाहिये, ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये, ईश्वरकी भक्ति करनी चाहिये, यह शिक्षा देनेका प्रकार बहुत ही उच्चकोटिका है। वाणीके द्वारा शिक्षा या उपदेश देनेका उतना मूल्य नहीं है, जितना आचरण करके उस आचरणके द्वारा शिक्षा देनेका है।

साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि हमारे अंदर

कहीं दिखाऊपन न आ जाय, अथवा अहंकार न आ जाय कि 'मैं शिक्षा देनेवाला हूँ, मुझसे लोग शिक्षा लें, लोग मेरे आचरणको देखकर, उसे आदर्श मानकर ग्रहण करें।' यह भाव हमारे मनमें नहीं आना चाहिये, अपितु यह भाव आना चाहिये कि लोगोंका कल्याण कैसे हो, लोग उच्चकोटिके कैसे बनें।

पिता स्वयं विद्वान् होनेपर भी अपने लड़केको, अपनेसे जो अधिक विद्वान् होते हैं, उनके पास शिक्षा लेनेके लिये भेजता है; क्योंकि वह हृदयसे चाहता है कि मुझसे भी अधिक योग्य मेरा लड़का बने। इसी प्रकार हमलोगोंको सबके हितकी चेष्टा करनी चाहिये। क्योंकि लड़का ही क्यों, और लोग भी तो हमारे भाई हैं। सभी हमारे पूज्य हैं, सभी हमारे मित्र हैं। इतना ही नहीं, वेदान्तके सिद्धान्तके अनुसार तो सभी हमारे आत्मा, हमारे अपने स्वरूप हैं। इन सबका जो कल्याण है, वह हमारा ही तो कल्याण है। भाई-भाईमें तथा अपने कुटुम्बमें और मित्रोंमें जब बहुत अधिक प्रेम होता है, तब उनके लाभसे मनुष्य अधिक प्रसन्न होता है। अपने लाभसे तो सभी हर्षित होते हैं। इससे यह समझना चाहिये कि सबको अपना आत्मा ही सबसे अधिक प्यारा है; किंतु अपने आत्मासे भी बढ़कर जब दूसरे प्यारे होते हैं, तब उनके लाभसे अधिक प्रसन्नता होती है। होनी भी यही चाहिये। यही तो इस बातकी परीक्षा है कि हमारा आत्मभाव कितना अधिक विस्तृत हुआ है।

मान लीजिये, हमें एक लाख रुपये मिले और हमारे मित्रको

दो लाख रुपये मिले। अब यदि मित्रको अधिक रुपया मिलनेपर हमें अधिक प्रसन्नता हो, तब यह समझना चाहिये कि हमारा उसके साथ सच्चा मैत्रीभाव है और वह हमें प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारा है, शरीरसे भी बढ़कर प्यारा है। इसी प्रकार दूसरोंको उन्नत देखकर हमें अधिक प्रसन्नता होनी चाहिये। यह बहुत ही उच्चकोटिका भाव है

यहाँ यह बात समझनेकी है कि हमें जो पुत्र प्यारा लगता है, वह पुत्रके लिये नहीं, अपितु हमारे लिये ही प्यारा लगता है अर्थात् हमारे स्वार्थके लिये ही हमें अपना पुत्र प्यारा लगता है। हमारी स्त्री जो हमको प्यारी लगती है, वह हमारे सुखके लिये ही प्यारी लगती है। किंतु यह तो एक स्वार्थकी बात है, जो सारे संसारमें पायी जाती है। उच्चकोटिकी बात तो यह है कि हम जिससे भी प्यार करें, उसके लिये ही करें—न कि अपने स्वार्थके लिये; क्योंकि महात्मालोग जिस किसीसे भी प्यार करते हैं, उसके हितके लिये ही करते हैं, अपने स्वार्थके लिये नहीं। यह भाव जिनके हृदयमें होता है, उन्हींका असर होता है और उन्हींकी शिक्षा लगती है। भगवान्‌की दयासे सब लोगोंका उद्धार हो जाय, सबका कल्याण हो जाय, सब भगवान्‌के भक्त बन जायँ—ऐसा भाव मनमें रखना बहुत ही उत्तम है।

एक मनुष्य अपना कल्याण चाहता है और दूसरा सबका कल्याण चाहता है, उन दोनोंमें सबका कल्याण चाहनेवाला ही अति उत्तम है। भगवान्‌के यहाँ किसी बातकी कमी तो है नहीं।

वे चाहें तो एक क्षणमें सबका कल्याण कर सकते हैं, परमात्माके पास मुक्तिका जो भण्डार है, वह तो अटूट है ।

सबका कल्याण हो जाय, ऐसा भाव रखना तो उत्तम है; किंतु अपना प्रभाव दूसरोंपर पड़े, यह इच्छा रखनेसे अहंकार आता है । अतः ऐसा उपाय सोचना चाहिये कि जिससे अहंकार भी न आये और दूसरोंके कल्याणका भाव भी मनमें बना रहे । इसके लिये यह भाव रखना उत्तम है कि किसीके द्वारा भी हो, सबका कल्याण होना चाहिये । लोगोंके कल्याणमें मैं ही निमित्त बनूँ, ऐसा आग्रह रखना ठीक नहीं । निमित्त भगवान् चाहे किसीको बनायें, अपने तो यही भाव रखना चाहिये कि सबका परम हित हो अर्थात् सबका कल्याण हो ।

ध्यानसहित भगवान्‌का नाम-जप करना बहुत ही उत्तम है । उसे सभी कोई करें । हमारी बात मानकर ही करें, ऐसी बात नहीं । अपने गुरुकी बात मानकर, अच्छे-अच्छे महात्मा पुरुषोंकी बात मानकर या किसीकी भी बात मानकर भगवान्‌का भजन-ध्यान करें, जिससे उनका कल्याण हो । किंतु हमारी जो उत्तम क्रिया है, उसको लोग देखेंगे अथवा धारण करेंगे तो उनका भी हित होगा—इस प्रकार अपनी क्रियाओंमें उत्तमताकी कल्पना करना अच्छा नहीं; क्योंकि उससे अभिमान बढ़ता है । अतः हमें तो यही समझना चाहिये कि मेरी क्रिया अत्यन्त साधारण है; जो उत्तम पुरुष हैं, उन्हींका अनुकरण करना चाहिये ।

आत्मकल्याणके लिये तमोगुणके त्यागकी विशेष आवश्यकता

प्रकृतिके तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम। इनमें सत्त्वगुणका सेवन ही परम श्रेयस्कर है। भगवान् श्रीमद्भगवद्गीतामें कहते हैं—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

(१४। १८)

'सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रह जाते हैं और तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यमें स्थित तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि नीच योनियोंको तथा नरकोंको प्राप्त होते हैं।'

इसका अभिप्राय यह है कि सत्त्वगुणी पुरुष अर्चिमार्गके द्वारा उच्च लोकोंमें होते हुए परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं। राजसी मनुष्य यहीं रह जाते हैं—यानी पुनः मनुष्ययोनि पाते हैं। इसीसे उनके लिये 'गच्छन्ति' न कहकर 'तिष्ठन्ति' (स्थित रहते हैं) कहा गया है और घृणित वृत्तियोंमें लगे हुए तामसी मनुष्य अधोगतिको जाते हैं। 'अधः' के दो भेद हैं—महायन्त्रणादायक नरकादि लोकविशेष और शूकर-कूकरादि, कृमि-कीटादि योनिविशेष। इनमें महारौरव, कुम्भीपाक आदि नरक महान् कष्टदायक होनेके कारण विशेष निम्नश्रेणीके हैं।

इसीसे भगवान् कहते हैं—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

(गीता १६ । २०)

'हे अर्जुन ! वे मूढ़लोग मुझको न प्राप्त होकर जन्म-जन्ममें आसुरी (पशु-पक्षी, कृमि-कीटादि) योनिको प्राप्त होते हैं; फिर उससे भी अत्यन्त नीची गति (कुम्भीपाकादि नरकों) में जाते हैं ।'

भगवान्ने कृपा करके जीवको मनुष्य-शरीर प्रदान ही इसलिये किया है कि वह साधनद्वारा मुक्तिको प्राप्त करे । भगवान्की ओरसे मनुष्यमात्रको मुक्तिका अधिकार है; पर जब मनुष्य स्वयं ही मुक्तिकी अवहेलना करके तामसी वृत्तियोंके सेवनमें लग जाता है, तब क्या किया जाय !

तामसी वृत्तियोंमें प्रधान तीन हैं—प्रमाद, आलस्य और निद्रा । प्रमादका अर्थ है न करनेयोग्य कर्मका करना और करनेयोग्यका न करना । मनुष्यके लिये दैवी सम्पत्तिके गुणोंका सेवन कर्तव्य है, यही महान् पुण्यकर्म है, मनुष्य इनका सेवन नहीं करता । और आसुरी सम्पदाके गुणोंका सेवन कभी भी कर्तव्य नहीं है; क्योंकि उनके फलस्वरूप अधोगति, आसुरी योनि तथा नरकोंकी प्राप्ति होती है । फिर भी वह उनका सेवन करता है । यही प्रमाद है । यह तमोगुणका एक प्रधान स्वरूप है । ऐसा तमोगुणी पुरुष न भगवान्को मानता है, न धर्मको और न माता-पिता आदि गुरुजनोंको । वह अशुभ कर्म करता है, व्यर्थ चिन्तन और बकवाद करता है,

सबकी निन्दा करता है और पूर्ण उद्दण्डताके साथ मनमाने आचरण करता है तथा उसीमें गौरवका अनुभव करता है ।

तमोगुणका दूसरा स्वरूप है—(सत्) कर्मकी अवहेलना करना, उसे टालते रहना, उत्तरदायित्व न मानकर व्यर्थ समय नष्ट करना, जीवनके अमूल्य क्षणोंको व्यर्थ बिताना—यह आलस्य है, इसीको दीर्घसूत्रता कहते हैं ।

इनके अतिरिक्त तीसरा स्वरूप है—रात-दिन अधिकांश समय सोनेमें ही बिताना । ध्यानमें बैठे तो नींद; काम करने बैठे तो नींद; सदुपदेश, कथा-भागवतादि सुनने बैठे तो नींद; अतिथि-सत्कारमें लगे तो नींद; कोई कामकी बात सुना रहे हैं तो नींद; कर्तव्यपालनमें भी नींद । बस खाया और तानकर सो गये । ऐसे लोग देखे गये हैं जो आठ-आठ, नौ-नौ घंटे सोनेमें बिता देते हैं और जागते हैं तो अपने समयको खाने-पीनेमें तथा गप्प-गुलछर्रे उड़ाने, ताश-चौपड़ खेलने, व्यर्थ बकवाद करने और निषिद्ध कर्मोंके आचरणमें ही खो देते हैं । फिर सो जाते हैं ।

इन दुर्गुणोंसे ग्रस्त प्रमादी मनुष्योंको ही समाजमें उद्दण्ड, निरङ्कुश, स्वेच्छाचारी, अकर्मण्य, आलसी, दीर्घसूत्री, आवारे आदि नामोंसे पुकारा जाता है । इन्हें न कर्तव्यका ज्ञान है, न विनय-नम्रताका ध्यान है, ये बात-बातमें अकड़े रहते हैं, किसीका कोई अङ्कुश नहीं मानते, मनमानी करने या पड़े रहकर समय नष्ट करनेमें सुखका अनुभव करते हैं, तुरंत काम करना जानते ही नहीं; टालते रहनेमें ही आराम देखते हैं । इस प्रकार प्रमाद, आलस्य

और निद्रामें पड़े हुए मनुष्य मानव-जीवनके परम लाभ भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित रहकर अधोगतिको प्राप्त होते हैं।

महाभारत, उद्योगपर्वके अन्तर्गत एक सनत्सुजातीयपर्व है। इसमें ब्रह्माजीके सनकादि चार पुत्रोंमेंसे सनत्सुजातके द्वारा धृतराष्ट्रको उपदेश दिये जानेका प्रसङ्ग है। धृतराष्ट्रने पूछा—'भगवन्! मैं सुना करता हूँ, आपके सिद्धान्तमें तो मृत्यु है ही नहीं और देवता आदिने मृत्युसे बचनेके लिये ब्रह्मचर्यका पालन किया था, तो इन दोनोंमेंसे कौन-सी बात ठीक है?' इसके उत्तरमें सनत्सुजातने कहा—'प्रमाद ही मृत्यु है और अप्रमाद अमृत है। प्रमादके कारण ही आसुरी सम्पदावाले (तमोगुणी) लोग मृत्युसे पराजित हैं और अप्रमादसे ही दैवी सम्पदावाले (सात्त्विक) मनुष्य अमृतको प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं × × × × मिथ्या भोग-विषयोंमें आसक्ति हो जानेके कारण मनुष्यकी ज्ञानशक्ति लुप्त हो जाती है और वह सब ओरसे विषयोंका चिन्तन करता हुआ मन-ही-मन उनका आस्वादन करता है। यह विषय-चिन्तन ही (प्रमादका कारण होकर) मृत्युके समीप पहुँचा देता है। फिर काम, क्रोध आदि मिलकर मनुष्यको मृत्युके मुखमें डाल देते हैं।'

सत्य ही है जो विषयपरायण मनुष्य ऐश-आराम, भोग-विलास, काम-क्रोधमें जीवन बिताता है, उसकी आयु घटती ही है। तमोगुण इन प्रमाद, आलस्य, निद्राके द्वारा ही जीवात्माको बाँधता है—

प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।

(गीता १४। ८)

जैसे मजबूत रस्सेसे बाँध देनेपर पशु कहीं भी भागकर नहीं जा सकता, वैसे ही तमोगुणके प्रमादालस्यनिद्रारूपी रस्सेसे बँधा मनुष्य बँधा-बँधा ही मर जाता है। यह अनुभवी महापुरुषोंका कथन है।

कामोपभोगपरायण तमोगुणी मनुष्य ही आसुरी सम्पदाके बद्ध प्राणी है। आसुरी सम्पदाके मुख्य दुर्गुण तीन हैं—काम, क्रोध और लोभ। भगवान्ने कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥

(गीता १६। २१)

'काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतएव इन तीनोंका त्याग करना चाहिये।'

इन्हीं दुष्ट दुर्गुणोंको अपनानेसे मनुष्यका घोर अधःपतन होता है। अतएव दृढ़तापूर्वक इनका त्याग करना चाहिये। इनके त्यागसे प्रमादका त्याग हो जाता है और प्रमादके त्यागसे इनके पूर्ण त्यागमें सहायता मिलती है।

भगवान्ने बड़ी कृपा करके मनुष्यदेह दिया है। देवता भी इसकी आकाङ्क्षा करते हैं। श्रीतुलसीदासजीने रामचरितमानस उत्तरकाण्डमें कहा है—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥

(४२। ४)

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(४३। ३)

भगवान्की इस अहैतुकी कृपाका समादर करके मनुष्य-देहका

यथार्थ लाभ उठाना चाहिये। इसके लिये तमोगुणसे तो बचना ही चाहिये। रजोगुणका भी यथासाध्य भगवत्सेवामें ही प्रयोग करना चाहिये।

रजोगुणका कार्य कर्म-प्रवृत्ति है; अतः ऐसे ही कर्मोंमें प्रवृत्त होना चाहिये जो भगवान्‌की प्रीति बढ़ानेवाले, लोकहितकर हों। रजोगुणजनित चञ्चलतासे दूर रहना चाहिये। रजोगुण यदि सत्त्वमुखी नहीं हुआ तो तमोगुणके साथ मिलकर तमोगुण-सा ही बन जाता है। ये दोनों ही सत्त्वगुणसे दूर हैं; अतः परमार्थसे दूर ले जानेवाले हैं। इनमें तमोगुणसे रजोगुणकी दूरी उतनी नहीं है, जितनी सत्त्वगुणकी है। जैसे एक (१) का अङ्क है, उसपर शून्य (०) लगा दिया तो दस हो गये; एकसे नौकी दूरी हो गयी। पर यदि उसपर एक शून्य और लगा दिया जाय और १०० का अङ्क हो जाय तो उसकी एकसे निन्यानबेकी दूरी हो जायगी। इसी प्रकार सत्त्वगुण तो मानो सौकी संख्या है, रजोगुण दसकी तथा तमोगुण एककी। रजोगुण तमोगुणसे दस ही गुना दूर है, इसलिये इनके मिलनेमें देर नहीं होती; पर सत्त्वगुण तो सौगुना दूर है। अतएव तमोगुणसे अपनी रक्षा चाहनेवालोंको रजोगुणसे भी सतर्क रहकर उसका यथायोग्य त्याग करना चाहिये। तमोगुणका तो सर्वथा त्याग आवश्यक है। सारे पापोंका उद्गमस्थान प्रायः तमोगुण है। तमोगुणी मनुष्य भगवान्‌के यहाँ तो जा सकते ही नहीं। उन्हें नरकोंमें भी ठौर नहीं मिलती।

मनुष्य-शरीर सहज ही नहीं मिलता, बहुत कम जीव मनुष्य

हो पाते हैं। मनुष्यलोकमें अधिक मनुष्योंके लिये स्थान ही नहीं है। आजके युगमें हमारे देखनेमें पृथ्वीपर मनुष्योंकी संख्या लगभग तीन अरब होगी। पर अन्यान्य जीव तो असंख्य हैं। एक-एक क्षुद्र खेतमें छोटे-छोटे अरबों जीव रह सकते हैं। उनके लिये पर्याप्त स्थान है। आज किसी देशमें यदि अरब मनुष्य पैदा हो जायँ तो स्थानकी बड़ी ही कठिनता हो जाय। देवताओंका स्थान भी इतना संकुचित नहीं है, जितना मनुष्योंका। अतः मनुष्य-शरीर देवताओंके लिये भी दुर्लभ है। ऐसे दुर्लभ मानव-शरीरको पाकर जो तमोगुणमें रत हो कामोपभोगमें ही जीवन बिता देता है, वह आत्महत्यारेकी गतिको प्राप्त होता है---

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

(श्रीराम० उत्तर० दोहा ४४)

इन सब बातोंपर विचार करके मानव-जीवनको काम, क्रोध, लोभसे बचाकर भगवान्‌की सेवारूप सत्त्वगुणके कार्योंमें ही लगाना चाहिये। यद्यपि संसारमें रहनेवाले लोगोंको काम, क्रोध, लोभका सामना करना पड़ता है और वे काम, क्रोध, लोभ तामस, राजस—दो प्रकारके होते हैं। जैसे--

(१) अपनी विवाहिता धर्मपत्नीके साथ शास्त्रोक्त विधिके अनुसार मर्यादित रमण करना राजस है, उससे नरकोंकी प्राप्ति नहीं होती; पर जो शास्त्रविरुद्ध अनुचित सङ्ग होता है, वह तामस है, फिर चाहे वह अपनी पत्नीसे ही क्यों न हो। उससे अधःपतन होता है।

(२) अपनी संतान, प्रजा आदिके हितके लिये पिता और शासकका अभिनयके रूपमें क्रोध करना राजस है, उससे अधःपतन नहीं होता। पर दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये जो अनुचित क्रोध किया जाता है, वह तामस है और उससे अधःपतन होता है।

(३) आजीविकाके लिये सत्य और न्यायकी रक्षा करते हुए धन कमानेकी इच्छा करना और अनुचित व्ययसे धनको बचाना उचित लोभ है, अतः राजस है। इससे अधःपतन नहीं होता; क्योंकि ऐसा लोभी मनुष्य तो झूठ, कपट, चोरी, बेईमानीके धनको विषवत् समझता है और माता-पिता, आतुर, अनाथ, सत्पात्र, धर्मकार्य आदिके निमित्त धनका व्यय करनेमें उत्साही रहता है। किंतु जो धनको चाहे जैसे भी प्राप्त करनेकी लालसासे अन्यायपूर्वक झूठ, कपट, छल, चोरी, बेईमानीसे धन कमाना चाहता है और उचित स्थानपर माता-पिता, गुरु, अनाथ-गरीबकी सेवा आदिमें धनका व्यय करनेमें कंजूसी करता है, उसका वह अनुचित लोभ तामस है और उस तामसी पुरुषका अधःपतन होता है।

यह होनेपर भी मनुष्यको राजसी काम, क्रोध, लोभसे भी बचना चाहिये; क्योंकि राजसी होते-होते ये तामसी हो जाते हैं और बुद्धिनाशमें कारण बनकर हमारा सर्वनाश कर देते हैं। अतएव इन काम, क्रोध, लोभको समूल नष्ट करनेके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये और वैराग्यरूपी शस्त्रके द्वारा भगवत्कृपाके आश्रयसे इनका विनाश सहज ही किया जा सकता है।



आत्महत्या करने अथवा घर छोड़कर निकल भागनेका दुष्परिणाम

आजकल समाचार-पत्रोंमें प्रायः ऐसे समाचार देखने, पढ़ने एवं सुननेमें आया करते हैं कि अमुक व्यक्तिने अमुक कारणसे आत्महत्या कर ली अथवा अमुक व्यक्ति घर छोड़कर निकल भागा आदि-आदि। यहाँ इस लेखमें इस प्रकारकी चेष्टाओंके दुष्परिणामके सम्बन्धमें विचार किया जाता है।

बहुत-से स्त्री-पुरुष, बालक एवं बालिकाएँ आवेशमें आकर आत्महत्या कर लेते हैं—यह उनकी बिल्कुल नासमझी है। सभी योनियोंमें मनुष्य-योनिको ही श्रेष्ठ बताया गया है; यह बात शास्त्रसंगत, युक्तिसंगत एवं प्रत्यक्ष भी है ही। मनुष्य-योनि ही एक ऐसी योनि है, जिसमें इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण सुखोंकी

प्राप्तिका साधन किया जा सकता है एवं सबको सुख पहुँचाया जा सकता है। और किसी प्राणीमें ऐसी शक्ति नहीं है कि वह सबको सुख पहुँचा सके। शास्त्रोंमें तो यहाँतक कहा गया है कि मनुष्य-जीवनके अतिरिक्त और किसी जीवनमें अपने आत्माका कल्याण भी नहीं हो सकता। और तो और, इस मनुष्य-शरीरको पानेके लिये देवतालोग भी तरसते हैं। जो लोग आत्महत्या करके ऐसे अमूल्य शरीरसे हाथ धो बैठते हैं, उनसे अधिक बेसमझ और कौन हो सकता है? गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने रामचरितमानस उत्तरकाण्डमें कहा है—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
(४२।४)

अर्थात् यह मनुष्यका शरीर बड़े भाग्यसे मिलता है, वह देवताओंके लिये भी दुर्लभ है—यह बात अच्छे-अच्छे ग्रन्थ कहते हैं।

इतना ही नहीं, गोस्वामीजी कहते हैं कि जीव जब चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करता हुआ तंग आ जाता है, तब उसके कष्टको देखकर भगवान् ही अपने परम दयालु स्वभावके कारण कृपा करके उसे मनुष्यका शरीर प्रदान करते हैं—

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
(४३। २-३)

ईश्वरकी अहैतुकी कृपा और दयासे जो यह मनुष्य-शरीर मिला है, उससे हमें विशेष लाभ उठाना चाहिये। उत्तम देश, उत्तम समय,

उत्तम जाति, उत्तम सङ्ग, उत्तम धर्म—ये सब ईश्वरकृपासे मनुष्य-शरीरमें ही मिलते हैं, जो हमलोगोंको प्राप्त है। इतना ही नहीं, परमदयालु ईश्वरने हमें बुद्धि, विवेक, शक्ति तथा सभी अनुकूल पदार्थ प्रदान किये हैं; उन सबका ठीक-ठीक उपयोग करनेकी आवश्यकता है। इनका ठीक उपयोग करनेसे कल्याण एवं दुरुपयोग करनेसे अधोगति हो सकती है। उपर्युक्त समग्र साधनोंसे सम्पन्न होकर भी जिसने अपने आत्माका कल्याण नहीं किया अर्थात् इस लोक और परलोकको नहीं सुधारा, उसकी शास्त्र बड़ी निन्दा करते हैं। श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्डमें कहा गया है—

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

(दोहा ४४)

'ऐसे दुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर जो संसार-सागरसे पार नहीं होता, वह कृतघ्न है, मन्दमति है तथा आत्महत्या करनेवालेकी जो गति होती है, वही गति उसकी होती है।'

आत्महत्या करनेवालेकी दुर्गतिके विषयमें शुक्ल यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायके, जिसको ईशावास्योपनिषद् भी कहते हैं, तीसरे मन्त्रमें कहा गया है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

'जो कोई भी मनुष्य आत्महत्या करनेवाले होते हैं, वे नाना प्रकारकी आसुरी योनियों तथा असुरोंके उन भयंकर लोकोंको बारंबार प्राप्त होते हैं, जो अज्ञान—दुःख-क्लेशरूप महान् अन्धकारसे आच्छादित हैं।'

आत्महत्यारोंके दो प्रकार होते हैं—एक तो वे आत्महत्यारे हैं, जो मनुष्यका शरीर पाकर अपने कर्तव्यका पालन नहीं करते और दूसरे वे आत्महत्यारे हैं, जो इस मनुष्यशरीरको काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष और भयके कारण हठपूर्वक नष्ट कर देते हैं। दोनोंकी ही दुर्गति होती है। किसी भी प्रकारसे क्यों न हो, प्राणोंका वियोग करना तो महान् मूर्खता ही है।

कोई-कोई विद्यार्थी हाईस्कूल अथवा कालेजकी किसी परीक्षामें अनुत्तीर्ण हो जानेके कारण इस भय और लज्जाके कारण कि 'मैं परीक्षामें फेल हो गया, अब मैं किसीको भी मुँह दिखाने लायक नहीं रहा, लोग मुझे क्या कहेंगे?' मूर्खताके कारण आत्महत्या कर लेते हैं। कोई-कोई व्यक्ति घरकी लड़ाई तथा अन्यान्य झंझटोंके कारण भी आत्महत्या कर लेते हैं। इसी प्रकार दहेजकी प्रथा बढ़ जानेके कारण रुपयोंकी व्यवस्था न होनेसे बड़ी आयुतक विवाह न किये जानेपर लड़कियाँ अपने भविष्यका विचार न करके माता-पिताके दुःखको देखकर आत्महत्या कर लेती हैं। कई बहुएँ सासके ताने न सह सकनेके कारण ही आत्महत्या कर लेती हैं। ऐसे स्त्री-पुरुष विष खाकर, जलमें डूबकर या अग्निसे शरीरको जलाकर अथवा कोई-कोई ऊँचे स्थानसे स्वेच्छासे गिरकर मर जाते हैं। वे यह नहीं सोचते कि मेरे आत्महत्या कर लेनेपर क्या होगा, मैं कहाँ जाऊँगा, इसके फलस्वरूप मुझे सुख मिलेगा कि दुःख भोगना पड़ेगा इत्यादि। किसीके शरीरसे कोई दोष घट जाता है, तो वह उसके कारण ही आत्महत्या कर लेता है। वह यह सोचता है कि मैं

बड़ा पापी हूँ, मेरा तो जीवन ही भ्रष्ट हो गया। किंतु वास्तवमें सोचा जाय तो यह सब उसकी मिथ्या कल्पना ही है। कोई बड़े-से-बड़ा दुराचारी क्यों न हो, उसके भी उद्धारका भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें उपाय बताया है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त होकर मुझको निरन्तर भजता है, तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है, अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। (फलतः) वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

भगवान् कितना आश्वासन दे रहे हैं! अपने आत्माके कल्याणके लिये किसीको भी निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है। कोई कैसा भी पापी क्यों न हो, यदि उसका शरीर बना रहा तो साधन करनेपर एक दिन वह अपना उद्धार भी कर सकता है। किंतु मनुष्य-शरीर खो देनेपर तो उद्धारका कोई रास्ता ही नहीं रह जाता है, उसके लिये तो खतरा-ही-खतरा है; क्योंकि जबतक मनुष्य-

शरीर उसे प्राप्त है, वह समय पाकर सब कुछ कर सकता है। भगवत्कृपासे धनहीन धनवान् और मूर्ख भी पण्डित हो सकता है; सब समय स्थिति एक-सी नहीं रहती। किंतु आत्महत्या कर लेनेपर तो सिवा दुःख भोगनेके जीव और कुछ नहीं कर सकता—यह बात निश्चित है। आत्महत्या करनेवाला यह समझता है कि आत्महत्या कर लेनेपर इन सब दुःखोंसे उसे छुटकारा मिल जायगा; किंतु बात सर्वथा ऐसी नहीं है। यह मनकी मूर्खतापूर्ण सूझ है; क्योंकि जीवित अवस्थामें जो दुःख है, उससे बहुत अधिक दुःख तो आत्महत्या करनेके समय होता है और उससे भी सैकड़ों गुना अधिक दुःख आत्महत्या कर लेनेपर परलोकमें भोगना पड़ता है।

उदाहरणके लिये मान लीजिये किसीने आत्महत्याका विचार करके अपनेपर किरासन तेल छिड़ककर आग लगा ली। किंतु जब उसका शरीर जलता है, उस समय उसे महान् पीड़ाका अनुभव होता है और वह भीतरसे चाहता है कि मैं किसी प्रकार बच जाऊँ। किंतु वह प्रायः बच ही नहीं पाता और भयानक कष्टसे तड़फ-तड़फकर प्राण-त्याग करता है, उसके शरीरमें बहुत जलन होती है। यदि कोई बच जाता है तो वह भी जीते-जी बहुत ही कष्ट पाता रहता है।

कोई आत्महत्याके लिये विषपान करता है। विषपान कर लेनेपर जब विष चढ़ता है, तब बहुत ही क्लेश होता है और मनुष्य तड़फड़ाता है, चिल्लाता है, जोर-जोरसे रोता है, घरवालोंको अपने द्वारा विषपान किये जानेका परिचय देता है। घरवाले डाक्टर-

वैद्योंको बुलाकर विष निकालनेके विविध प्रयत्न करते हैं। जब किसी भी प्रकारसे विष शान्त नहीं होता, तब उसे सभी घरवालोंके सामने तड़फ-तड़फकर मरना पड़ता है। उस समयका दृश्य बहुत ही भयानक होता है।

इसी प्रकार कोई नदी, तालाब, कुएँ आदि जलाशयमें डूबकर मरता है। एक बार तो वह अपने निश्चयानुसार कूद पड़ता है; किंतु जब पानीमें दो-चार डुबकियाँ लगा लेता है और उसका गला घुटने लगता है, पानी पेटमें भर जाता है, तब उसे बड़ी भयंकर यन्त्रणा होती है और यह इच्छा होती है कि मुझे कोई बचा ले। वह अपनी पूरी शक्ति लगाकर हाथ-पैर पीटता है और अपनी सामर्थ्यभर जलसे बाहर निकलनेकी चेष्टा करता है, बचानेके लिये दूसरोंसे संकेत भी करता है। किसी-किसीको संयोगवश कोई निकाल भी लेते हैं। डाक्टरोंको बुलाया जाता है, वे पेटसे पानी निकालते हैं, इंजेक्शन देते हैं, मालिश करते हैं। फलतः कोई-कोई जी भी जाता है, नहीं तो अधिकांश लोग तो मर ही जाते हैं। जिसे कोई भी निकाल नहीं पाता, वह तो प्रायः मर ही जाता है। कैसे भी क्यों न हो बिना मौतके असमयमें शरीर-त्याग करनेवालेको अत्यन्त कष्ट होता है—यह निश्चित तथा प्रत्यक्ष भी है ही। उपर्युक्त दृश्योंको देखकर घरवालोंको तो अपार दुःख होता ही है, दूसरे लोगोंको भी उनका वियोगजन्य दुःख देखकर महान् कष्ट होता है। कोई-कोई तो विवाहित होनेपर भी किसी कारणवश आत्महत्या कर लेते हैं एवं अपनी स्त्री तथा बाल-बच्चोंको

सदाके लिये महान् संकटमें डाल जाते हैं। वे यह सोचनेका तनिक भी प्रयत्न नहीं करते कि मेरे आत्महत्या कर लेनेपर मेरे माता-पिता आदि तथा मेरे आश्रित स्त्री एवं नन्हे-नन्हे बच्चोंकी क्या दशा होगी, इनकी कौन रक्षा करेगा, इनका कैसे भरण-पोषण होगा। यह तो इस लोकमें होनेवाले दुःखका वर्णन हुआ। परलोकमें तो उन्हें जो कष्ट एवं दुःख भोगना पड़ता है, वह अवर्णनीय है। हमारे प्रातःस्मरणीय त्रिकालज्ञ ऋषि-मुनियोंने आत्महत्यारेकी बड़ी दुर्गति बतायी है।

असमयमें शरीर-त्याग करनेके कारण प्रथम तो आत्महत्यारेको कोई भी योनि नहीं मिलती, वह प्रेतयोनिमें भटकता रहता है। उसके बाद शूकर, कूकर, कीट, पतंग आदि तिर्यक् योनियोंको प्राप्त होता है और तदनन्तर वह रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, अन्धतामिस्र आदि घोर नरकोंमें गिराया जाता है। नरकोंकी विभिन्न घोर यातनाएँ उसे दी जाती हैं, जिनका वर्णन श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थोंमें आता है। इस प्रकार असमयमें मरनेकी जो प्रवृत्ति है वह आसुरी स्वभाव है। आसुरी स्वभाववालोंका वर्णन भगवान्‌ने गीता अध्याय १६, श्लोक ४ से २१ तकमें किया है, उसे वहाँ देख सकते हैं। उन आसुरी स्वभाववालोंकी जो दुर्गति होती है, वही असमयमें प्राण-त्याग करनेवालेकी होती है। आसुरी स्वभाववालोंकी दुर्गतिका वर्णन भगवान्‌ने गीता अध्याय १६, श्लोक १६ में किया है—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥

'वे अनेक प्रकारसे भ्रमित चित्तवाले, मोहरूप जालसे समावृत और विषयभोगोंमें अत्यन्त आसक्त आसुर लोग महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं ।'

आगे इसी अध्यायके २० वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

'हे अर्जुन ! वे मूढ पुरुष मुझे प्राप्त न होकर जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अतिनीच गतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें गिरते हैं ।'

इसी आशयका जगह-जगह पुराणोंमें भी वर्णन आता है। शास्त्रोंकी इन सब बातोंपर विश्वास करके इस अमूल्य मनुष्य-जीवनको काम, क्रोध, लोभ, मोह, लज्जा, भय, अज्ञान, राग-द्वेष आदिके कारण संकटमें नहीं डालना चाहिये ।

कितने ही भाई घरके क्लेशके कारण कष्टका अनुभव होनेपर लज्जा, भय और क्रोधके वशीभूत हो घर छोड़कर बाहर निकल जाते हैं । दूरदर्शी न होनेके कारण ही वे ऐसा करते हैं; किंतु बाहर निकलनेपर जब सोने, खाने-पीने आदिका महान् कष्ट अनुभव करते हैं, तब अपनी भूलपर पश्चात्ताप करते हैं । उनके मनमें घर लौट जानेकी बात भी आती है; किंतु इस लज्जाके कारण वे नहीं जा पाते कि लोग उन्हें क्या कहेंगे । इस प्रकार

भ्रमित-चित्त हुए त्रिशङ्कुकी-सी मनःस्थितिको लेकर या तो वे किसी वेषधारी दम्भी पाखण्डी साधुके फेरमें पड़ जाते हैं या भटकते-फिरते हैं। वे सदा चिन्तित रहते हैं एवं भयानक संकटमें पड़ जाते हैं। उनकी प्रत्यक्ष दुर्दशा होती है और उनके वियोगमें उनके घरवाले भी दुखी होते हैं। अतः घर छोड़कर निकल भागना भी महान् मूर्खताका ही द्योतक है। यह भी काम-क्रोध-लोभ-मोह-भय आदिके कारण ही होता है। भगवान्‌ने गीता अध्याय १६, श्लोक २१ में कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

'काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं; ये आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतः इन तीनोंको त्याग देना चाहिये।'

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥
(गीता १६। २२)

'इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त हुआ अर्थात् काम, क्रोध आदि विकारोंसे छूटा हुआ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है, इससे वह परम गतिको प्राप्त होता है।'

अतएव उपर्युक्त दुष्परिणामोंपर विचार करते हुए किसी भी मनुष्यको न तो आत्महत्या करनी चाहिये और न घर छोड़कर निकल भागना ही चाहिये।

प्रतिग्रह और पापसे भी ऋण अधिक हानिकर है

ऋण लेनेवाला व्यक्ति ऋणदाताको जबतक ऋण नहीं चुका देता, तबतक उसका इस लोक या परलोकमें कहीं कभी छुटकारा नहीं हो सकता। मरनेके बाद ऋण लेनेवालेको दूसरे जन्ममें ऋण-दाताके माता, पिता, भाई, बन्धु, स्त्री, पुत्र या गाय, बैल, घोड़ा आदि पशुके रूपमें जन्म लेकर ऋण चुकाना पड़ता है। ऋण चुकाये बिना ऋणसे मुक्ति हो ही नहीं सकती, फिर परमपदकी प्राप्ति तो हो ही कैसे सकती है। यहाँ सरकारके राज्यमें तो कानूनके अनुसार तीन वर्षके बाद रुपये लौटानेकी अवधि समाप्त हो जाती है और भूमि, घर आदि स्थावर सम्पत्तिपर रुपया लेकर ऋणका कागज रजिस्ट्रेशन कराया हुआ हो तो बारह वर्षके बाद उन रुपयोंके भी लौटानेकी अवधि समाप्त हो जाती है। किंतु भगवान्‌के यहाँ हजारों वर्ष बीत जानेपर भी ऋणकी इस प्रकार समाप्ति नहीं होती। व्याज (सूद) तो मूल रुपयोंसे अधिक न तो इस राज्यमें ही मिलता है और न परलोकमें ही। ऋणग्रहीता ऋणदाताका दिल दुखाकर जबरन् रुपये-का आठ आना या चार आना देकर उससे ऋण-मुक्तिका पत्र ले लेता है, तब भी शेष रुपयोंका ऋण ऋणग्रहीताके सिरपर रहता ही है। यदि ऋणदाताको मूलधन पूरा-का-पूरा दे दिया जाय और व्याजको अनुनय-विनय करके क्षमा करा लिया जाय तो फिर ऋण तो सिरपर नहीं रहता, किंतु ऋणग्रहीता सहायता लेनेके रूपमें उसका उपकृत रहता है। यदि ऋणदाता अपना सर्वस्व भगवान्‌को समर्पण कर दे या

वह भगवान्‌को प्राप्त हो जाय तो ऋणग्रहीता भगवान्‌का ऋणी होकर रहता है—जैसे इस लोकमें कोई मनुष्य मर गया और उसका कोई भी उत्तराधिकारी न हो तो उसके धनका स्वामित्व सरकारपर चला जाता है। एवं यदि उस मृत मनुष्यका कोई ऋणी है और वह उस ऋणके रुपयोंको सरकारको दे देता है तो वह ऋणसे मुक्त हो जाता है। यदि कोई ऋणदाता मर गया और उसके उत्तराधिकारी—लड़का, लड़की, भाई, बन्धुमेंसे कोई भी जीवित हों तो उनको ऋण चुका देनेसे ऋणग्रहीता ऋणसे मुक्त हो सकता है। यदि ऋणदाता तो जीता है और ऋणग्रहीता मर गया और ऋणग्रहीताके पिता, पुत्र, भाई, बन्धु या कुटुम्बके लोग ऋणदाताको ऋणग्रहीताका ऋण चुका दें तो ऋणग्रहीता उससे मुक्त हो सकता है; किंतु यदि उसके कुटुम्बवाले ऋण लेनेके समय उसके शामिल न रहे हों तो ऋण चुकानेवाले उन कुटुम्बीजनोंका ऋणग्रहीतापर उपकार माना जायगा।

दान, दहेज और उपकार—इन तीनोंका अलग-अलग हिसाब है। इसे उदाहरणसे यों समझना चाहिये—

एक धनी वैश्यके एक विवाहिता लड़की थी। उस लड़कीके एक कन्या थी। उस कन्याके विवाहके लिये कम-से-कम दो हजार रुपयोंकी आवश्यकता थी, किंतु उस लड़की और उसके पतिके पास किसी प्रकारका धन नहीं था; अतः लड़कीने अपने धनी पितासे कन्याके विवाहके लिये दो हजार रुपयोंकी इस प्रकार याचना की—'आप मुझे पाँच सौ रुपये तो जो मेरे आपके यहाँ जमा हैं, वे दे दीजिये; पाँच सौ रुपये घरके रीति-रिवाजके अनुसार आप दहेजमें देंगे ही।

इनके अतिरिक्त पाँच सौ रुपये आप कन्याके विवाहमें सहायताके रूपमें दे दीजिये तथा शेष पाँच सौ रुपये ऋणके रूपमें दे दीजिये, जिन्हें मेरे पतिदेव उपार्जन करके चुका देंगे।' इसपर वह वैश्य राजी हो गया और उसके कथनानुसार रुपये दे दिये, जिससे कन्याका विवाह हो गया।

अब इन रुपयोंके सम्बन्धमें यों समझना चाहिये। पाँच सौ रुपये जो लड़कीके पिताके यहाँ जमा थे, वह तो पितापर ऋण था; अतः पिता उस ऋणसे मुक्त हो गया। तथा पाँच सौ रुपये जो पिताने दहेजके रूपमें दिये, उनपर उस लड़कीका अपना स्वत्व था, वह उसने पा लिया; अतः उन रुपयोंका किसीके साथ कोई लेन-देन नहीं रहा। पिताने जो पाँच सौ रुपये सहायताके रूपमें दिये; उनके लिये लड़की पिताकी उपकृत है, किंतु ऋणी नहीं। शेष पाँच सौ रुपये जो लड़कीने ऋणके रूपमें अपने पितासे लिये, उन रुपयोंको लड़की और उसके पतिको चुकाना होगा, चुकानेसे ही वे उस ऋणसे मुक्त हो सकते हैं। यदि इस जन्ममें वे रुपये नहीं चुकाये गये तो उन दोनोंको भावी जन्ममें किसी-न-किसी रूपमें उन रुपयोंको चुकाना पड़ेगा।

कोई मनुष्य किसीको दान देता है या किसीकी किसी प्रकारकी सहायता (उपकार) करता है या सेवा करता है तो उस दान या सहायता देने और सेवा करनेवालेको उसकी इच्छाके अनुसार फल मिलता है। यदि वह इस लोककी अथवा परलोककी किसी कामनाको लेकर ऐसा करता है, तब तो उसकी कामनाकी सिद्धि

होती है और यदि कर्तव्य समझकर निष्काम भावसे करता है तो उसकी आत्मा पवित्र होकर उस उपकार अथवा सेवाके फल-स्वरूप उसका उद्धार हो सकता है। दान या सहायता लेने-वाला और सेवा करानेवाला यदि उसका अधिकारी है—जैसे ब्राह्मणको दान लेनेका अधिकार है, माता, पिता, स्वामी, गुरु आदि-का अपने पुत्र, भृत्य, शिष्य आदिसे सेवा करानेका अधिकार है—तो इस अधिकारके अनुसार दान, सहायता, सेवा लेनेवाले व्यक्ति उपकृत नहीं माने जाते। इनके अतिरिक्त जो भी किसीसे दान, सहायता या सेवा स्वीकार करता है, वह उसका उपकृत है; उसके बदलेमें उसकी सहायता, सेवा करना और उसका हित चाहना उस उपकृत मनुष्यका कर्तव्य है। यदि वह अपने इस कर्तव्यका पालन नहीं करता तो यह उसकी कृतघ्नता है। कृतघ्नता भी एक प्रकार-का पाप ही है। जैसे पाप करनेवाला दण्डका भागी होता है और वह उस पापका फल भोगकर या ईश्वरके नामका जप, व्रत, उपवास, इन्द्रियसंयमरूप तप, प्राणियोंका उपकार आदि या शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त करके उस पापसे मुक्त हो जाता है, वैसे ही वह कृतघ्न भी पापका फल भोगकर या उपर्युक्त साधन करके पापसे मुक्त हो सकता है। किंतु ऋणी तो ऋण चुकानेपर ही मुक्त होता है, किसी प्रायश्चित्त आदि साधनसे नहीं।

ब्राह्मणके अतिरिक्त अन्य वर्णवालोंको अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रको दान लेनेका अधिकार नहीं है। पर इनमेंसे कोई आपत्तिकालमें यदि ऋण चुकानेके लिये किसीसे सहायताके रूपमें

दान लेकर अपना ऋण चुका दे या ऋण छोड़ देनेके लिये ऋणदातासे अनुनय-विनय करनेपर ऋणदाता उसे सहायताके रूपमें ऋणमुक्त कर दे तो वह ऋणसे मुक्त हो सकता है। किंतु उसे सहायता देनेवालेकी अथवा ऋण छोड़ देनेवाले ऋणदाताकी बदलेमें समय-समयपर सेवा-सहायता करना उस उपकृत मनुष्यका कर्तव्य हो जाता है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो कृतघ्न समझा जाता है। इसीलिये धर्ममें आस्था रखनेवाले क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र दान या सहायता न लेकर ऋण ही लेते हैं; क्योंकि ऋणके रुपये चुकानेका तो ऋण लेनेवालेपर भार रहता है, किंतु सेवा, दान और उपकारका विस्मरण भी हो जाता है, जिससे वे प्रत्युपकार नहीं कर पाते और फलस्वरूप कृतघ्न हो जाते हैं। यद्यपि ऋण और कृतघ्नता दोनों ही अपने-अपने स्थानपर बड़े भारी दोष हैं, तथापि उनमें कृतघ्नताका दोष तो जप, तप, व्रत, उपवास और प्रायश्चित्त आदि करनेसे दूर हो सकता है; किंतु ऋणसे छुटकारा तो ऋणदाताका ऋण चुकानेपर ही होता है।

इसलिये ऋणग्रहीता मनुष्यको, जिस-किसी प्रकारसे हो, ऋण चुका ही देना चाहिये। यदि ऋण चुकानेके लिये रुपये न हों तो अपने पास भूमि, घर, आभूषण आदि जो कुछ भी हो, उसे देकर ऋणदाताको संतुष्ट करना चाहिये। इससे भी ऋण पूरा न हो तो जितना ऋण बचे, उसके लिये ऋणदाताके कथनानुसार हैंडनोट आदि लिखकर संतोष कराये। अथवा यदि वह नौकरीपर रखकर अपना रुपया वसूल करना चाहे तो उसकी नौकरी करके भी उसका ऋण चुका देना चाहिये। अधिक क्या

कहा जाय, यदि अपनेको अथवा अपनी स्त्री, पुत्र आदिको बन्धक रखने या बेचनेसे भी ऋण चुकाया जा सकता हो तो चुका देना चाहिये। यदि ऋणदाता नालिश कर दे तो हाकिमसे कह देना चाहिये कि 'मुझे यह रुपया देना है, आप मुझपर डिग्री दे दें।' उसपर भी ऋणदाता संतुष्ट न हो और ऋणग्रहीताको कैद कराना चाहे तो उसके संतोष-के लिये प्रसन्नतापूर्वक कैद भी भोग लेनी चाहिये, पर किसी भी अवस्थामें ऋणदाताका प्रतिकार नहीं करना चाहिये।

अतएव मनुष्यको, जहाँतक हो, प्रथम तो ऋण कभी लेना ही नहीं चाहिये। यदि परिस्थितिवश लेना ही पड़े तो उसे जीतोड़ प्रयत्न करके उपर्युक्त प्रकारोंमेंसे किसी-न-किसी रूपमें न्याययुक्त रीति-से चुका ही देना चाहिये।

अनाथालय, गोशाला, पाठशाला, धार्मिक संस्था, मठ, मन्दिर, क्षेत्र आदिके रुपये, अन्य किसी धार्मिक कार्यके लिये एकत्र किये हुए रुपये तथा ब्राह्मण, विधवा स्त्री, बहिन-बेटी आदिके रुपये तो अन्य ऋणोंकी अपेक्षा भी अधिक भाररूप होते हैं। इसलिये अपने-पर कभी आपत्ति आये तो मनुष्यको पहले उपर्युक्त संस्थाओं और व्यक्तियोंके ऋणको चुका देना चाहिये। यदि अपने पाससे भी दान देकर उनके नामसे खातेमें जमा कर लिया गया हो, तो भी वही बात समझनी चाहिये; क्योंकि जो रुपये जिसको दिये जा चुके, वे उसीके हो गये। इस विषयमें कोई-कोई व्यक्ति यह मान लेते हैं कि हमारे पिताने मरते समय इतने रुपये धर्मार्थ निकाले थे अथवा हमने ही ये रुपये धर्मार्थ निकाले थे, इनको यदि हम न भी दें तो कोई

आपत्ति नहीं है; किंतु यह समझना भूल है। क्योंकि धर्मार्थ निकाले हुए रुपयोंको कोई मालिक बनकर तो जबरन् वसूल करता नहीं, भगवान् भी प्रकटमें आकर माँगते नहीं; इसलिये उन रुपयोंका भार तो अपने ऊपर विशेषरूपसे मानना चाहिये।

ऐसे रुपयोंको या तो कहीं अन्यत्र जमा करवाकर अच्छे आदमियोंका उनपर अधिकार कर देना चाहिये; या गोशाला, विद्यालय, मन्दिर आदि जिस कार्यके लिये रुपये जमा किये गये हों, उस कार्यमें तुरंत लगा देना चाहिये; अथवा अच्छे-अच्छे आदमियोंका एक ट्रस्ट बनाकर उनके हाथमें सौंप देना चाहिये। क्योंकि मनुष्यपर संकट और विपत्तियाँ तो आती ही रहती हैं और जब विपत्ति आती है तब पावनेदार तो जबरन् उनको वसूल कर सकता है; किंतु जिसका भगवान्‌के सिवा कोई मालिक नहीं है, उस धर्मार्थ निकाले हुए धनको कौन वसूल करे। अतः वह ऋणीके सिरपर ही रह जाता है। जिस प्रकार लावारिशके धनकी मालिक सरकार होती है, उसी प्रकार धर्मार्थ निकाले हुए रुपयोंके मालिक भगवान् हैं। अतः भगवान् उस ऋणीको इस जन्ममें या भावी जन्ममें सरकारके द्वारा अतिशय कर लगा देना, दैवी प्रकोपके द्वारा धन नष्ट कर देना आदि नाना प्रकारके संकटोंमें डालकर उससे रुपये वसूल करते हैं। अतएव मनुष्यको धर्मार्थ निकाले हुए रुपयोंको अपनेपर गुरुतर भार समझकर शरीर रहते-रहते ही उपर्युक्त किसी भी प्रकारसे उनका प्रबन्ध कर देना चाहिये।

वर्तमान पतन और उससे बचनेके उपाय

इस समय हमारे देशमें जहाँ एक ओर सर्वविध विकासकी योजनाएँ चल रही हैं, दूसरी ओर भाँति-भाँतिके दुर्गुण, दुराचार, भ्रष्टाचार, अनाचार, व्यर्थ खर्च तथा पतनकी गर्तमें गिरानेवाली नयी-नयी कुरीतियाँ बढ़ रही हैं, जिनसे सारा मानवसमाज संत्रस्त है। इन पतनकारी कार्योंमें एक दहेज भी है और उसका वर्तमान रूप बड़ा भयानक हो चला है। सगाई, तिलक, विवाह, गौना आदिमें जो आजकल दहेज दिया जाता है, वह सारे देशके लिये अत्यन्त घातक है। गरीब-से-गरीब आदमीकी कन्याका विवाह भी आजकल हजार-दो-हजार रुपयोंसे कममें नहीं होता। जो थोड़ा-सा भी प्रतिष्ठित है, उसकी कन्याका विवाह तो पाँच-सात हजारसे कममें सम्भव नहीं है। विचार कीजिये—एक सज्जन सौ रुपये मासिक वेतन पाते हैं और उनके घरमें पाँच आदमी हैं। तो उन सौ रुपयोंसे तो उनके भोजन-वस्त्रादिका निर्वाह भी बड़ी ही कठिनतासे चलता है; फिर जो अपनी इज्जतका जरा भी खयाल करता है उसकी कन्याका विवाह कैसे हो सकता है? न तो गरीब आदमीको ऋण ही मिल सकता है, न दान ही। भारतके प्रायः सभी प्रान्तोंमें तथा सभी समाजोंमें दहेजका रोग बढ़ रहा है। ब्राह्मण-समाज पहले इससे मुक्त था, अब दूसरोंकी देखा-देखी वह भी इसका शिकार हो रहा है। तथापि क्षत्रिय एवं वैश्य-समाजको सबसे अधिक कठिनता है; क्योंकि वे सहजमें दान लेना चाहते नहीं और ऐसा करनेमें उन्हें सहज ही लज्जा तथा अपमानका बोध होता है। फिर, यदि

माँगें भी तो आजकल मिलना बहुत कठिन है। ऐसी परिस्थितिमें कन्या और कन्याके माता-पिताके सम्मुख जो भयानक संकट उपस्थित होता है, उसे वे ही जानते हैं। कोई-कोई कन्या तो माता-पिताकी भयानक मनोवेदनाको देखकर आत्महत्यातक कर लेती हैं, और कहीं कन्याका विवाह करनेमें असमर्थ माता-पिता दुःखसे आत्म-हत्या कर बैठते हैं।

यह भयानक सामाजिक पाप है तथा इस पापमें प्रधान कारण वह लड़का और उसके अभिभावक माता-पिता आदि हैं जो मनमाना दहेज लिये बिना विवाह नहीं करना चाहते। अतएव हम लड़कोंसे और उनके माता-पिता आदिसे प्रार्थना करते हैं कि वे दहेज लेना सर्वथा बंद कर दें। प्रतिज्ञा कर लें कि हम विवाहमें दहेज लेंगे ही नहीं। ऐसा न कर सकें तो कन्याके माता-पिता जो कुछ आसानीसे देना चाहते हों और दे सकते हों, उससे एक चौथाई, अथवा अधिक-से-अधिक आधा स्वीकार करें। अर्थात् जो सौ रुपये देना चाहते हों, उनसे पचीस या इससे संतोष न हो तो अधिक-से-अधिक पचास रुपये ही लें। अभिप्राय यह है कि दहेज देनेवाले प्रेमपूर्वक जो देना चाहें, उससे कम-से-कम लेना स्वीकार करें। दहेज देनेवाला आसानीसे तथा प्रसन्नतापूर्वक जो देना चाहे, उसे ले लेना विशेष अपराध नहीं है। परंतु वर्तमान दहेज जिस प्रकार बलात्कारसे लिया जाता है, वह निश्चय ही पाप है। अतएव इस पापको मिटानेके लिये कम-से-कम लेना उत्तम है। कन्याके माता-पितासे मोल-तौल करके या उनपर दबाव डालकर और

उन्हें बाध्य करके लेना तो सचमुच ही समाजका ध्वंसकारी एक बड़ा पाप है। इससे बचनेकी बड़ी ही आवश्यकता है।

विवाह, यज्ञोपवीत तथा अन्यान्य समारोहोंपर विशाल पण्डाल बनाने, उन्हें अनाप-शनाप खर्च करके सजाने, रुचि बिगाड़नेवाले अश्लील चित्रादि लगाने, गानोंकी चूड़ियाँ बजाने, रोशनीकी भरमार करने, आतिशबाजी छुड़ाने, गाने-बजाने या सिनेमादिका प्रदर्शन करानेमें इतना अधिक प्रमाद तथा खर्च किया जाता है कि जो समाजको सर्वथा पतनकी ओर ले जानेवाला तथा गरीबोंके हकका पैसा व्यर्थ उड़ा देनेवाला होनेके कारण बड़ा पाप है। इसको जहाँतक हो सके न करे या कम-से-कम करे।

आजकल ब्याह-शादी आदिमें जो भोजनकी व्यवस्था की जाती या पार्टियाँ दी जाती हैं, उनमें खर्चका तो कोई ध्यान रक्खा ही नहीं जाता, उनसे अनाचार भी काफी फैलता है। बड़े शहरोंमें बड़े आदमियोंके यहाँ तो प्रायः ऐसी भोजनपार्टी या चायपार्टी उन होटलोंमें ही दी जाती है, जहाँ मांस-मदिरादिसे कोई परहेज नहीं रक्खा जाता। कम-से-कम बर्तन तो वही होते हैं। वहाँ आचार-रक्षाकी कोई सम्भावना ही नहीं। खानसामे परोसते हैं, जूँठनका कोई खयाल ही नहीं रक्खा जाता, (जिसका स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी खयाल रखना अत्यावश्यक है।) फलतः अर्थके साथ-साथ आचार, धर्म तथा स्वास्थ्यका भी नाश होता है। इस बढ़ती हुई विनाशकारी प्रथाको जितना शीघ्र दूर किया जाय, उतना ही उत्तम है।

विवाह आदि समारोहोंमें अनावश्यक सुगन्धि-द्रव्य, बीड़ी, सिगरेट, मदिरा आदिका वितरण भी व्यर्थ, प्रमादपूर्ण तथा पापोत्पादक है। इसको भी दूर करना चाहिये।

गौने आदिमें जो बहुत-से अनावश्यक कपड़े, व्यर्थके चित्र, खिलौने आदि अनेक प्रकारकी ऐसी वस्तुएँ भी दी जाती हैं जो उपयोगी नहीं होतीं। इसलिये उपयोगमें आनेयोग्य वस्तुएँ भी कम मात्रामें ही दी जानी चाहिये। उच्च चरित्रका निर्माण करनेवाला साहित्य दिया जाय तो उससे बड़ा लाभ हो सकता है।

इसी प्रकार अन्यान्य अवसरोंपर भी, जैसे मारवाड़ी अग्रवालोंमें साध, खिचड़ी, तालवा, छूछक, भात आदिमें जो व्यर्थ खर्च किया जाता है तथा आडम्बर दिखाया जाता है, उसे दूर करना चाहिये।

ऐसे ही, घरमें बालक होनेपर भी प्रमाद नहीं करना चाहिये। बालकका जन्म सभीके लिये प्रसन्नता देनेवाला होता है और उस समय उत्सव-दानादि भी किये जाते हैं; परंतु उस आनन्दमें प्रमाद नहीं होना चाहिये। व्यर्थ समय नष्ट करनेवाले ताश-चौपड़ आदि खेलना, बीड़ी-सिगरेट-शराब आदिका वितरण करना, नाच-तमाशे कराना, पार्टियोंमें अनाप-शनाप खर्च करना आदि सब आदर्शको बिगाड़नेवाले कार्य हैं जो अनुचित और त्याज्य हैं। उस समय शास्त्रानुसार जातकर्म और नामकरण आदि संस्कार अवश्य कराने चाहिये, जिससे बालकका यथार्थ मङ्गल हो और उसके हृदयमें शुभ संस्कारोंका संचार हो।

इसी प्रकार चरित्रनाशक सिनेमा, प्रमाद बढ़ानेवाले क्लब

आदिमें जाने तथा व्यर्थ नाचरंग आदि देखनेमें समय, धन और शुभ संस्कारोंका नाश होता है। इससे यथासाध्य बचना चाहिये।

शिक्षाक्षेत्रमें नैतिक स्तर गिर रहा है। छात्रोंमें उच्छृङ्खलता बढ़ रही है। परस्पर स्नेह तथा विनयका अभाव हुआ चला जा रहा है। नैतिक उन्नतिका ध्यान घट रहा है। खान-पानकी भ्रष्टता बढ़ रही है। इस ओर पूरा ध्यान दिये जानेकी आवश्यकता है; क्योंकि ये छात्र ही भविष्यमें देशकी उन्नतिके कारण हो सकते हैं। पाठ्यक्रममें आवश्यक सुधार होना चाहिये, जिससे पढ़ाई सस्ती, सुविधाजनक, अल्पकालीन तथा नैतिक उत्थान करनेवाली हो। बालिकाओं तथा बालकोंकी सहशिक्षा बड़ी हानिकर है। इससे उनका मन पढ़ाईमें नहीं लगता तथा ब्रह्मचर्यका नाश होता है। इस प्रथाको सर्वथा हटाकर पृथक्-पृथक् अध्ययनकी व्यवस्था होनी चाहिये।

आजकल प्रायः सभी विभागोंमें अनैतिकताका संचार हो गया है तथा भ्रष्टाचारसे घृणा निकलती जा रही है। वरं कहीं-कहीं तो मनुष्य भ्रष्टाचार करके अपनेमें गौरव तथा बुद्धिमानी मानता है जो नैतिक पतनका एक प्रत्यक्ष उदाहरण है। घूसखोरी एक साधारण पेशा-सा बन गया है। सरकार तथा जनता दोनोंको ही इस पापके मिटानेमें प्रयत्नशील होना चाहिये।

व्यापारियोंसे प्रार्थना है कि व्यापारमें इनकमटैक्स, सेल-टैक्स आदिकी चोरी न करके सरकारको सही-सही हिसाब दिखलाना चाहिये; क्योंकि इसमें झूठ, कपट, बेईमानी करनी पड़ती है और

बही-खातोंमें झूठे जमा-खर्च करने पड़ते हैं । इससे पाप तो होता ही है, संसारमें बदनामी होती है, पकड़े जानेपर दण्ड होता है, आत्मामें ग्लानि होती है एवं आत्माका पतन होता है तथा मरनेपर दुर्गति होती है । और चोरी-अन्यायके पैसे रहते भी नहीं । इसलिये इस पापाचारको सर्वथा बंद कर देना चाहिये । थोड़े-से जीवनको इस प्रकार पापमय बनाकर नष्ट नहीं करना चाहिये ।

व्यापारको उच्च कोटिका और सच्चा बनाना चाहिये । झूठ-कपटका त्याग करके निष्कामभावसे जो व्यापार किया जाता है, उस व्यापारसे ही मनुष्यका कल्याण हो जाता है । व्यापारमें वजन, नाप और संख्यामें न तो किसीको कम देना और न किसीसे अधिक लेना चाहिये । दलाली, नफा, कमीशन, आढ़त, ब्याज, लगान और भाड़ा आदि ठहराकर न तो कम देना चाहिये और न अधिक लेना चाहिये । पाट, रूई, ऊन, सुपारी वगैरहमें जल डालकर उसे अधिक वजनका कर देना बड़ा भारी पाप है । इसी प्रकार व्यापारमें और भी बहुत-से पाप हैं, उनसे बचना चाहिये । सरसों, अलसी, पाट, कपास आदिका बढ़िया नमूना दिखलाकर घटिया देना, बढ़िया चीजमें घटिया चीज मिलाकर देना—जैसे, घीमें वेजिटेबल; सरसों, तिल, मूँगफली, गिरी आदिके बढ़िया तेलमें दूसरा तेल मिलाना, दाल और जीरा आदिमें मिट्टी मिला देना, नकली दवा तथा नकली गोल मिर्च, साबू, पीपल आदि बनाना एवं ब्राह्मी-आँवला तेलके नामपर नकली तेल बनाना—ये सब बड़े पाप हैं, इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।

व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, विश्वासघात, दगाबाजी-को त्यागकर सबके साथ समान व्यवहार करते हुए परोपकारकी दृष्टिसे स्वार्थ—त्यागपूर्वक जो निष्कामभावसे व्यापार किया जाता है, उससे व्यापार करनेवालेकी राज्यमें और इस लोकमें तो प्रतिष्ठा है ही, उसके अन्तःकरणकी शुद्धि होकर उसे परमात्माकी प्राप्ति भी सहज ही हो सकती है।

भाव यह कि स्वार्थत्यागपूर्वक निष्कामभावसे उत्तम व्यवहार करनेपर मनुष्यका शीघ्र ही कल्याण हो सकता है। उत्तम व्यवहार-का नाम ही सदाचार है। मनुष्यके हृदयमें सत्य भाव होनेसे उसके आचरण भी सत्य ही होते हैं। सत्य आचरणका ही दूसरा नाम सदाचार है। इसलिये मनुष्यको सबके हितकी दृष्टिसे सबके साथ उत्तम-से-उत्तम व्यवहार करना चाहिये, यही मनुष्यका धर्म है। धर्मकी उत्पत्ति उत्तम आचरणसे ही होती है। महाभारतमें बतलाया गया है—

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः॥

(अनुशासन० १४९। १३७)

'सब शास्त्रोंमें आचार प्रथम माना जाता है, आचारसे ही धर्मकी उत्पत्ति होती है और धर्मके स्वामी भगवान् अच्युत हैं।'

यहाँ 'आचार'का तात्पर्य है उत्तम-से-उत्तम व्यवहार। उत्तम-से-उत्तम व्यवहारके लिये निम्नाङ्कित पाँच बातोंकी आवश्यकता है—

(१) स्वार्थका त्याग,

(२) अहंकारका त्याग,

(३) सत्य आचरण,

(४) विनय,

(५) प्रेम ।

अभिप्राय यह कि जिस किसीके साथ व्यवहार किया जाय, उसके साथ स्वार्थ और अहंकारका सर्वथा त्याग करके विनय और प्रेमसे युक्त सत्य व्यवहार करना चाहिये। ऐसा व्यवहार ही सर्वोत्तम है । इसीसे धर्मका सम्पादन होता है । धर्म क्या है ?

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

(वैशेषिक० सूत्र २)

'जिससे अपना तथा दूसरोंका इस लोकमें अभ्युदय और परलोकमें परम कल्याण हो, वही धर्म है ।'

जिसमें दूसरोंका हित होता है, अपना हित तो उसके अन्तर्गत ही है । इसलिये दूसरोंके हितके समान कोई धर्म नहीं है। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई । पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥

(राम० उत्तर० ४० । १)

परहित बस जिन्ह के मन माहीं । तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥

(रा० अरण्य० ३० । ५)

'दूसरोंका हित करनेके समान कोई धर्म नहीं है और दूसरोंको कष्ट देनेके समान कोई अधर्म नहीं । जिनके मनमें दूसरोंका हित निवास करता है, उन मनुष्योंके लिये संसारमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है ।' भाव यह कि निःस्वार्थभावके कारण उनका सहजमें ही कल्याण हो सकता है । भगवान् भी गीतामें कहते हैं—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
(१२।४ का उत्तरार्ध)

'जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत रहते हैं, वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

अतः मनुष्यमात्रका यह कर्तव्य है कि जिसमें सबका हित हो, ऐसा ही कार्य करे।

हमारे शास्त्रोंमें जो 'भूतयज्ञ'के नामसे बलिवैश्वदेव करनेका विधान किया गया है, उसका भी यही भाव है कि सारे संसारको बलि (भोजन) देकर ही भोजन करना चाहिये। यदि कहें कि कोई मनुष्य सारे विश्वको भोजन कैसे करा सकता है और गरीब तो करा ही कैसे सकता है, सो ठीक है; किंतु इसमें न तो पैसोंका ही विशेष खर्च है और न कोई परिश्रम ही है। भोजन तैयार होनेपर केवल पचीस ग्राससे ही यह कार्य सम्पन्न हो जाता है। इनमें मन्त्रोच्चारणपूर्वक पाँच ग्रास तो देवताओंकी तृप्तिके लिये अग्निमें हवन किये जाते हैं और शेष बीस ग्रास भूमिपर छोड़े जाते हैं, ये ग्रास सबकी तृप्तिके लिये गौ आदिको दे दिये जाते हैं। इससे सारे विश्वकी तृप्ति हो जाती है। मनुस्मृतिमें कहा गया है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥
(मनु० ३।७६)

'शास्त्रोक्त विधिसे अग्निमें दी हुई आहुति सूर्यमें स्थित होती है, सूर्यसे मेघद्वारा वर्षा होती है और वर्षा होनेसे अन्न पैदा होता है

तथा अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है (एवं अन्नसे ही सब जीवोंकी तृप्ति और वृद्धि होती है)।'

इसी प्रकार गौओंकी तृप्तिसे भी सबकी तृप्ति हो जाती है। गौके दूध, दही, घीसे देवता, मनुष्य, पितर आदि सब तृप्त होते हैं तथा गौके गोबर-गोमूत्रसे खादके द्वारा अन्नकी उत्पत्ति होती है, जिससे सब प्राणियोंकी तृप्ति होती है। अतः सबके हितके लिये निष्कामभावसे बलिवैश्वदेव करना बहुत उच्चकोटिका कार्य है। गीतामें कहा गया है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
(३ । १३)

'यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापी लोग अपना शरीरपोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं।'

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
(३ । १४)

'क्योंकि सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे ही उत्पन्न होते हैं, अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ विहित कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला है।'

इसी प्रकार सबको जल पिलाकर जल पीना भी बहुत उच्च कोटिका कार्य है। जब मनुष्य जलसे तर्पण करता है तो प्रथम

ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओंका, फिर ऋषियोंका, उसके बाद मनुष्योंका और फिर यावन्मात्र भूत-प्राणियोंका तर्पण करता है। तर्पणका यह जल सूर्यको प्राप्त हो जाता है एवं सूर्यसे वर्षाके द्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंको प्राप्त हो जाता है।

इसीलिये शास्त्रोंमें ऋषि-मुनियोंने मनुष्यके लिये सब प्राणियों-का हित करनेका आदेश दिया है।

सबके हितकी दृष्टिसे अहंकार और स्वार्थका त्याग करके विनय और प्रेमपूर्वक सत्य-व्यवहार करनेसे जिसके साथ व्यवहार किया जाता है उसपर बहुत अच्छा असर होता है, उसपर उसकी छाप पड़ती है, दूसरोंको भी इससे अच्छी शिक्षा मिलती है और अपनी आत्माकी भी शुद्धि होकर सच्ची उन्नति होती है। अतः इससे संसारको बहुत लाभ होता है। जो दूसरोंके हितके लिये अपना तन, मन, धन अर्पण करके जीते हैं, उन्हींका जीवन धन्य है। अपने व्यक्तिगत स्वार्थकी सिद्धिके लिये जीना तो पशुतुल्य है। नीतिमें बतलाया गया है—

आहारनिद्राभयमैथुनानि
समानि चैतानि नृणां पशूनाम्।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो
ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः॥
(चाणक्यनीति १७। १७)

'आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये मनुष्यों और पशुओंमें एक समान ही हैं। मनुष्योंमें केवल विशेषता यही है कि उनमें

अपने कर्तव्यका ज्ञान अधिक है; किंतु ज्ञानसे शून्य मनुष्य पशुओंके ही तुल्य हैं।'

क्योंकि यह मनुष्यका शरीर आत्माके उद्धारके लिये मिला है, विषय-भोगके लिये नहीं और न यह स्वर्गकी प्राप्तिके लिये ही है। किंतु जो अपने समयको इस प्रकार न बिताकर विषय-भोगोंमें रमण करता है, उसकी तो शास्त्रोंमें निन्दा की गयी है। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥
(राम० उत्तर० ४३। १-२)

जैसे लोभी मनुष्य प्रत्येक लेन-देनके व्यवहारमें यही विचार करता है 'इससे मुझे क्या लाभ होगा।' 'इससे मुझे क्या लाभ होगा।' इस प्रकार स्वार्थबुद्धि करके ही वह कार्यमें प्रवृत्त होता है। किंतु जो अपना कल्याण चाहता हो, उसको इस प्रकार विचार करना चाहिये कि 'इस कार्यके करनेसे जगत्‌के प्राणिमात्रको क्या लाभ होगा।' मनुष्यको समष्टिके लाभके लिये अपने व्यक्तिगत स्वार्थका त्याग कर देना चाहिये और 'मैंने त्याग किया है' इस अभिमानका भी त्याग कर देना चाहिये। इस प्रकार स्वार्थ-त्यागपूर्वक निष्काम प्रेम-भाव होनेपर मनुष्यका शीघ्र ही सुधार होकर उद्धार हो सकता है।



परम पुरुषार्थ

संसारमें चार पदार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमेंसे धर्म और मोक्षकी प्राप्तिमें तो पुरुषार्थ प्रधान है। तथा अर्थ और कामकी प्राप्तिमें प्रारब्ध प्रधान है। ऐसा होनेपर भी लोग अर्थ और कामके लिये अथक परिश्रम करते हैं; किंतु उनके परिश्रमसे किसी कार्यकी सिद्धि नहीं होती। इसलिये मनुष्यको जो कुछ भी सांसारिक सुख-दुःखादिकी प्राप्ति हो, उसके विषयमें तर्क-वितर्क न करके उसे भगवान्‌का मङ्गलमय विधान मानना चाहिये। श्रीरामचरितमानसमें भी कहा गया है—

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥

(बाल० ५१। ४)

क्योंकि मनुष्य कर्म करनेमें तो प्रायः स्वतन्त्र है, पर फल भोगनेमें नहीं। गीतामें भगवान् कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(२। ४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

अतः मनुष्यको यह समझकर कि भोग और अर्थकी प्राप्ति प्रारब्धका फल है, क्रिया तो उसमें निमित्तमात्र है, भोग और अर्थकी प्राप्तिके लिये कभी पापमय क्रिया नहीं करनी चाहिये।

क्योंकि होगा तो वही, जो भाग्यमें लिखा है; फिर पाप करके अपने सिरपर बोझा क्यों लादा जाय? इसलिये अर्थ और कामके लिये पाप करना सरासर मूर्खता है।

पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कुछ भी क्रिया न करके हम आलसी बनकर बैठ जायँ। बिना कुछ किये तो कोई क्षणभर भी नहीं रह सकता। मनुष्य कुछ-न-कुछ क्रिया प्रायः करता ही रहता है। यदि वह पाप करता है, अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता तो उसे उसके फलस्वरूप नरकोंकी प्राप्ति होती है। इसलिये मनुष्यको कोई भी क्रिया पापमय और व्यर्थ तो करनी ही नहीं चाहिये, कामोपभोग और अर्थके उद्देश्यसे भी नहीं करनी चाहिये; बल्कि अपना कर्तव्य समझकर निष्काम एवं अनासक्तभावसे और आत्माकी शुद्धिके द्वारा कल्याणके लिये करनी चाहिये।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥

(५। ११)

'कर्मयोगी ममत्व-बुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं।'

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

(५। १२)

'कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्ति-

को प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है।'

इसलिये निष्कामभावसे अपने कर्तव्यका पालन करना ही उचित है; क्योंकि धर्मके पालन और मोक्षकी प्राप्तिमें पुरुषार्थ ही प्रधान है। अतः मनुष्यको इसीके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि इसीके लिये यह मनुष्य-जीवन मिला है। मनुष्य-जीवनकी सार्थकता परमपुरुषार्थरूप परमात्माकी प्राप्तिमें ही है। इसमें प्रारब्ध-का बिल्कुल हाथ नहीं है। प्रारब्ध न तो आत्माके कल्याणमें बाधक ही है और न साधक ही। लोग स्त्री, पुत्र और धन आदिके विनाश तथा शरीरके रुग्ण होनेपर परमात्माकी प्राप्तिरूप परमपुरुषार्थके साधनको छोड़ देते हैं या साधन करनेमें शिथिलता कर देते हैं, यह उनकी कमजोरी है; इसमें केवल उनकी मूर्खता ही हेतु है। अतः विचारवान् मनुष्यको परमात्माकी प्राप्तिके साधनरूप योगके लिये तत्परतासे प्रयत्न करना चाहिये। गीतामें भगवान् कहते हैं—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥

(६। २३)

'जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिये। वह योग न उकताये हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है।'

हमें यह मनुष्य-शरीर ऐश-आराम, स्वाद-शौक और भोग-विलासके लिये नहीं मिला है। आहार, निद्रा, मैथुन आदि विषय

भोग तो जीवको पशु-पक्षी आदि योनियोंमें भी प्राप्त हैं। मनुष्य-शरीर तो परमात्माकी प्राप्तिरूप मोक्ष और धर्मपालनके लिये ही मिला है। श्रीचाणक्यनीतिमें बतलाया गया है—

आहारनिद्राभयमैथुनानि
समानि चैतानि नृणां पशूनाम्।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो
ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः॥
(१७।१७)

'आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये मनुष्यों और पशुओंमें समान ही हैं। मनुष्योंमें विशेषता यही है कि उनमें ज्ञान अधिक होता है; ज्ञानसे शून्य मनुष्य तो पशुओंके ही तुल्य है।'

इसलिये परमात्मविषयक यथार्थ ज्ञान जिस-किस प्रकारसे हो, उसी धर्मयुक्त पुरुषार्थके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये। जो मनुष्य देहमें प्राण रहते-रहते काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि अवगुणोंको त्यागकर योगयुक्त हो जिस प्रयोजनके लिये यह मनुष्य-शरीर उसे मिला है, उस प्रयोजनको सिद्ध कर लेता है, वही सच्चे सुखका अनुभव कर सकता है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥
(५।२३)

'जो साधक इस मनुष्य-शरीरमें, शरीरका नाश होनेसे पहले-पहले ही काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है; वही पुरुष योगी है और वही सुखी है।'

किंतु इस मनुष्य-शरीरको पाकर भी जो काम-क्रोध, लोभ-मोहमें फँसा रहकर अपना जीवन बिताता है, वह परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रहकर घोर नरकमें जाता है। इसलिये दुर्गुण-दुराचारोंका सर्वथा त्याग करके आत्माके कल्याणके लिये भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचारके पालनमें ही अपना जीवन बिताना चाहिये। गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥
(१६। २१)

'काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये।'

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥
(१६। २२)

'हे अर्जुन! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है; इससे वह परम गतिको जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त हो जाता है।'

यह मनुष्य-शरीर बहुत ही मूल्यवान् है तथा बड़े ही सौभाग्य और ईश्वरकी कृपासे प्राप्त हुआ है। इसलिये इसे अर्थ, काम और भोगोंमें नहीं लगाना चाहिये; क्योंकि शरीर, संसार और भोगोंमें जो सुख-बुद्धि है, वह अज्ञानसे है; वास्तवमें इनमें सुख नहीं है। ये सब नाशवान्, क्षणभङ्गुर और अनित्य हैं। अतः विवेकी मनुष्योंको

इनमें न फँसकर भगवान्के भजन-ध्यान, सेवा-पूजा, नमस्कार, स्तुति-प्रार्थना आदिमें ही अपना जीवन लगाना चाहिये। भगवान्ने कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

(गीता ९ । ३३)

'इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको पाकर निरन्तर मेरा ही भजन कर ।'

इसके सिवा वर्णाश्रमके अनुसार अनासक्तभावसे अपने कर्तव्य-का पालन करनेसे भी मनुष्य परम पुरुषार्थरूप मोक्षको प्राप्त कर लेता है । भगवान् गीताके तीसरे अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें अर्जुनसे कहते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्य-कर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको पा लेता है ।'

अर्जुन क्षत्रिय थे; अतः भगवान् उन्हें स्वधर्मरूप क्षात्रधर्ममें लगे रहनेके लिये उत्साह दिलाते तथा उत्तेजित करते हुए कहते हैं—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥

(गीता २ । ३)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू कायरताको मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ता । हे परंतप ! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो जा ।'

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥
(गीता २ । ३१)

'तथा अपने धर्मको देखकर भी तू भय करने योग्य नहीं है यानी तुझे भय नहीं करना चाहिये; क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है ।'

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥
(गीता २ । ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा; इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा—पापका भागी नहीं होगा ।'

इसी प्रकार अन्य वर्ण एवं आश्रमवालोंको भी अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार तत्परताके साथ अनासक्त हो निष्कामभावसे अपने आत्माके उद्धारके लिये प्रयत्न करना चाहिये । इस प्रकार आत्मोद्धारके लिये प्रयत्न करता हुआ मनुष्य यदि धर्मके लिये मर मिटे तो भी उसका कल्याण ही होता है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥
(गीता ३ । ३५)

'अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है । अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है, किंतु दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है ।'

भगवान्‌ने निष्कामभावसे धर्मपालन करनेकी बड़ी भारी महिमा गायी है; क्योंकि निष्कामभावसे पालन किये हुए थोड़े-से भी धर्मसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है ।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

(गीता २ । ४०)

'इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं होता और उल्टा फलरूप दोष भी नहीं है; बल्कि इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उबार लेता है।'

किंतु जो मनुष्य-शरीर पाकर अपने कर्तव्यसे च्युत हो जाता है, वह तो जीता हुआ मृतकके समान है; क्योंकि उसका जीना व्यर्थ और निन्दनीय है—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

(गीता ३ । १६)

'हे पार्थ ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्रके अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है ।'

अतः मनुष्यको किसी कालमें भी कर्तव्यच्युत नहीं होना चाहिये तथा भोग और प्रमाद-आलस्यमें भी अपना जीवन कभी नहीं बिताना चाहिये । मनुष्य-शरीरको पाकर जो अपना जीवन भोगोंमें

बिताता है, उसके लिये श्रीतुलसीदासजी श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें कहते हैं—

नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥
(४३। १-२)

क्योंकि यह मनुष्य-शरीर इस लोक और परलोकमें कामोपभोग करनेके लिये नहीं मिला है, आत्माके कल्याणके लिये ही मिला है।

एहि तनु कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
(४३। १)

किंतु बहुत-से मनुष्य परमपुरुषार्थरूप परमात्माकी प्राप्तिके विषयमें और धर्माचरणके विषयमें दैव यानी प्रारब्धको प्रधान मानकर साधन छोड़ बैठते हैं, वे श्रद्धाहीन और संशययुक्त मनुष्य मूर्खताके कारण ही परमपुरुषार्थरूप मोक्षसे वञ्चित रहते हैं। उनको कहीं भी सुख नहीं मिलता—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥
(गीता ४। ४०)

'विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थसे अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशययुक्त मनुष्यके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है।'

अतः मनुष्यको ज्ञानके द्वारा संशयका छेदन करके अपने कर्तव्यकर्मके पालनके लिये परमपुरुषार्थ करना चाहिये।



मन-इन्द्रियोंको वशमें करके परमात्माको प्राप्त करें

कठोपनिषद्‌में शरीरको रथ, इन्द्रियोंको घोड़े, मनको लगाम, बुद्धिको सारथि, इन्द्रियोंके विषयोंको रथके चलनेका मार्ग और जीवात्माको रथी बतलाया गया है । परमात्माके अंश जीवात्माको इसी रथके द्वारा विषयोंके मार्गपर चलकर ही परमात्माके परम धाम पहुँचना है । रथको घोड़े ही चलाते हैं, परंतु घोड़े उच्छृङ्खल होकर उल्टे मार्गपर भी जा सकते हैं और वशमें रहकर सीधे परमात्माके मार्गपर भी चल सकते हैं । जिस रथका सारथि विवेकयुक्त, अप्रमत्त, स्वामीका आज्ञाकारी, लक्ष्यपर स्थिर, बलवान्, रास्तेका जानकार और घोड़ोंको लगामके सहारेसे अपने वशमें रखकर—इच्छानुसार सन्मार्गपर चला सकता है, वह रथ अपने लक्ष्यपर पहुँच जाता है । इसी प्रकार जिस पुरुषकी बुद्धि विवेकसम्पन्न, जीवात्माको परमात्माके धाममें ले जानेके लिये तत्पर परमात्मामें लगी हुई, मन-इन्द्रियोंको अपने वशमें रखनेवाली, सदा सावधानीके साथ सबको साधन-मार्गपर ले चलनेवाली होती है, वह पुरुष इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरता हुआ भी—जैसे सत्-सारथिके द्वारा संचालित रथ मार्गपर चलकर लक्ष्यकी ओर बढ़ता रहता है, वैसे ही—परमात्माकी ओर बढ़ता रहता है । इन्द्रियाँ तथा मन यदि साधकके अपने वशमें हों और साधक उन्हें भगवत्सम्बन्धी विषयोंमें ही लगाये रक्खे तो इस प्रकार उन इन्द्रियोंका विषयोंमें विचरण करना हानिकारक नहीं है, प्रत्युत लाभदायक है; क्योंकि ऐसा करके वह परमात्माके समीप पहुँच जाता है । जबतक शरीर, इन्द्रियाँ और

मन हैं, तबतक उनको विषयोंसे सर्वथा अलग कर देना सम्भव नहीं है। अतएव साधक उनमेंसे राग-द्वेषको हटाकर विशुद्ध बना ले और फिर उनका यथायोग्य साधनरूप विषयोंमें उपयोग करे। भगवान्‌ने कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥
(गीता २। ६४-६५)

'अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक तो अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

यह है वशमें किये हुए रागद्वेषरहित मन-इन्द्रियोंके सद्‌विषयोंमें विचरण करनेका परिणाम! जिन मन-इन्द्रियोंके द्वारा इन्द्रिय-सुखकी आशासे विषयोंका उपभोग करके दुःखोंको निमन्त्रण दिया जाता है, उन्हीं मन-इन्द्रियोंसे उन्हें साधनमें लगाकर परमात्माकी प्राप्ति की जा सकती है; परंतु जिसकी बुद्धि असावधान है, निर्बल है, इन्द्रियोंके तथा मनके अधीन है, प्रमत्त है, लक्ष्यशून्य है और परमात्माको भूली हुई है; उसको ये ही इन्द्रियाँ विपरीत मार्गमें अग्रसर होकर वैसे ही सर्वथा पतनके गर्त्तमें गिरा देती हैं, अथवा

किसी भयानक दुष्कर्मरूप पत्थरसे भिड़ाकर मानव-जीवनको चूर-चूर कर डालती हैं, जैसे असावधान और निर्बल सारथिके द्वारा लगामको प्रचण्ड बलवाले घोड़ोंके अधीन छोड़ देनेपर घोड़े उस रथको सारथि और रथीसहित गहरे गड्ढेमें डाल देते हैं, अथवा किसी दीवालसे टकराकर चकनाचूर कर डालते हैं।

विचार करनेपर यह पता लगता है कि इन्द्रियाँ स्वाभाविक ही बहिर्मुखी हैं। वे नित्य निरन्तर विषयोपभोगके लोभमें पड़ी हुई विषयोंकी ओर दौड़ती और मन-बुद्धिको भी बलपूर्वक खींचती रहती हैं। अतः उनको सदा-सर्वदा सावधानीसे मनके सहारेसे यानी मनको उनके साथ न जाने देकर वशमें रखनेका प्रयत्न करना चाहिये। इन्द्रियाँ वशमें न होंगी और मन उनका साथ देने लगेगा तो वे बुद्धिको वैसे ही विचलित कर देंगी जैसे जलमें पड़ी हुई नौकाको वायु डगमगा देती है। भगवान्‌ने गीतामें यही कहा है—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥
(२।६७)

'क्योंकि जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है।' इसपर भगवान् कहते हैं—

तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
(२।६८)

'इसलिये हे महाबाहो ! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है ।'

जिस प्रकार चतुर और सुयोग्य केवट नावको भँवरसे तथा प्रबल जलधारामें बहनेसे बचाकर, खास करके, पालके सहारेसे वायुको अनुकूल बनाकर सावधानीसे डाँड़ खेता हुआ मार्गपर अग्रसर होता रहता है तो नाव सुरक्षित अपने स्थानपर पहुँच जाती है, इसी प्रकार भ्रम-प्रमादादिसे रहित सुयोग्य एकनिष्ठ साधक बुद्धि-मन-इन्द्रियोंसे युक्त शरीर-रथको राग-द्वेषरूपी भँवर तथा कामनारूपी तीव्रधार जलके प्रवाहसे बचाकर सत्संगरूपी पालके सहारेसे भगवत्कृपारूप वायुको अनुकूल बनाकर आगे बढ़ता रहता है तो वह सुरक्षित भगवान्‌के परम धाममें पहुँच जाता है ।

अतएव साधकको चाहिये कि वह अपनेको शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धिका स्वामी मानकर उनके वशमें न हो, बल्कि इन्द्रियोंको उनके पतनकारक तथा अनावश्यक मनमाने विषयोंमें जानेसे रोककर, उनमें रहे हुए राग-द्वेषसे उन्हें छुड़ाकर मनको वशमें करे और बुद्धिको एक परमात्मनिष्ठ निश्चयात्मिका बनाकर परमात्मामें स्थिर कर दे । यथार्थतः ऐसा हो जानेपर तो मन-इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले सभी कार्य सहज ही भगवत्-कार्य बन ही जाते हैं । परंतु इसके पहले साधनकालमें भी इस आदर्शके अनुसार साधन करनेसे चित्तकी प्रसन्नता—निर्मलता प्राप्त हो जाती है और उसके द्वारा भगवत्प्राप्तिका मार्ग सुलभ और प्रशस्त हो जाता है । अतः साधकका कर्तव्य है कि वह इस प्रकार साधन करके मानव-जीवनके परम लक्ष्य परम शान्ति और परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त करे ।

परम सेवासे कल्याण

संसारके प्रायः सभी प्राणी दुःखमें निमग्न हैं। दुःखके दो भेद हैं—(१) लौकिक और (२) पारलौकिक। लौकिक दुःख भी तीन प्रकारके होते हैं—(१) आधिभौतिक, (२) आधिदैविक और (३) आध्यात्मिक। मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट, पतंग आदि प्राणियोंके द्वारा जो दुःख प्राप्त होता है, वह 'आधिभौतिक' दुःख है। वायु, अग्नि, जल, वृष्टि, देश, काल, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्रमा आदिके अभिमानी देवताओंद्वारा जो दुःख प्राप्त होता है, वह 'आधिदैविक' दुःख है। 'आध्यात्मिक' दुःख दो प्रकारका होता है—(१) आधि एवं (२) व्याधि। आधिके भी दो भेद हैं—(१) मन-बुद्धिमें पागलपन, मृगी, उन्माद, हिस्टीरिया आदि रोग तथा (२) काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, राग-द्वेष, ईर्ष्या-भय, छल-कपट, अहंता-ममता आदि अध्यात्मविषयक हानि करनेवाले दुर्गुण। इन सबको तथा इसी प्रकारके अन्य मानसिक रोगोंको 'आधि' कहा जाता है। शरीर और इन्द्रियोंमें होनेवाले रोगोंको 'व्याधि' कहते हैं। एवं पारलौकिक दुःख है—मरनेके बाद परलोकमें या पुनः इस लोकमें आकर नाना प्रकारकी योनियोंमें भ्रमण करना। इन सभी प्रकारके दुःखोंका सर्वथा अभाव परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे होता है। परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे ही परमात्माकी प्राप्ति होती है। परमात्माकी प्राप्ति होनेपर उपर्युक्त सभी दुःखोंका अत्यन्त अभाव होकर सदाके लिये परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

यद्यपि परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके शरीरमें भी प्रारब्धके कारण उपर्युक्त दुःखोंकी प्राप्ति लोगोंके देखनेमें आ सकती है, तथापि वास्तवमें उसकी आत्मा सब दुःखोंसे रहित ही है। उसमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है एवं शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणके साथ उसकी आत्माका किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रहता; अतः उसके प्रारब्धसे होनेवाले शरीरसम्बन्धी दुःखोंका होना कोई मूल्य नहीं रखता।

वह परमात्माका यथार्थ ज्ञान ईश्वरकी भक्ति, सत्पुरुषोंके सङ्ग, गीतादि शास्त्रोंके स्वाध्याय, निष्काम कर्म, ध्यानयोग और ज्ञानयोग आदिके साधनसे होता है। इनमेंसे ईश्वर-भक्तिपूर्वक निष्काम कर्मका कुछ विषय नीचे बतलाया जाता है।

श्रीभगवान् सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें विराजमान हैं। इसलिये सबकी सेवा भगवान्‌की सेवा है। गीता कहती है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको पा लेता है।'

उपर्युक्त सेवा सिद्ध पुरुषोंके द्वारा तो स्वाभाविक ही होती रहती है। साधकके लिये सिद्ध पुरुषके गुण और आचरण ही अनुकरणीय हैं। अतः साधकको उनके गुण और आचरणोंका

लक्ष्य रखकर उनके अनुसार साधन करना चाहिये। ऐसे सिद्ध प्रेमी भक्तोंके लक्षण भगवान्‌ने गीताके बारहवें अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक बतलाये हैं तथा उनके अनुसार चलनेवाले भक्तको भगवान्‌ने अपना 'प्रियतर' कहा है—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥
(१२। २०)

'परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतका निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

अतः सबमें भगवान्‌को व्याप्त समझकर भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार उनके नाम-रूपको याद रखते हुए निष्कामभावसे सबकी सेवा करनी चाहिये। उस सेवाके दो रूप होते हैं—(१) सेवा और (२) परम सेवा।

भूकम्प, बाढ़, अकाल, अग्निकाण्ड आदिसे कष्ट प्राप्त होने या रोग आदिसे ग्रस्त होने अथवा अन्य किसी कष्टके कारण जो दुखी, अनाथ और आर्त हो रहे हैं, उन स्त्री-पुरुषोंका दुःख निवृत्त करनेका और उनको सुख पहुँचानेका नाम 'सेवा' है। इस लौकिक सेवाके अनेक प्रकार हैं, जैसे—

(१) कोई बीमार—आतुर व्यक्ति जो सड़कपर पड़ा है, जिसके पास खाने-पीनेको भी कुछ नहीं है, वस्त्र भी नहीं है और स्थान भी नहीं है तथा न दवा और पथ्यका साधन ही है ऐसे व्यक्तिको अस्पतालमें भर्ती करवाकर या कहीं भी रखकर अन्न-वस्त्र

और दवा, चिकित्सा, पथ्य आदिका प्रबन्ध स्वयं कर देना अथवा करवा देना। इस प्रकार धनहीन गरीब अनाथ बीमारोंकी सेवा करना बहुत ही उत्तम है। अतः प्रत्येक भाईको यह सेवा-कार्य करना चाहिये। धर्मार्थ चिकित्सा-संस्थाओंमें काम करनेवाले एवं निष्कामी वैद्योंको ऐसा नियम रखना चाहिये कि बीमार आदमियोंसे संस्थामें तो फीस लें ही नहीं; घरपर जाकर भी फीस न लें।

(२) किसी अग्निकाण्ड या बाढ़के कारण जिसका घर-द्वार जल गया या बह गया हो और जिसके खाने-पीने-पहननेका कोई प्रबन्ध न हो, उसका प्रबन्ध स्वयं कर देना या दूसरोंसे करवा देना।

(३) भूकम्पके कारण जिनके मकान और सारी सम्पत्ति नष्ट हो गयी हो, स्त्री-बाल-बच्चे दबकर मर गये हों, या स्त्रियाँ एवं बाल-बच्चे बिना स्वामीके हो गये हों, उनके खान-पान और स्थान आदिका प्रबन्ध स्वयं कर देना या करवा देना।

(४) जिनके न माता-पिता हैं, न कोई अन्य अभिभावक हैं, ऐसे नाबालिग लड़के-लड़कियोंको अनाथालयमें या और कहीं रखकर उनके खान-पान और पढ़ाई आदिकी व्यवस्था कर देना।

(५) गरीबीके कारण यदि कोई अपनी कन्याका विवाह करनेमें असमर्थ हो तो उसे अपनी शक्तिके अनुसार सहायता देना या दिलवाना।

(६) किसी विधवा स्त्रीके खाने, पीने, पहनने आदिकी व्यवस्था न हो तो उसके खान-पान आदिकी व्यवस्था कर देना या करवा देना।

आजकल गरीब घरोंकी विधवा माता-बहिनोंको तो खान-पान और जीवन-निर्वाहका कष्ट है ही, बहुत-सी धनी घरोंकी विधवा स्त्रियोंका भी ससुराल या नैहरमें आदर नहीं है। घरवालोंका उनके प्रति सेवाभाव न होनेके कारण उनको वे भाररूप प्रतीत होती हैं। इसलिये उनका सभी जगह तिरस्कार होता है। उन विधवाओंके पास जो भी गहना या नकद रुपया होता है, उसे यदि वे ससुराल या नैहरमें जमा करा देती हैं तो कोई-कोई तो उनके रुपयों और गहनोंको हड़प ही जाते हैं। यह परिस्थिति कई जगह देखी जाती है। इसलिये माता-बहिनोंको अपना गहना बेचकर रुपया बैंकमें जमा रखना चाहिये या अच्छे डिबेंचर ले लेने चाहिये चाहे उनका व्याज कम ही मिले।

विधवा माता-बहिनोंसे प्रार्थना है कि उनको अपना जीवन विरक्त पुरुषोंकी भाँति ज्ञान-वैराग्य-सदाचारमें और भजन-ध्यान आदि ईश्वरकी भक्तिमें तथा मन-इन्द्रियोंके संयमरूप तपमें बिताना चाहिये एवं नैहर और ससुरालमें सबकी निष्काम सेवा करना—जैसे घरमें रसोई बनाना, सीने-पिरोने आदिका काम करना उनके लिये परम उपयोगी है। घरका काम-धंधा किये बिना भोजन करना अनुचित है। इस प्रकार निष्काम सेवाभावसे कार्य करनेपर अन्त:करण भी शुद्ध होता है और नैहर तथा ससुरालके लोग भी प्रसन्न रहते हैं। विधवाओंके लिये प्रधान बात है—प्रात:काल और सायंकाल एकान्तमें बैठकर जप, ध्यान और स्वाध्याय आदि करना तथा शयनके समय भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभावको याद करते हुए सोना

एवं काम करते समय भी उस कामको भगवान्‌का काम समझते हुए निःस्वार्थ भावसे हर समय भगवान्‌को याद रखते हुए ही भगवत्प्रीत्यर्थ काम करनेका अभ्यास डालना। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समय निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

इसी प्रकार अन्य स्त्री-पुरुषोंको भी विधवा माता-बहिनोंके साथ उत्तम व्यवहार एवं उनकी सेवा करनी चाहिये; क्योंकि अपने धर्मका पालन करनेवाली विधवा स्त्रीकी सेवा दुखी, अनाथ, आतुर और गायकी सेवासे भी बढ़कर है। इसके विपरीत उसको कष्ट देना तो महान् हानिकर है; क्योंकि दुखी विधवा स्त्रीकी दुराशिष खतरनाक होती है।

इसी तरह और भी जो किसी भी कारणसे दुखी हैं, उनका दुःख दूर करनेका प्रयत्न करना।

(७) गाय, बैल, साँड़ आदि जो मूक पशु चारा, पानी, स्थान आदिके अभावमें दुखी हों या रोगी और वृद्ध हो जानेके कारण जिनका पालन उनका स्वामी नहीं कर रहा हो, उनका प्रबन्ध करना।

इसी प्रकार मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि जीवमात्रकी रक्षा करना, उनको दुःखसे बचाकर सुख पहुँचाना—यह सब 'लौकिक सेवा' है।

यह 'लौकिक सेवा' भी अभिमान और स्वार्थका त्याग करके भगवत्प्रीत्यर्थ निष्कामभावसे करनेपर 'परम सेवा' के रूपमें परिणत हो जाती है।

'परम सेवा' वह है, जो नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकते हुए मनुष्यको सदाके लिये सभी दुःखोंसे रहित करके परमात्माकी प्राप्ति करा देती है। भगवत्प्राप्त महापुरुषोंके द्वारा तो यह सेवा स्वाभाविक होती रहती है, साधक पुरुष भी उन महापुरुषोंके द्वारा स्वाभाविक होनेवाली परम सेवाको साधन मानकर कर सकता है। यद्यपि किसी भी मनुष्यका कल्याण करनेकी सामर्थ्य साधकोंमें नहीं होती, फिर भी सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की आज्ञा, दया और प्रेरणाका आश्रय लेकर, कर्त्तापनके अभिमानसे रहित हो वह 'परम सेवा' में निमित्त तो बन ही सकता है।

इस 'परम सेवा' के भी कई प्रकार हैं। जैसे—

(१) संसारमें भटकते हुए मनुष्योंको जन्म-मरणसे रहित होनेके लिये शास्त्रके या महापुरुषोंके वचनोंके आधारपर ज्ञानयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग आदिकी शिक्षा देना।

(२) जो मरणासन्न मनुष्य गीता, रामायण आदि या भगवन्नाम सुनना चाहता हो, उसे वह सब सुनाना।

यह कार्य यज्ञ-दान, तप-सेवा, जप-ध्यान, पूजा-पाठ, सत्सङ्ग-स्वाध्यायकी अपेक्षा भी अधिक महत्त्वकी चीज है; क्योंकि ये सब साधन तो हम दूसरे समय भी कर सकते हैं; किंतु जो मरणासन्न है, उसे भगवद्विषयक बातें सुनानेका काम उसके मरनेके बाद तो हो नहीं सकता। किसी मरणासन्न मनुष्यको जप-ध्यान, पूजा-पाठ, सत्सङ्ग-स्वाध्याय आदि करानेसे उसका मन यदि भगवान्‌में लग जाय तो उसका कल्याण उसी समय हो सकता है। भगवान्‌ने कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
(गीता ८।५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

अतः इस प्रकार प्रयत्न करते-करते यदि एक मनुष्यका भी कल्याण हमारे द्वारा हो गया तो हमारा यह जन्म सफल हो गया; क्योंकि मनुष्यका जन्म आत्माका कल्याण करनेके लिये ही है। हम अपना कल्याण नहीं कर सके, किंतु हमारेद्वारा किसी एक मनुष्यका भी कल्याण हो गया तो हमारा भी यह जीवन सफल हो गया। हम भगवान्‌से कुछ भी नहीं माँगेंगे, तो भी भगवान् हमारा कल्याण ही करेंगे; क्योंकि हम यह कार्य अभिमान, स्वार्थ और अहंकारसे रहित होकर केवल भगवत्प्रीत्यर्थ निष्कामभावसे कर रहे हैं। यदि हमारा बार-बार जन्म हो और हमें भगवान् यह काम सौंपें तो हमारे लिये यह मुक्तिसे भी बढ़कर होगा। इसलिये ऐसा

मौका प्राप्त हो जाय तो उसे नहीं छोड़ना चाहिये । लाख काम छोड़कर यह काम सबसे पहले करना चाहिये; क्योंकि इस प्रकारके अत्यन्त आतुर मनुष्यकी परम सेवासे बढ़कर मनुष्यके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है ।

(३) गीता, रामायण, भागवत आदि धार्मिक ग्रन्थ; 'कल्याण', 'कल्याण-कल्पतरु', 'महाभारत' आदि धार्मिक मासिक पत्र तथा महापुरुषोंके लेख, व्याख्यान, जीवनचरित्र या उनके दिये हुए उपदेश-आदेशमय प्रवचन इत्यादि आध्यात्मिक पुस्तकोंको विवाह-द्विरागमन आदि अवसरोंपर देना-दिलाना; साधु-महात्मा, विद्यार्थी आदिको देना-दिलाना अथवा उचित मूल्यपर या बिना मूल्य लोकहितार्थ वितरण करना-कराना; ऋषिकुल, गुरुकुल, ब्रह्मचर्याश्रम, हाईस्कूल, कालेज, विद्यालय, पाठशाला, जेलखाना, अस्पताल और आयुर्वेदिक चिकित्सालय आदिमें उपर्युक्त आध्यात्मिक पुस्तकोंको मूल्य लेकर या बिना मूल्य वितरण करना-करवाना; दूकान खोलकर या लारियोंद्वारा, ठेलोंद्वारा या स्वयं झोलेमें लेकर शहरों, गाँवों और बाहरी बस्तियोंमें अथवा मेला आदिमें उनका प्रचार करना—यह भी एक परमार्थ-विषयकी सेवा है । यह भी यदि अभिमान और स्वार्थका त्याग करके निष्काम भावसे भगवत्प्रीत्यर्थ की जाय तो 'परम सेवा'में परिणत हो जाती है ।

इसलिये प्रत्येक मनुष्यको इस प्रचार-कार्यको अपने कल्याणके—परमात्माकी प्राप्तिके साधनका रूप देकर बड़ी तत्परता और उत्साहके साथ करना चाहिये ।



यम-नियमोंके पालनसे परमात्माकी प्राप्ति

महर्षि पतञ्जलिने आत्माके सुधार और उद्धारके लिये योगके आठ अङ्गोंका प्रतिपादन किया है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि*। इनके सेवनसे मनुष्यके अन्तःकरणकी शुद्धि और ज्ञानकी प्राप्ति होकर उसका कल्याण हो जाता है, इसमें तो कहना ही क्या है? केवल यम और नियमोंका साङ्गोपाङ्ग पालन करनेसे भी मनुष्यका उद्धार हो सकता है।

यम

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँचोंका नाम 'यम' है†। ये पाँचों यम सब जाति, सब देश और सब कालमें पालन किये जायँ तो इनकी 'महाव्रत' संज्ञा हो जाती है‡। जैन शास्त्रोंमें भी इन पाँचों यमोंको 'महाव्रत' के नामसे कहा है। अब इनमेंसे प्रत्येकपर अलग-अलग विचार करना चाहिये।

अहिंसा—सब प्रकारसे हिंसाका अत्यन्त अभाव होना 'अहिंसा' है। हिंसा आदि दोषोंके अनेक भेद बतलाये गये हैं।

---

* यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।
(योगदर्शन २।२९)

'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ योगके अङ्ग हैं।'

† अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। (योगदर्शन २।३०)

‡ जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।
(योगदर्शन २।३१)

'(उक्त यम) जाति, देश, काल और निमित्तकी सीमासे रहित सार्वभौम होनेपर महाव्रत हो जाते हैं।'

सर्वप्रथम हिंसाके 'कृत', 'कारित' और 'अनुमोदित'—ये तीन भेद होते हैं। अपने द्वारा की जाय वह 'कृत-हिंसा', दूसरेके द्वारा करवायी जाय वह 'कारित हिंसा' और जो कोई व्यक्ति स्वेच्छासे हिंसा करता है उसका समर्थन करना 'अनुमोदित हिंसा' है। यह तीनों प्रकारकी ही हिंसा लोभपूर्वक, क्रोधपूर्वक और मोहपूर्वक होती है; इस प्रकार इसके नौ भेद हो जाते हैं। किसी स्वार्थके वशीभूत होकर जो हिंसा की जाती है, वह लोभपूर्वक हिंसा है और किसीकी द्वेषबुद्धिसे जो हिंसा की जाती है, वह क्रोधपूर्वक हिंसा है एवं जो अज्ञान (बे-समझी) से हिंसा की जाती है, वह मोहपूर्वक हिंसा है। यह नौ प्रकारकी हिंसा मृदु, मध्य और अधिमात्राके भेदसे सत्ताईस प्रकारकी हो जाती है। किसीको जो साधारण दुःख दिया जाता है, वह मृदुमात्रामें हिंसा है और जो किसीको विशेष चोट पहुँचायी जाती है, वह मध्यमात्रामें हिंसा है एवं जो किसीका वध किया जाता है, वह अधिमात्रामें हिंसा है। इस प्रकार हिंसाके और भी बहुत-से भेद हैं।

किंतु यदि कोई व्यक्ति मनुष्य और गायकी हिंसा तो नहीं करता, अन्य प्राणियोंकी हिंसा करता है तो वह अहिंसा एकदेशीय है। इसी प्रकार कोई तीर्थोंमें हिंसा नहीं करता, अन्य स्थानोंमें करता है तो वह भी एकदेशीय अहिंसा है। इसी तरह कोई संक्रान्ति, ग्रहण और पर्वोंके दिन तो हिंसा नहीं करता, अन्य दिनोंमें करता है, तो वह भी एकदेशीय अहिंसा है। ऐसे ही यदि कोई केवल मृत्यु, विवाह-शादी आदि अवसरोंके सिवा हिंसा नहीं करता तो वह अहिंसा भी एकदेशीय है,

सार्वभौम नहीं। सार्वभौम अहिंसा तो वही है, जिसमें किसी जाति, किसी देश, किसी काल और किसी निमित्तको लेकर भी हिंसा न की जाय—हिंसाका सर्वथा परित्याग किया जाय। अतएव मन, वाणी और शरीरसे एवं ज्ञात, अज्ञात और प्रमाद किसी भी प्रकारसे किसी भी प्राणीकी कभी कहीं किसी भी निमित्तसे किंचिन्मात्र भी हिंसा न करना 'सार्वभौम अहिंसा' है।

जिस प्रकार ऊपर हिंसाके भेद दिखलाये गये हैं, इसी प्रकार झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रहके विषयमें समझ लेना चाहिये।

सत्य—जिस घटना, परिस्थिति और वार्तालापके सम्बन्धमें जो बात जैसी देखी, सुनी और समझी गयी हो, उसको उसी रूपमें कहना, न कम कहना और न अधिक कहना एवं न वैसी-की-वैसी बात कहकर भी दूसरा भाव समझाना—इस प्रकारका जो कपट-रहित यथार्थभाषण है, वह 'सत्य' है।

लोभ, क्रोध या मोहपूर्वक थोड़ी मात्रामें, मध्य मात्रामें और अधिक मात्रामें झूठ बोलना, झूठ बुलवाना या झूठका समर्थन करना सभी झूठ है। इसलिये किसीके भी लिये किसी भी स्थानमें, कभी भी, किसी भी निमित्तको लेकर किंचिन्मात्र भी झूठ न बोलना, न बुलवाना और न समर्थन करना, न झूठा संकेत करना, न झूठा आचरण करना और न झूठा संकल्प ही करना—इस प्रकार इन सभी भेदोंवाले झूठका सदाके लिये सर्वथा त्याग कर देना 'सत्य' है।

अस्तेय—दूसरेकी जगह-जमीन, मकान, धन, पशु आदि किसी भी प्रकारकी चल-अचल सम्पत्तिको झूठ, कपट, विश्वासघात,

दगाबाजी, जबरदस्ती किसी भी प्रकारसे कभी अपने अधिकारमें न करना 'अस्तेय' है।

लोभ, क्रोध या मोहपूर्वक थोड़ी मात्रामें, मध्य मात्रामें या अधिक मात्रामें चोरी करना, चोरी करवाना या चोरीका समर्थन करना—सभी चोरी है। इसलिये किसी भी जातिकी, किसी भी स्थानमें, किसी भी निमित्तको लेकर मन, वाणी और शरीरसे किंचिन्मात्र भी कभी चोरी न करना, न चोरी करवाना और न चोरीका समर्थन ही करना 'अस्तेय' है।

ब्रह्मचर्य—पुरुषके लिये किसी भी स्त्रीके साथ कुत्सितभावसे दर्शन, भाषण, स्पर्श, एकान्तवास, स्मरण, श्रवण, हँसी-मजाक, सहवास आदिका सम्बन्ध कभी किसी प्रकार भी न रखना 'ब्रह्मचर्य' है। इसी प्रकार स्त्रीके लिये पुरुषके विषयमें समझ लेना चाहिये।

लोभ, क्रोध या मोहपूर्वक थोड़ी मात्रामें, मध्य मात्रामें या अधिक मात्रामें सहवास करना, करवाना या उसका अनुमोदन करना ब्रह्मचर्य-पालनमें कलङ्क है, इसलिये किसी भी मनुष्य या पशु आदिके साथ कहीं, किसी भी निमित्तको लेकर किसी भी प्रकार, हाथसे या अन्य किसी अङ्गसे, कभी किंचिन्मात्र भी कुत्सित चेष्टा न करना, न वाणीसे अश्लील वचन बोलना, न मनमें अश्लील भावोंको स्थान देना, न किसी प्रकारसे अश्लील संकेत करना, न दूसरोंसे करवाना और न इस विषयका अनुमोदन ही करना 'सार्वभौम ब्रह्मचर्य' का पालन है।

अपरिग्रह—शरीर-निर्वाहके अतिरिक्त सुख-भोगकी बुद्धिसे

भोग्य-पदार्थोंका एवं धन, मकान, पशु आदि चल-अचल सम्पत्तिका संग्रह न करना 'अपरिग्रह' है ।

लोभ, क्रोध या मोहपूर्वक थोड़ी मात्रामें, मध्य मात्रामें या अधिक मात्रामें भोग-सामग्रीका संग्रह करना, करवाना या उसका अनुमोदन करना 'परिग्रह' है । इसलिये किसी भी निमित्तको लेकर कभी, कहीं किसी भी प्रकारसे किसी भी भोग्य-पदार्थका या चल-अचल सम्पत्तिका किंचिन्मात्र भी संग्रह न करना, न किसीसे कोई चीज माँगना, न संकेत करना, न इच्छा करना, न संग्रह करवाना और न इस विषयमें अनुमोदन ही करना 'अपरिग्रह' है ।

नियम—

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—इन पाँचोंका नाम 'नियम' है* । अब इनपर अलग-अलग विचार करना चाहिये ।

शौच (पवित्रता)—पवित्रता दो प्रकारकी होती है—१-बाहरकी, २—भीतरकी । बाहरकी पवित्रताके भी दो भेद हैं—१—शौचाचार, २—सदाचार । जल-मृत्तिकासे सफाई करके शरीरको, झाड़-बुहारकर घरको और न्यायसे उपार्जन किये हुए द्रव्यसे भोजनको पवित्र बनाना 'शौचाचार' है; एवं स्वार्थ और अहंकारका त्याग करके विनययुक्त सबके साथ प्रेमका व्यवहार करना तथा उत्तम आचरणोंका पालन करना 'सदाचार' है, यह बाहरकी पवित्रता है एवं जप, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास आदि निष्काम कर्म और उत्तम

---

* शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।
(योगदर्शन २ । ३२)

विचारोंके द्वारा हृदयमें स्थित अहंता-ममता, काम-क्रोध, लोभ-मोह, राग-द्वेष आदि दुर्गुणोंका सर्वथा नाश करना भीतरकी पवित्रता है ।

संतोष—अपने कर्तव्यका पालन करते हुए उसका जो कुछ परिणाम हो उसको तथा सुख-दु:ख, लाभ-हानि एवं अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थ और परिस्थितिकी प्राप्ति होनेपर उसको ईश्वरका मङ्गलमय विधान समझकर सब प्रकारकी इच्छासे रहित हो समचित्त और प्रसन्न रहना 'संतोष' है ।

तप—शारीरिक और मानसिक कष्टके प्राप्त होनेपर उसको सहन करना एवं मन-इन्द्रियोंको वशमें करके राग-द्वेषसे रहित हो अपने धर्मके पालन और व्रत-उपवास आदिके द्वारा शरीर, मन, इन्द्रियोंको तपाकर शुद्ध करना 'तप' है ।

स्वाध्याय—जिनके अध्ययन-मननसे अपने इष्टदेव ईश्वरका साक्षात्कार हो, उन शास्त्रोंका और महापुरुषोंके वचनोंका अर्थ और भावको समझकर अध्ययन करना स्वाध्याय है ।

ईश्वर-प्रणिधान—सर्वशक्तिमान् , सर्वज्ञ, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वरके गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपका श्रद्धापूर्वक निश्चय करके उनको ही परम प्राप्य, परम गति, परम आश्रय और सर्वस्व समझना; उनको अपना स्वामी, भर्ता, प्रेरक, रक्षक और परम हितैषी समझकर, सब प्रकारसे उनपर निर्भर और निर्भय हो जाना; सब कुछ ईश्वरका समझकर उनकी आज्ञाका पालन करना; जो कुछ भी दु:ख-सुखके भोग प्राप्त हों, उनको ईश्वरका भेजा हुआ पुरस्कार समझकर सदा ही संतुष्ट रहना; अतिशय श्रद्धा-प्रेमपूर्वक ईश्वरके नाम, गुण,

प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपका नित्य-निरन्तर स्मरण करना एवं अपने सर्वस्वको और अपने-आपको उनके समर्पण कर देना 'ईश्वर-प्रणिधान' है ।

योगके इन दो अङ्गों—यम-नियमोंके साधनसे अन्तःकरण शुद्ध होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है । यदि योगके इन अङ्गोंके एक अंशका भी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तत्परताके साथ निष्कामभावसे भलीभाँति पालन कर लिया जाय तो उससे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है । महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

संतोषादनुत्तमसुखलाभः । (योगदर्शन २ । ४२)

'संतोषसे उस सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है, जिससे उत्तम दूसरा कोई सुख नहीं है ।' वैसा सर्वोत्तम सुख परमात्माकी प्राप्ति होनेपर ही हो सकता है ।

इसी प्रकार केवल स्वाध्यायसे भी इष्टदेव परमेश्वरका साक्षात्कार हो जाता है—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः । (योगदर्शन २ । ४४)

'स्वाध्यायसे इष्टदेवताकी भलीभाँति प्राप्ति (साक्षात्कार) हो जाती है ।'

इसी प्रकार अभ्यास और वैराग्यके द्वारा जो चित्तवृत्तियोंका निरोधरूप योग* बतलाया गया है और जिसका फल आत्म-स्वरूपमें स्थिति (उसका साक्षात्कार) होना† बतलाया गया है, उस चित्तवृत्तिनिरोधरूप समाधिकी प्राप्ति केवल 'ईश्वर-प्रणिधान'से ही हो जाती है—

---

* योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । (योगदर्शन १ । २)

† तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् । (योगदर्शन १ । ३)

ईश्वरप्रणिधानाद्वा। (योगदर्शन १ । २३)

'इसके सिवा ईश्वरप्रणिधानसे भी निर्बीज समाधिकी सिद्धि हो जाती है।'

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। (योगदर्शन २ । ४५)

'ईश्वर-प्रणिधानसे समाधिकी सिद्धि हो जाती है।'

यही नहीं, उपर्युक्त ईश्वरके नाम-जप और उसके अर्थकी भावनासे ही सब विघ्नोंका नाश होकर आत्मस्वरूपका ज्ञान होना बतलाया गया है—

तज्जपस्तदर्थभावनम्। ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। (योगदर्शन १ । २८-२९)

'उस ॐका जप और उसके अर्थस्वरूप परमेश्वरका चिन्तन करना—इस साधनसे विघ्नोंका अभाव और आत्माके स्वरूपका ज्ञान हो जाता है।'

उपर्युक्त सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति, इष्टदेवताका साक्षात्कार, आत्माके स्वरूपमें स्थिति, चित्तवृत्तिनिरोधरूप समाधिकी सिद्धि और आत्माके स्वरूपका ज्ञान—ये सभी कल्याणस्वरूप हैं।

अतः यह सिद्ध हुआ कि योगके अङ्गभूत यम-नियमोंके एक अंशका भी अनुष्ठान भलीभाँति किया जाय तो उसीसे आत्माका कल्याण हो सकता है, क्योंकि एककी पूर्णतामें सबका समावेश अनायास अपने-आप हो जाता है, इसलिये हमलोगोंको उपर्युक्त यम-नियमोंके स्वरूपको समझकर उनका निष्कामभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तत्परताके साथ भलीभाँति पालन करना चाहिये।

गायत्री-जपकी महिमा

संसारमें पापोंके नाश और आत्मोद्धारके लिये गायत्री-जप और गायत्री-पुरश्चरणके समान अन्य कोई जप और पुरश्चरण नहीं है। गायत्रीका जप तीर्थ, व्रत, तप और दानसे भी बढ़कर है। इसलिये अधिकारप्राप्त द्विजको विशुद्ध और एकान्त स्थानमें निवास करते हुए श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे अधिक-से-अधिक गायत्रीका जप करना चाहिये। गायत्रीका जप यदि मानसिक किया जाय तो वह विशेष लाभप्रद होता है। श्रीमनु महाराज कहते हैं—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥
(२।८५)

'दर्श-पौर्णमासादि विधियज्ञोंसे साधारण (जोर-जोरसे किया जानेवाला) जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है, उपांशु (दूसरेको सुनायी न दे ऐसे स्वरमें किया जानेवाला) जप सौगुना श्रेष्ठ है और मानसिक जप हजारगुना श्रेष्ठ माना गया है।'

फिर जो जप केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे श्रद्धा-प्रेम और निष्कामभावपूर्वक किया जाता है, उसका फल तो अनन्तगुना श्रेष्ठ है, उसकी तो कोई सीमा ही नहीं है। अतएव हमलोगोंको गायत्रीका जप श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभावपूर्वक मानसिक ही करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

गायत्री-जपकी बड़ी भारी महिमा है। गायत्रीमन्त्रमें परमात्माकी स्तुति, ध्यान और प्रार्थना है। इस प्रकार एक ही मन्त्रमें उक्त तीनों बातोंका समावेश बहुत ही कम मिलता है। इस मन्त्रके छन्दका नाम गायत्री है, इसलिये इसे गायत्री-मन्त्र कहते हैं। गायत्रीदेवीको ही परमात्मा समझनेवाले उनके उपासक इस मन्त्रमें गायत्रीदेवीकी ही स्तुति, ध्यान और प्रार्थना मानते हैं। इसकी अधिष्ठातृ-देवता भी वे गायत्रीको ही मानते हैं। उनका यह मानना भी ठीक है; क्योंकि सृष्टिकर्ता परमात्माकी शिवके उपासक शिवरूपमें, विष्णुके उपासक विष्णुरूपमें, सूर्यके उपासक सूर्यरूपमें और देवीके उपासक देवीरूपमें उपासना करके परमात्माको प्राप्त हो सकते हैं। कारण स्पष्ट है। नाम-रूप भिन्न-भिन्न होनेपर भी सबका लक्ष्य एकमात्र परमात्मा ही हैं और लक्ष्य ही प्रधान वस्तु है; अतः उन-उन उपासकोंको परमात्मस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति होना युक्तिसंगत ही है। सभी नाम और रूप परमात्माके ही तो हैं।

गायत्रीको हमारे शास्त्रोंमें वेदमाता कहा गया है। गायत्रीकी महिमा चारों ही वेद गाते हैं। श्रीनारायणोपनिषद्में कहा गया है—

'गायत्री छन्दसां माता' (मन्त्र ३४)*

अर्थात् गायत्री समस्त वेदोंकी माता हैं।

गायत्रीका माहात्म्य बतलाते हुए शङ्खस्मृति कहती है—

अभीष्टं लोकमाप्नोति प्राप्नुयात् काममीप्सितम्।
गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी॥
गायत्र्याः परमं नास्ति दिवि चेह च पावनम्।
हस्तत्राणप्रदा देवी पततां नरकार्णवे॥
(१२ । २४-२५)

'गायत्रीकी उपासना करनेवाला द्विज अपने अभीष्ट लोकको पा जाता है। (इतना ही नहीं, इस जीवनमें) वह मनोवाञ्छित भोग भी प्राप्त कर लेता है। गायत्री समस्त वेदोंकी जननी तथा सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाली हैं। स्वर्गलोकमें तथा पृथ्वीपर गायत्रीसे बढ़कर पवित्र करनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है। गायत्रीदेवी नरकसमुद्रमें गिरनेवालोंको हाथका सहारा देकर बचा लेनेवाली हैं।'

संवर्तस्मृतिमें भी आया है—

गायत्र्यास्तु परं नास्ति शोधनं पापकर्मणाम्।
महाव्याहृतिसंयुक्तां प्रणवेन च संजपेत्॥
(२१८)

'गायत्रीसे बढ़कर पापकर्मोंसे शुद्ध करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। अतः प्रणव (ॐकार) सहित तीन व्याहृतियोंसे युक्त गायत्री-मन्त्रका जप करना चाहिये।'

---

* यह संख्या निर्णयसागरप्रेस बम्बईसे प्रकाशित 'ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः' में संकलित नारायणोपनिषद्के अनुसार है।

श्रीमनुजी कहते हैं—

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
संध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥
(२। ७८)

'इस ओंकार और व्याहृतिसहित गायत्रीका दोनों कालोंमें जप करनेवाला वेदज्ञ ब्राह्मण वेदपाठका पुण्यफल पा लेता है।'

योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥
(२। ८२)

'जो पुरुष तीन वर्षतक प्रतिदिन आलस्य छोड़कर गायत्रीका जप करता है, वह मृत्युके बाद वायुरूप होता है और उसके बाद आकाशकी तरह व्यापक होकर परब्रह्मको प्राप्त करता है।'

श्रीगायत्रीकी महिमाके सम्बन्धमें महाभारत, शान्तिपर्वके १९९ वें और २०० वें अध्यायोंमें एक बड़ा सुन्दर उपाख्यान मिलता है। कौशिक गोत्रमें उत्पन्न पिप्पलादका पुत्र एक बड़ा तपस्वी धर्मनिष्ठ ब्राह्मण था। वह गायत्रीका जप किया करता था। लगातार एक हजार वर्षतक गायत्रीका जप कर चुकनेपर उसको सावित्रीदेवीने साक्षात् दर्शन देकर कहा—'मैं तुझपर प्रसन्न हूँ।' परंतु उस समय पिप्पलादका पुत्र जप कर रहा था, वह चुपचाप जप करनेमें लगा रहा और सावित्रीदेवीको उसने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वेदमाता सावित्रीदेवी उसकी इस जपनिष्ठापर और भी अधिक प्रसन्न हुई और उसके जपकी प्रशंसा करती वहीं खड़ी रहीं। जपकी संख्या पूरी होनेपर वह धर्मात्मा ब्राह्मण खड़ा हुआ और देवीके

चरणोंमें गिरकर उनसे उसने यह प्रार्थना की—'यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो कृपा करके मुझे यह वरदान दीजिये कि मेरा मन निरन्तर जपमें लगा रहे और जप करनेकी मेरी इच्छा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे।' भगवती उस ब्राह्मणके निष्कामभावको देखकर बड़ी प्रसन्न हुई और 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गयीं।

ब्राह्मणने पुनः जप आरम्भ कर दिया। देवताओंके सौ वर्ष और व्यतीत हो गये। पुरश्चरणके समाप्त हो जानेपर साक्षात् धर्मने प्रसन्न होकर उस ब्राह्मणको दर्शन दिया और स्वर्गादि लोक माँगनेको कहा। परंतु ब्राह्मणने धर्मको भी वैसा ही उत्तर दिया, वह बोला—'मुझे सनातन लोकोंकी प्राप्तिसे क्या प्रयोजन है, मैं तो गायत्रीका जप करके शान्ति प्राप्त करूँगा।' इतनेमें ही काल (आयुका परिमाण करनेवाले देवता), मृत्यु (प्राणोंका वियोग करनेवाले देवता) और यम (पुण्य-पापका फल देनेवाले देवता) भी उसकी तपस्याके प्रभावसे वहाँ खिंचे हुए चले आये। यम और कालने भी उसकी तपस्याकी बड़ी प्रशंसा की। उसी समय तीर्थ-यात्राके निमित्तसे निकले हुए राजा इक्ष्वाकु वहाँ आ पहुँचे। राजाने तपस्वी ब्राह्मणको बहुत-सा धन देना चाहा; परंतु ब्राह्मणने कहा—'मैंने तो प्रवृत्तिधर्मको त्यागकर निवृत्तिधर्म अङ्गीकार किया है, अतः मुझे धनकी कोई आवश्यकता नहीं है। तुम्हीं कुछ चाहो तो मुझसे माँग सकते हो। मैं अपनी तपस्याके द्वारा तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ?' राजाने उस तपस्वी मुनिसे उसके जपका फल माँग लिया। तपस्वी ब्राह्मण अपने जपका पूरा फल राजाको देनेके

लिये तैयार हो गया, किंतु राजा उसे स्वीकार करनेमें हिचकिचाने लगे। बड़ी देरतक दोनोंमें वाद-विवाद चलता रहा। ब्राह्मण सत्यकी दुहाई देकर राजाको माँगी हुई वस्तु स्वीकार करनेके लिये आग्रह करता था और राजा क्षत्रियत्वकी दुहाई देकर उसे लेनेमें धर्मकी हानि बतलाते थे। अन्तमें दोनोंमें यह समझौता हुआ कि ब्राह्मणके जपके फलको राजा ग्रहण कर लें और बदलेमें राजाके पुण्यफलको ब्राह्मण स्वीकार कर लें। उनके इस निश्चयको जानकर विष्णु आदि देवता वहाँ उपस्थित हुए और दोनोंके कार्यकी सराहना करने लगे। आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। अन्तमें ब्राह्मण और राजा दोनों योगके द्वारा समाधिमें स्थित हो गये। उस समय ब्राह्मण और राजा दोनोंके ब्रह्मरन्ध्रमेंसे एक बड़ा भारी तेजका पुञ्ज निकला तथा सबके देखते-देखते स्वर्गकी ओर चला गया और वहाँसे ब्रह्मलोकमें प्रवेश कर गया। ब्रह्माने उस तेजका स्वागत किया और कहा—'अहा ! जो फल योगियोंको मिलता है, वही जप करनेवालोंको भी मिलता है।' इसके बाद ब्रह्माने उस तेजको नित्य आत्मा और ब्रह्मकी एकताका उपदेश दिया, तब वह ब्रह्ममें प्रविष्ट हो गया।

इस प्रकार शास्त्रोंमें गायत्रीजपका महान् फल बतलाया गया है। अतः हमलोगोंको भी गायत्रीकी इस महत्ताको समझकर इस अल्पायास-साध्य गायत्रीजपके द्वारा शीघ्र-से-शीघ्र लाभ उठाना चाहिये।



हृदयके उत्तम भावोंसे परम लाभ

मनुष्यको अपने हृदयका भाव उत्तम-से-उत्तम बनाना चाहिये। हृदयका भाव उत्तम होनेपर मनुष्यकी सारी चेष्टाएँ अपने-आप उत्तम होने लगती हैं। इसके विपरीत उत्तम-से-उत्तम कर्म भी भाव-दूषित होनेके कारण निम्न श्रेणीका बन जाता है। एक मनुष्य यज्ञ, दान, तप, देवताओंकी उपासना आदिका अनुष्ठान यदि अपने शत्रुको मारने या दुःख पहुँचानेके उद्देश्यसे करता है तो उसके वे यज्ञ, दान, तप, उपासना आदि अनुष्ठान यद्यपि शास्त्र-विहित होनेसे स्वरूपतः सात्त्विक हैं, फिर भी दूसरेका अनिष्ट करनेका दुर्भाव होनेके कारण तामसी हो जाते हैं और 'अधो गच्छन्ति तामसाः' (गीता १४ । १८)— इस न्यायके अनुसार उनके करनेवाले मनुष्य अधोगतिको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार बर्तन माँजना, झाड़ू देना आदि सेवारूप कर्म निम्नश्रेणीके होनेपर भी निष्कामभावसे किये जानेपर करनेवालेका भाव

उत्तम होनेके कारण सात्त्विक हो जाते हैं और 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः' (गीता १४ । १८)–इस न्यायके अनुसार वैसे कर्म करनेवाले मनुष्य उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं । अतः समझना चाहिये कि क्रियाकी अपेक्षा भाव प्रधान है ।

यज्ञ-दान-तपरूप क्रियाकी अपेक्षा भी भगवान्‌के नामका जप और उनके स्वरूपका ध्यानरूप क्रिया उत्तम है, किंतु यह क्रिया सात्त्विक होनेपर भी सकाम भावसे की जाय तो राजसी बन जाती है । इसी प्रकार यज्ञ-दान-तपरूप क्रिया जप-ध्यानकी अपेक्षा निम्न श्रेणीकी होनेपर भी यदि फल और आसक्तिका त्याग करके निष्काम-भावसे की जाय तो परम शान्तिरूप परमात्माकी प्राप्ति करा सकती है । इसलिये जप-ध्यानसे भी वह श्रेष्ठ मानी गयी है । गीतामें भी कहा गया है—

ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

(१२ । १२)

'ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है ।'

अब यह बतलाया जाता है कि उत्तम क्रियाएँ और भाव कौन-कौन-से हैं । नमस्कार करना, स्नान करना, धर्मके लिये कष्ट सहना आदि शरीरकी क्रियाएँ है; तीर्थयात्रा करना पैरोंकी क्रिया है, यज्ञ और दान देना हाथकी क्रियाएँ हैं; गीता, भागवत, रामायण आदि सद्ग्रन्थोंका पठन-पाठन करना वाणीकी क्रिया है; देवताओं और महात्माओंका दर्शन करना नेत्रोंकी क्रिया है; भगवान्‌के गुण, प्रभाव,

तत्त्व, रहस्यको सुनना कानोंकी क्रिया है; भगवान्‌के नाम, चरित्र और गुणोंका मनन और चिन्तन करना तथा भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करना मनकी क्रियाएँ हैं एवं किसी आध्यात्मिक विषयका निश्चय करना बुद्धिकी क्रिया है। ये सभी उत्तम क्रियाएँ हैं। इन सब उत्तम-से-उत्तम क्रियाओंकी अपेक्षा भी हृदयका उच्च भाव सर्वोत्तम है।

श्रद्धा, प्रेम, दया, क्षमा, शान्ति, समता, संतोष, सरलता, ज्ञान, वैराग्य, निर्भयता, आन्तरिक पवित्रता, निष्कामता आदि—ये सब हृदयके उत्तम भाव हैं। ये सभी आत्माका उद्धार करनेवाले हैं। जिस क्रियाके साथ इनका संयोग हो जाता है, वह क्रिया भी उत्तम-से-उत्तम बन जाती है। मनुष्यको चाहिये कि उपर्युक्त भावोंको ईश्वरकी कृपाके प्रभावसे अपने हृदयमें उत्तरोत्तर बढ़ते हुए देखता रहे। इस प्रकार देखनेवालेकी उत्तरोत्तर उन्नति होती चली जाती है। हृदयके भाव उत्तम होनेपर मनुष्यके आचरण स्वतः ही उत्तम होने लगते हैं। उसे अपने आचरण सुधारनेके लिये कोई अलग प्रयत्न नहीं करना पड़ता। उसके दुर्गुण-दुराचारोंका अपने-आप ही अभाव हो जाता है; क्योंकि जहाँ प्रेम होता है, वहाँ द्वेष सम्भव नहीं; जहाँ दया है, वहाँ हिंसाके लिये स्थान नहीं; जहाँ क्षमा है, वहाँ क्रोध रह नहीं सकता; जहाँ समता है, वहाँ विषमता कहाँ और जहाँ शान्ति है, वहाँ विक्षेप असम्भव है। इसी प्रकार अन्य सभी भावोंके विषयमें समझ लेना चाहिये।

जब हम किसीके साथ व्यवहार करें, उस समय हमें उसके

साथ प्रेम, विनय, निरभिमानता, उदारता और निष्काम भाव आदिसे युक्त होकर व्यवहार करना चाहिये। इस प्रकार करनेपर क्रिया स्वाभाविक ही उत्तम-से-उत्तम होने लगती है।

प्रथम हमें गीताके सोलहवें अध्यायके पहलेसे तीसरे श्लोकतक बतलाये हुए दैवी सम्पदाके लक्षणोंको अपने हृदयमें देखते रहना चाहिये। ऐसा करनेपर ईश्वरकी कृपासे हम दैवी सम्पदासे सम्पन्न हो सकते हैं। फिर हमें गीताके बारहवें अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक जो भगवत्प्राप्त भक्तोंके लक्षण बतलाये गये हैं, उनको अपनाना चाहिये। वे लक्षण उन भक्तोंमें तो स्वाभाविक होते हैं और साधकके लिये वे अनुकरणीय हैं। अतः उन भक्तोंके भावोंसे भावित होकर हमें उनको अपने हृदयमें देखते रहना चाहिये। ऐसा करनेपर ईश्वरकी कृपासे हम वैसे ही बन सकते हैं। जो मनुष्य उन भक्तोंके भावोंको लक्ष्य बनाकर उनका अनुकरण करता है, वह भगवान्‌का अतिशय प्यारा है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥
(१२। २०)

'जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त तो मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

भावका बड़ा भारी महत्त्व है। एक तो वास्तवमें भगवत्प्राप्त महापुरुष है और दूसरा एक उच्चकोटिका साधक सच्चा जिज्ञासु है।

वह जिज्ञासु जब महात्माको पाकर उनको तत्त्वसे जान जाता है, तब वह भी उसी प्रकार तुरंत महात्मा बन जाता है, जिस प्रकार वास्तविक पारसमणिके साथ स्पर्श होते ही लोहा तुरंत सोना बन जाता है। यदि वह सोना न बने तो समझ लेना चाहिये कि या तो वह पारस पारस नहीं है, कोई पत्थर है; या वह लोहा लोहा नहीं है, लोहेका मैल है; अथवा उन दोनोंके बीच काष्ठ, वस्त्र आदि किसी तीसरे पदार्थका व्यवधान है। इसी प्रकार यदि महात्माका सङ्ग करके जिज्ञासु महात्मा नहीं बन जाता तो समझना चाहिये कि या तो वह महात्मा सच्चा महात्मा नहीं है या वह जिज्ञासु सच्चा श्रद्धालु नहीं है, अथवा जिज्ञासुमें कोई संशय, भ्रम आदिका व्यवधान है।

यह पारसकी तुलना भी महापुरुषके लिये उपयुक्त उदाहरण नहीं है; क्योंकि महापुरुष तो पारससे भी बढ़कर है। किसी कविने कहा है—

पारसमें अरु संतमें, बहुत अंतरो जान।
वह लोहा कंचन करै, वह करै आप समान॥

अभिप्राय यह है कि पारस लोहेको सोना बना सकता है, पर उसे पारस नहीं बना सकता; किंतु महात्मा तो जिज्ञासुको अपने समान महात्मा बना सकता है।

प्रथम तो ज्ञानी महात्माओंका मिलना ही दुर्लभ है और यदि वैसे महात्मा मिल जायँ तो उनको तत्त्वसे पहचानना कठिन है। तत्त्वसे जाननेके बाद तो उनमें श्रद्धा होकर तुरंत ही परमात्माकी

प्राप्ति हो सकती है। बिना पहचाने तो भगवान्‌के दर्शनसे भी कल्याण नहीं हो सकता। उदाहरणके लिये दुर्योधन भगवान् श्रीकृष्णको यथार्थ रूपसे नहीं जानता था, वरं अश्रद्धाके कारण उसका उनमें उल्टा दुर्भाव था; अतः वह उनका दर्शन करके भी उनसे मिलनेवाले यथार्थ लाभसे वञ्चित रहा। इधर अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णको यथार्थ रूपसे जानते थे, इसलिये वे भगवान्‌के परम धाममें चले गये। भगवान्‌के प्रति जिसका जैसा भाव होता है, उसीके अनुसार उसे लाभ होता है। दुर्योधन भगवान्‌की एक अक्षौहिणी सेना लेकर ही संतुष्ट हो गया, किंतु अर्जुनने तो भगवान्‌का ही वरण किया। इसमें भाव ही प्रधान है। भगवान् श्रीकृष्ण जिस समय कंसके धनुषयज्ञमें गये, उस समय वहाँ जिनकी जैसी भावना थी, उसीके अनुसार उनको वे दीख पड़े। श्रीमद्भागवतमें आया है—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः
स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां
शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां
तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो
रङ्गं गतः साग्रजः॥

(१०।४३।१७)

'जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ रङ्गभूमिमें पधारे, उस समय वे पहलवानोंको वज्रके समान कठोर-शरीर, साधारण

मनुष्योंको नररत्न, स्त्रियोंको मूर्तिमान् कामदेव, गोपोंको स्वजन, दुष्ट राजाओंको दण्ड देनेवाले शासक, माता-पिताको शिशु, कंसको मृत्यु, अज्ञानियोंको विराट् (बड़े भयंकर), योगियोंको परम तत्त्व और भक्तशिरोमणि वृष्णिवंशियोंको साक्षात् अपने इष्टदेव जान पड़े।'

श्रीतुलसीकृत रामायणके बालकाण्डमें भी धनुषयज्ञके समय भगवान् श्रीरामके सम्बन्धमें यही बात कही गयी है—

जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥
(राम० बाल० २४०। २)

'जिनकी जैसी भावना थी, प्रभुकी मूर्ति उन्होंने वैसी ही देखी।'

भगवान्‌को जो पुरुष जिस भावसे देखता है, भगवान् उसके लिये वैसे ही हैं। गीतामें भी कहा गया है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
(४। ११)

'हे अर्जुन! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

भगवान् तो दर्पणकी भाँति हैं। मनुष्य जिस रूप और आकृतिको लेकर दर्पणके सम्मुख होता है, वैसा ही उसमें दीखता है। इसी प्रकार जिसके मनका जैसा भाव होता है, वैसा ही भगवान्‌में प्रदर्शित होता है। सूर्यभगवान् सब जगह समान हैं अर्थात् सबको समानभावसे प्रकाश देते हैं; किंतु दर्पणमें उनका प्रतिबिम्ब पड़ता है, काठमें नहीं; और सूर्यमुखी शीशा तो उनकी

रोशनीको लेकर कपड़े, रूई आदिको जला देता है; किंतु साधारण शीशा नहीं जला सकता। इसमें उस सूर्यमुखी शीशेकी ही विशेषता है, सूर्यका प्रभाव तो सब जगह समान ही है। इसी प्रकार भगवान् तो सब जगह समान ही हैं, किंतु मनुष्य अपनी श्रद्धा और भक्तिसे उनसे अधिक-से-अधिक चाहे जितना लाभ उठा सकता है।

भगवान्‌ने कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९।२९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मुझे अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

इसमें भक्तके भावकी प्रधानता है। भगवान् सभी जगह विराजमान हैं, किंतु बिना श्रद्धाके उनसे कोई कुछ भी लाभ नहीं उठा सकता। जिसमें भगवद्विषयक आस्तिकबुद्धि नहीं है, वह नास्तिकताके कारण परम शान्ति और परम आनन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रहता है। गीतामें कहा गया है—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

(२।६६)

'न जीते हुए मन और इन्द्रियोंवाले पुरुषमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और न उस अयुक्त मनुष्यके अन्तःकरणमें भावना

ही होती है तथा भावनाहीन मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित मनुष्यको सुख तो मिल ही कैसे सकता है ।'

श्रीहनुमान्‌जीका भगवान् श्रीरामके प्रति बहुत उच्चकोटिका भाव था । * इस कारण भगवान्‌ने उनके लिये कहा है—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ । सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ ॥
(राम० किष्किन्धा० २।४)

'सब कोई मुझे समदर्शी कहते हैं, पर मुझको सेवक प्रिय है; क्योंकि वह अनन्यगति होता है ।'

इसमें भाव ही प्रधान है । अतः अपना भाव उत्तम-से-उत्तम बनाना चाहिये । सबको उत्तम भावसे देखनेपर देखनेवालेको भी लाभ है और जिसको देखा जाता है, उसे भी लाभ है । इसी प्रकार दूसरेको दुर्भावसे देखनेपर देखनेवालेकी भी हानि है और जिसे देखा जाता है, उसकी भी हानि है। यदि हम अपने लड़के, छात्र या नौकरके लिये यह कहते हैं कि वह नीच है, दुष्ट है और इस प्रकार समय-समयपर उनके दुर्गुण-दुराचारोंकी चर्चा करते रहते हैं तो इससे उन छात्र, बालक और नौकरपर बुरा प्रभाव पड़ता है और वे हमसे विमुख या उपरत हो जाते हैं एवं वे उस भावसे भावित होकर

---

* श्रीहनुमान्‌जी भगवान् रामसे कहते हैं—

की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ । नर नारायन की तुम्ह दोऊ ॥
जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार ।
की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार ॥
(राम० किष्किन्धा० १)

निम्न श्रेणीके बन जाते हैं। अतः इस तरह कहने और सुननेवाले दोनोंको ही सिवा हानिके कोई लाभ नहीं है। ऐसे व्यवहारसे दोनोंका ही पतन है। अतः ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिये। उत्तम व्यवहारसे—जिसके साथ उत्तम व्यवहार किया जाता है, वह भी सुधर सकता है। एक व्यक्ति विश्वास करनेयोग्य नहीं है और उसका हम विश्वास करते हैं तो दिन पाकर वह विश्वासपात्र बन सकता है; क्योंकि वह समझता है कि ये मुझपर विश्वास करते हैं तो मुझे इनके विश्वासके अनुसार ही रहना चाहिये। इस प्रकार हमारे उच्च भावसे उसका और हमारा दोनोंका उत्थान होना सम्भव है। अतः हमें सबको उच्च भावसे ही देखना चाहिये।

अपने स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु, मित्र आदिमें कोई अवगुण हो तो उसे दूर करनेके लिये उसकी चर्चा नहीं करनी चाहिये और उसमें गुण बढ़ानेकी चेष्टा करनी चाहिये। इस प्रकार करनेसे उसके साथ अपना प्रेम बढ़ता है और उसका सुधार भी होता है। भगवान् श्रीरामने सुग्रीवको प्रेमका तत्त्व समझाते समय प्रेमीके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, यह बतलाते हुए कहा है—

कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥

(राम० किष्किन्धा० ६। २)

मनुष्यका कर्तव्य है कि अपने प्रेमी मित्रको बुरे मार्गसे रोककर अच्छे मार्गपर चलाये, उसके गुण प्रकट करे और अवगुणोंको छिपाये।

भगवान् श्रीराम जिस प्रकार अपने भक्तोंके अवगुणोंकी ओर

नहीं देखते थे, उसी प्रकार हमें भी अपने आश्रित स्त्री, पुत्र, नौकर आदिके अवगुणोंको न देखकर उनके साथ दयापूर्वक कोमलता और प्रेमका व्यवहार करना चाहिये । इस विषयमें भगवान् श्रीरामका भाव हमारे लिये अनुकरणीय है । भगवान् श्रीरामके स्वभावके विषयमें श्रीभरतजी महाराज कहते हैं—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ । दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ ॥

(उत्तरकाण्ड)

'प्रभु सेवकका अवगुण कभी नहीं मानते । वे दीनबन्धु हैं और अत्यन्त ही कोमल स्वभावके हैं ।'

अतः हमें सबके साथ दया, प्रेम, विनय, कोमलता, त्याग और उदारतापूर्वक व्यवहार करना चाहिये ।

सर्वोत्तम भाव तो यह है कि सब कुछ परमात्माका स्वरूप है । जैसे स्वप्नमें मनुष्य जिस संसारको देखता है, वह उसके मनका संकल्प होनेके कारण उससे अभिन्न है, उसी प्रकार यह सारा संसार भगवान्‌का संकल्प होनेके कारण उनसे अभिन्न है अर्थात् भगवान्‌का स्वरूप ही है । इस भावसे देखनेवाला मनुष्य उच्च कोटिका माना जाता है । भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

(७ । १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, 'सब कुछ वासुदेव ही है' इस प्रकार मुझको भजता है; वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ।'

यह सर्वोत्तम भाव है। ऐसा न हो तो दूसरा उत्तम भाव यह है कि सबमें भगवान् व्यापक हैं। भगवान् कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

(गीता ९। ४)

'मुझ निराकार परमात्मासे यह सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण है।'

'यो मां पश्यति सर्वत्र' (गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है।'

श्रुति भी कहती है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।

(शुक्लयजुर्वेद ४०। १)

'अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जगत् है, वह समस्त ईश्वरसे व्याप्त है।'

उपर्युक्त उद्धरणोंसे यह समझना चाहिये कि जैसे बादलोंमें आकाश व्यापक है, वैसे ही भगवान् सबमें व्यापक हैं, अतः सबकी सेवा ही भगवान्‌की सेवा है और सबका आदर करना ही भगवान्‌का आदर करना है। यह भाव भी बहुत उत्तम है।

यदि ऐसा भाव भी न हो तो सब भगवान्‌के भक्त हैं या सब भगवान्‌की प्रजा हैं, अतः सभी हमारे भाई हैं—इस प्रकार देखना चाहिये; क्योंकि सब ईश्वरके अंश होनेसे ईश्वरकी प्रजा हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी।

(राम० उत्तर० ११६। १)

अभिप्राय यह है कि परमात्मा नित्य, शुद्ध, ज्ञान और आनन्दस्वरूप है और उसका अंश होनेसे आत्मा भी नित्य, शुद्ध, ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। अतएव सब प्राणी ईश्वरके अंश होनेके नाते हमारे भाई हैं।

जैसे अपने भाईके हैजे या प्लेगकी बीमारी हो जाती है तो हम उसके उस संक्रामक रोगसे अपनी रक्षा करते हुए उसके हितके लिये वैद्य-डाक्टरोंको बुलाकर या उसीको वैद्य-डाक्टरोंके पास ले जाकर प्रेमपूर्वक उसका इलाज करवाते हैं, उसी प्रकार हमें सबके साथ व्यवहार करना चाहिये; क्योंकि संसारमें जितने भी प्राणी हैं, सभी हमारे भाई हैं और उनमें मनुष्य प्रधानतासे हमारे भाई हैं। इसलिये सबका जिस प्रकार परम हित हो, वैसे ही हमें करना चाहिये। यहाँ अध्यात्मविषयमें यों समझना चाहिये—दुर्गुण-दुराचारोंका जो समूह है, वही बीमारी है। ज्ञानी, भक्त, महात्मा ही वैद्य हैं। उनके पास लोगोंको ले जाना या उनको लाकर उनसे मिला देना ही रोगीकी वैद्य-डाक्टरोंसे भेंट कराना है। उनके दुर्गुण-दुराचार और दुर्व्यसनोंसे अपनेको बचाना ही संक्रामक रोगसे अपनी रक्षा करना है। अतएव हमें हर प्रकारसे निष्कामभावपूर्वक सबका परम हित करना चाहिये।

ऐसा भी न हो तो चौथी बात यह है कि संसारमें गुण और दोष भरे हुए हैं; किंतु अपनेको तो गुणग्राही होना चाहिये, किसीके दोषकी ओर दृष्टि नहीं डालनी चाहिये। अवधूतशिरोमणि श्रीदत्तात्रेयजीने जडचेतनात्मक चौबीस पदार्थोंसे शिक्षा ग्रहण की

और उनके गुणोंको धारण किया; इसी प्रकार हमें भी सबके गुण ही ग्रहण करने चाहिये। इस प्रसङ्गको श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके ७ वें, ८ वें और ९ वें अध्यायोंमें विस्तारसे देखना चाहिये।

भगवान् श्रीरामने लक्ष्मणसे संत और असंतके लक्षण बतलाकर अन्तमें यही कहा है—

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥

(राम० उत्तर० ४१)

इसका भाव यह है कि संसारमें मायासे रचित गुण और दोष भरे हुए हैं। हमारे लिये सबसे बढ़कर गुण (भाव) यह है कि किसीके अवगुण और गुण दोनोंको ही न देखें; क्योंकि गुण-दोषोंको देखना ही मूर्खता है। पर यदि देखे बिना न रहा जाय तो गुणोंको ही देखना चाहिये, अवगुणोंको नहीं; क्योंकि दूसरोंके अवगुणोंको देखने, सुनने, कहने और माननेमें महान् हानि है। नेत्रोंसे देखने, कानोंसे सुनने, वाणीसे कहने और मनसे माननेपर हृदयमें वैसे ही संस्कारोंका संग्रह होता है और वह मनुष्य फिर वैसा ही बन जाता है। इसके सिवा दूसरोंके अवगुणोंको कहने-सुननेसे एक तो हम उसके दोषोंके हिस्सेदार बन जाते हैं और दूसरे उसकी आत्माको दुःख पहुँचता है, इसलिये भी हम पापके भागी होते हैं। अतएव किसीके दुर्गुण-दुराचारोंको न तो कहे, न सुने, न देखे और न हृदयमें ही स्थान दे।

सर्वोत्तम सत्सङ्गका स्वरूप और उसकी महिमा

श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥
(राम० सुन्दर० ४)

'हे तात ! स्वर्ग और मुक्ति—इन दोनोंके सुखको तराजूके एक पलड़ेमें रखा जाय और दूसरे पलड़ेमें एक क्षणका सत्सङ्ग, तो एक क्षणके सत्सङ्गकी तुलनामें स्वर्ग और मुक्तिका सुख कुछ भी चीज नहीं ।

'सङ्ग' कहते हैं 'प्रीति'को तथा 'साथ'को । भगवान्‌का सङ्ग मिल जाना या उनके साथ रहना अथवा भगवान्‌में प्रेम हो जाना—यह सभी सत्सङ्ग है । परंतु भगवान्‌का प्रेमपूर्वक सङ्ग होना ही असली सत्सङ्ग है। बिना प्रेमके कोई विशेष मूल्य नहीं है। दुर्योधन आदिका भगवान् श्रीकृष्णमें न प्रेम था और न श्रद्धा ही। उनका भी भगवान् श्रीकृष्णके साथ सङ्ग होता था, किंतु वह सङ्ग

असली सत्सङ्ग नहीं है। इसके विपरीत जिसका प्रेम है, उससे यदि भगवान् दूर भी हैं तो वह भगवान्के निकट ही है। जैसे गोपियाँ वृन्दावनमें रहती थीं और भगवान् श्रीकृष्ण द्वारिकामें रहते थे। इतनी दूर रहनेपर भी प्रेम होनेके कारण वे भगवान्के निकट ही थीं और उनके लिये वह भी सर्वश्रेष्ठ सत्सङ्ग था। भगवान्का प्रेमपूर्वक सङ्ग ही सर्वश्रेष्ठ सत्सङ्ग है। श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्के साथ रहना हो, तब तो कहना ही क्या; यदि दूर भी रहना पड़े, किंतु भगवान्में प्रेम बना रहे, तो वह प्रथम श्रेणीका उत्तम सत्सङ्ग है। उसके बादमें दूसरी श्रेणीका सत्सङ्ग है—भगवत्सङ्गिसङ्ग। सङ्गोंमें उत्तम सङ्ग है भगवत्सङ्गी यानी भगवान्के प्रेमी भगवत्प्राप्त पुरुषोंका सङ्ग। भगवान्ने जिन महापुरुषोंको संसारके उद्धारके लिये अधिकार देकर भेजा है अथवा जो भगवत्प्राप्त पुरुष हैं, जिनपर यहीं भगवान्ने उद्धारका भार दे दिया है, उन पुरुषोंका सङ्ग दूसरी श्रेणीका होते हुए भी प्रथम श्रेणीके ही समान है। ऐसा सङ्ग बहुत ही ऊँचा है।

ऐसा सङ्ग भी न मिले तो तीसरी श्रेणीका सत्सङ्ग बताया जाता है। जिनको भगवान्की प्राप्ति हो चुकी है यानी जो स्वयं तो भगवत्प्राप्त हैं पर दूसरोंका उद्धार करनेका अधिकार जिन्हें भगवान्ने नहीं दिया है, उनमें श्रद्धा करके स्वयं उनसे अधिकार-प्राप्त पुरुषके समान ही लाभ उठा सकते हैं। अर्थात् भगवत्प्राप्त पुरुषमें जिनका श्रद्धा-प्रेम है, वे अपने श्रद्धा-प्रेमके बलपर उनसे वैसा ही लाभ उठा सकते हैं, जैसा अधिकारप्राप्त महापुरुषसे उठाया जाता है। यह तीसरी श्रेणीका सत्सङ्ग है।

चौथी श्रेणीका सत्सङ्ग उच्चकोटिके साधक पुरुषोंका सङ्ग है। जो भगवत्प्राप्तिके मार्गमें चलनेवाले हैं, उन पुरुषोंमें भी श्रद्धा-प्रेम हो जाय तो हमको भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। और गौणीवृत्तिसे तो सत्पुरुषोंके अभावमें सत्-शास्त्रोंका सङ्ग भी सत्सङ्ग ही है।

यहाँ प्रथम श्रेणीके सत्सङ्गकी बात चल रही है। ऐसे एक क्षणके सत्सङ्गकी ऐसी महिमा है कि उसकी तुलनामें मुक्ति भी कोई चीज नहीं—यह श्रीतुलसीदासजी महाराजका कथन है, उनका सिद्धान्त है, उनकी मान्यता है। ऐसे पुरुषोंके एक क्षणके सत्सङ्गकी जो महिमा है, उसमें जो परम सुख है, उसको वास्तवमें तो श्रीतुलसीदासजी ही जानते हैं; पर अपने ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि भगवान्‌का और भगवान्‌का दिया हुआ अधिकार जिनको प्राप्त है, ऐसे महापुरुषोंका तो संसारमें विचरण ही परम धर्मरूप भक्ति है, अमृतमय भक्ति है; ऐसे पुरुषोंके साथ रहकर उस भक्तिका और निष्काम धर्मका प्रचार करना, जिससे जीवोंका कल्याण हो जाय, यही असली सत्सङ्ग है और इसीके सुखकी महिमा श्रीतुलसीदासजीने कही है।

जैसे राजा कीर्तिमान् हुए। वे बहुत उच्चकोटिके पुरुष थे। उनकी कथा स्कन्दपुराणके वैष्णवखण्डके वैशाखमास-माहात्म्यके ११ वें, १२ वें, १३ वें अध्यायोंमें मिलती है। उनका सङ्ग जिनको प्राप्त हो गया, उनका ही उद्धार हो गया। अतः यह मनमें रहना चाहिये कि ऐसे पुरुषोंका सङ्ग होता रहे, चाहे नरकमें ही क्यों न

रहना पड़े । इस विषयमें एक राजाकी कथा आती है । पूरी तो याद नहीं, पर थोड़ी ऐसी याद है कि भगवान्‌के दूत किसी भक्तको भगवान्‌के परम धाममें ले जा रहे थे, रास्तेमें नरक आ गया । नरकके जीवोंका आर्तनाद सुनकर भक्तने पूछा—'यह किनका आर्तनाद है ?' दूतोंने कहा—'यह नरक है । नारकीय जीव रो रहे हैं, वे बड़े दुःखसे आर्तनाद कर रहे हैं ।' तब भक्त बोले—'चलो, हम भी देखें; रास्तेमें तो आ ही गया, उसका भी थोड़ा दर्शन कर लें ।' ज्यों ही वे वहाँ गये उनके जानेसे, उनकी हवा लगनेपे ही उन नरकके जीवोंकी नरक-यातना बंद हो गयी, उसका अब कोई असर ही नहीं रह गया । नरक, अस्त्र-शस्त्र—जिनसे जीवोंको काटकर कष्ट दिया जाता है—सब विफल हो गये । उनमें धार हो नहीं रही, नरककी ज्वाला बिल्कुल शान्त हो गयी ।

तब वे नरकीय जीव प्रार्थना करने लगे कि 'आपके आनेसे ही हमलोगोंको बड़ी भारी शान्ति मिल रही है और यहाँकी सब यन्त्रणा नष्ट हो गयी है; इसलिये आप यहाँ कुछ काल ठहरनेकी कृपा करें ।' भक्तने सोचा—'जब मेरे रहनेसे इन जीवोंको इतनी शान्ति और सुख मिलता है, तब मुझको और करना ही क्या है; मुझको तो यहीं ठहरना चाहिये ।' फिर वे दूत बोले—'भगवान्‌के परम धामको चलिये ।' भक्तने कहा—'मैं तो यहीं रहूँगा ।' दूतोंने पूछा—'क्यों ?' भक्तने कहा—'ये बेचारे दुखी हैं और जब मेरे यहाँ रहनेसे इनको सुख मिलता है, तब मेरे लिये जैसा भगवान्‌का परमधाम है, वैसा ही यह नरक-धाम है ।' दूतोंने पूछा—'हम वहाँ

जाकर भगवान्‌से क्या कह दें ?' भक्त बोले —'यह कहना चाहिये कि यदि मेरे साथ नरकके सब जीव आ सकें तो मैं भी आ सकता हूँ; नहीं तो मुझे यहीं आनन्द है ।' फिर भक्तने नरकके सब जीवोंसे यह कहा कि 'तुम सब लोग जैसे पहले आर्त्तनाद करते थे, वैसे ही अब भगवान्‌के नामका कीर्तन करो ।' तब वे सब मिलकर प्रेमपूर्वक कीर्तन करने लगे । कीर्तन करनेसे उनके पहलेके जितने संचित पाप थे, वे सब नष्ट हो गये और प्रारब्धस्वरूपमें जो पाप यातना-भोगके लिये सम्मुख किये गये थे, वे भी सब नष्ट हो गये ।

उधर दूतोंने जाकर भगवान्‌से कहा—'वह भक्त तो वहीं नरकमें रुक गया है और हमारे पूछनेपर उसने यह कहा है कि यदि ये सब नरकके जीव यहाँ आ सकें तो मैं भी आ सकता हूँ ।' तब भगवान्‌ने आदेश दिया कि सबको ले आओ ।

इधर वे सब नरकके जीव वहाँ जानेके लिये तैयार थे । अतः सब-के-सब भगवान्‌के परमधाममें चले गये । उस समय हजारों—लाखों विमान एक साथ भगवान्‌के धाममें इस प्रकार पहुँचे, जैसे अपने यहाँ कोई बारात एक साथ पहुँचे । हमें इससे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि यदि ऐसे महापुरुषोंके साथ नरकमें भी रहना हो तो वहाँ रहना बहुत ही आनन्ददायक है । इसीलिये कहा है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥
(राम० सुन्दर० ४)

इस प्रकारका एक क्षणमात्रका भी सत्सङ्ग मुक्तिसे भी बढ़कर

है, जैसे उन भक्तके लिये वह नरकका वास भी मुक्ति और भगवत्प्राप्तिसे भी बढ़कर हो गया। उनको भगवान्‌के मिलनेकी भी कोई परवा नहीं रही। उनको परवा तो इस बातकी रही कि मेरे रहनेसे ये जीव कितने सुखी हो रहे हैं। यह उनका बड़ा ऊँचा भाव है। ऐसा भाव हमलोगोंका हो जाय तो फिर भगवान्‌के परमधाममें जानेके लिये हमलोगोंको प्रार्थना नहीं करनी पड़े, प्रत्युत यहाँका स्थान ही हमारे लिये परमधाम हो जाय या स्वयं भगवान् आकर आमन्त्रित करके अपने परमधाममें हमें ले जायँ।

हमारा तो एकमात्र यही उद्देश्य होना चाहिये कि दुखी जीवोंका किसी भी प्रकार कल्याण हो। हम इस बातका कई बार अनुभव करते हैं कि जब किसी दुखी आर्त्त गरीब आदमीके बुलानेपर उसके घरपर जाना होता है अथवा किसी धनी लखपति, करोड़पति बड़े आदमीके यहाँ जाना पड़ता है, तब उनमेंसे गरीबके यहाँ जानेपर जो एक प्रकारकी शान्ति मिलती है, वह उस धनीके यहाँ नहीं मिलती; क्योंकि गरीब आदमीके चित्तमें हमारे जानेसे बड़ा ही उत्साह और प्रेम होता है तथा वह यह समझता है कि मैं एक तुच्छ आदमी और मेरे घरपर ये इतने बड़े आदमी आये तो आज मेरा कितना बड़ा सौभाग्य है। जिस प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्रजी वनसे अयोध्यामें लौटनेपर अनेक रूप धारण करके सबसे मिले—

छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

(राम० उत्तर० ५।४)

'एक क्षणमें अपरिमित रूप धारण करके भगवान् सबसे मिले;

किंतु एक-दूसरेसे भगवान् मिल रहे हैं, इसका मर्म किसीने भी नहीं समझा ।'

मर्म यह कि भगवान् अनन्त रूप धारण करके सभीसे मिल रहे थे और जिससे भगवान् मिलते थे, वह समझता था कि आज मेरा अहोभाग्य है जो सबसे प्रथम भगवान् मुझीसे मिल रहे हैं। कहाँ तो मैं तुच्छ मनुष्य और कहाँ भगवान्! इस प्रकार उसे बड़ा ही आश्चर्य होता था और साथ ही आनन्द भी होता था।

इसी प्रकार एक गरीब आदमीसे कोई महापुरुष मिले तो उसे भी बड़ा भारी आनन्द आता है। अतः उसके सुखसे सुखी होना ही सबसे बढ़कर है।

एक तो भगवान्से मिलन हो और एक हमारे मिलनेसे उसको भगवान्के मिलनेके समान सुख हो तो हमारे लिये वह बात अधिक मूल्यवान् है; बल्कि भगवान्से मिलनेका जो सुख और आनन्द है, यह उससे कम नहीं है। उसके लिये तो हमीं भगवान् हो गये।

सबको आह्लादित करते हैं भगवान् और हम भगवान्को आह्लादित करते रहें, तो वह जैसे हमारे लिये आनन्दकी बात है, वैसे ही भगवान्के लिये भी यह आनन्दकी बात है कि वे अपने भक्तको आह्लादित करते रहें। भगवान् और भक्तके लिये इससे बढ़कर कोई आनन्दकी बात नहीं है। भक्तोंमें भी यदि कोई ऐसा भक्त है, जो भगवान्का दर्शन करके मुग्ध हो जाता है, आह्लादित हो उठता है,—इतना ही नहीं, अपनी सेवाके द्वारा, अपनी चेष्टाके द्वारा, अपनी क्रियाके द्वारा, लीलाके द्वारा जो भगवान्को मुग्ध करता

रहता है, तो यह उसके लिये श्रेयस्कर है। एक तो भगवान्‌का दर्शन करके हम आनन्दमें मग्न रहें और एक भगवान्‌को सुख पहुँचाकर आनन्दमें मग्न रहें; इनमें सारी दुनियाको आनन्द पहुँचानेवाले, सबको आह्लादित करनेवाले भगवान्‌को आह्लादित करनेवाले हम बनें और फिर भगवान् हमें आह्लादित करनेके लिये लीला करें तो यह हमारे लिये अत्यन्त सौभाग्य और गौरवकी बात है। इसमें हमारे चरित्रका उद्देश्य तो भगवान्‌को आह्लादित करना है—हमारी चेष्टा भगवान्‌के लिये और भगवान्‌की चेष्टा हमारे लिये। हमारे इस प्रयत्नके मूल कारण भगवान् हैं। इस प्रकार हमारी चेष्टासे भगवान् मुग्ध होते रहें और भगवान्‌की चेष्टासे हम मुग्ध होते रहें तो यह परस्पर एक अलौकिक प्रेमका विषय है।

इसी प्रकार हम कहीं किसी मरणासन्न रोगीको भगवान्‌के नाम और गुण सुनानेके लिये जायँ और सुननेवाला मुग्ध हो, अर्थात् उसको होश हो, वह सुनना चाहता हो और उसकी उस इच्छाकी पूर्ति करनेवाले हम बनें तो हमारे लिये इससे बढ़कर और कोई सौभाग्यकी बात नहीं। उस मरणासन्न रोगीके लिये तो हमीं भगवान्‌के तुल्य हो गये। अतः जैसी प्रसन्नता उसको होती है, उससे बढ़कर प्रसन्नता हमें होनी चाहिये कि हमारे सङ्गसे वह आह्लादित हो रहा है। उसके दिलमें तो उस समय ऐसा भाव होना बहुत ही उत्तम है कि मैं अभी न मरकर भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यकी बातें सुनता ही रहूँ; क्योंकि इस प्रकारका जो मेरा जीवन है, वह मुक्तिसे भी बढ़कर है। अतएव उस भक्तके

साथ जो दूसरे भक्तका सङ्ग है—यानी एक जो मरणासन्न होकर सुननेवाला है और दूसरा जो सुनानेवाला है, दोनोंका परस्पर प्रेम और उनकी मुग्धता मुक्तिसे बढ़कर है, वह उत्तम सत्सङ्ग है। साक्षात् भगवान्‌के साथ सङ्ग हो, उसकी तो बात ही क्या; भगवान्‌की प्राप्तिके लिये परस्पर जो भगवान्‌के भक्तोंका सङ्ग है, वह भी उत्तम है। चाहे दोनों ही भगवत्प्राप्त हों या दोनोंमें एक भगवत्प्राप्त पुरुष और एक जिज्ञासु हो अर्थात् सुननेवाला मरणासन्न पुरुष तो जिज्ञासु हो और सुनानेवाला भगवान्‌का भक्त—भगवत्प्राप्त पुरुष हो तो उन दोनों-का जो सङ्ग है, वह भी उत्तम सत्सङ्ग है। उसको देखनेवाले भी धन्यवादके पात्र हैं। दर्शकोंके लिये ऐसी झाँकी भी कल्याणमें सहायक है; क्योंकि जो मरनेवाला प्राणी है, उसका वह एक क्षण ही है मुक्ति देनेके लिये। इस प्रकार उस सङ्गके प्रभावसे हजारोंकी मुक्ति होती रहे तो ऐसे पुरुषोंके साथ रहकर, उनका सङ्ग करके हम जीवन बितायें—ऐसा सङ्ग हम करते रहें तो वह सत्सङ्ग हमारे लिये भी मुक्तिसे बढ़कर है। भगवान् मुक्त जीवोंको साथ लेकर संसारमें आते हैं, उन मुक्त जीवोंको ही हम परिकर कहते हैं। वे भगवान्‌के साथी होकर भगवान्‌के साथ लीला करनेमें अपना समय लगाते और जीवोंका कल्याण करते हैं। अतः अपनी आत्माके कल्याणमें जो गौरव या महत्त्व है, उससे अधिक महत्त्व दूसरोंका कल्याण करनेमें है।

एक मनुष्य तो स्वयं भोजन करता है और दूसरा एक मनुष्य दुखी अनाथ मनुष्योंके लिये सदावर्त लगाता है यानी दूसरोंको

भोजन कराता है। इन दोनोंमें भोजन करनेवालेकी अपेक्षा दूसरोंको भोजन करानेवालेका विशेष महत्त्व है ही। इसी प्रकार अपना कल्याण करनेकी अपेक्षा दूसरोंका कल्याण करना विशेष महत्त्वकी बात है।

इसके सिवा जो भगवान्‌का उच्चकोटिका अनन्यप्रेमी भक्त होता है, वह 'मुक्ति निरादर भगति लुभाने' अर्थात् अपनी मुक्तिका भी निरादर कर देता है और भक्तिकी लालसा करता है; क्योंकि मुक्ति तो ऐसे महापुरुषके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तनसे ही हो सकती है। अतः उसकी तुलनामें मुक्ति कोई चीज नहीं है। मुक्तिकी अपेक्षा ऐसे पुरुषोंके सङ्गका मूल्य अधिक है। इसलिये जो इस तत्त्वको जाननेवाले होते हैं, वे भी मुक्तिका निरादर करके उन पुरुषोंका सङ्ग ही करते हैं; क्योंकि भगवान्‌की अनन्य प्रेम-भक्तिकी भी इतनी महिमा है कि मुक्ति भी उसकी तुलनामें कोई चीज नहीं। भक्तिके मार्गपर चलनेवालोंकी यह दृष्टि है। भक्तिमार्गवालोंके लिये भगवान्‌की अनन्य भक्ति या अनन्य प्रेमके समान कोई भी पदार्थ नहीं है। भगवान्‌की भक्ति तो है साधन और भगवान्‌की प्राप्ति है साध्य। इसी प्रकार मुक्ति भी साध्य है। पर भगवान्‌के भक्त भगवत्प्राप्ति और मुक्तिमें भी भेद करते हैं वे कहते हैं कि मुक्तिमें तो चार भेद हैं—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। इनमेंसे 'भगवान्‌के निकट रहना' उस सायुज्य-मुक्तिसे भी बढ़कर है, जिसमें भक्त भगवान्‌में विलीन हो जाता है; क्योंकि उसकी सायुज्य-मुक्ति तो धरोहरके रूपमें सदा

ही मौजूद है, चाहे तभी ले ली जाय । वह भगवान्‌के समीप रहनेवाला पुरुष सायुज्य-मुक्ति तो दूसरोंको भी दे सकता है । अतः उसका पद भक्तिमार्गवालोंकी दृष्टिमें ऊँचा है । भक्तिमार्गवालोंकी दृष्टिमें तो अनन्यभक्ति या अनन्य-प्रेमसे बढ़कर और कुछ भी नहीं है ।

जहाँ अनन्य प्रेम हो जाता है, वहाँ भगवान्, भक्त और भक्ति—तीनों एक ही हो जाते हैं । यद्यपि ये स्वरूपसे तो अलग-अलग हैं, तो भी वास्तवमें धातुसे एक ही तत्त्व है अर्थात् पारमार्थिक दृष्टिसे एक ही तत्त्व है । स्वयं भगवान् ही मानो तीन रूपोंमें पृथक्-पृथक् दीख रहे हैं । या यों कहें कि चिन्मय भगवान्‌का चेतन प्रेम ही तीन रूपोंमें बँटा हुआ है । ऐसी जो भगवान्‌की प्राप्ति है, भगवान्‌से मिलन है, वह अद्भुत और अलौकिक है । भगवान्‌की सारी चेष्टाएँ भक्तको आह्लादित करनेके लिये और भक्तकी सारी चेष्टाएँ भगवान्‌को आह्लादित करनेके लिये हुआ करती हैं ।

जैसे गोपियोंमें श्रीराधिकाजी सबसे बढ़कर हैं; उन श्रीराधिकाजीकी सारी चेष्टाएँ भगवान् श्रीकृष्णको आह्लादित करनेके लिये होती हैं और भगवान् श्रीकृष्णकी सारी चेष्टाएँ श्रीराधिकाजीको आह्लादित करनेके लिये होती हैं । श्रीराधिकाजी क्या हैं? वे भगवान्‌की आह्लादिनी शक्ति ही हैं। जैसे श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि भगवान्‌की एक शक्ति तो माया है और दूसरी शक्ति अनन्य भक्ति है । उसे चाहे अनन्य भक्ति कह दें, अनन्य प्रेम कह दें या आह्लादिनी शक्ति कह दें, बात एक ही है । वह चेतन

है। कहा जाता है कि उसीका अवतार श्रीराधिकाजी हैं। अतः भगवान् और श्रीराधिकाजीका जो सङ्ग है, वह उन दोनोंके लिये तो अलौकिक है ही, उनका तो वह नित्य सङ्ग है; किंतु दर्शकोंके लिये भी वह एक अलौकिक सङ्ग है, क्योंकि दर्शक उन्हें देखकर मन्त्रमुग्धकी भाँति हो जाते हैं, जैसे श्रीराधिकाजीकी अन्य सखियाँ उनके साथ रहकर और श्रीराधा-माधवके प्रेममय सङ्गको देखकर मुग्ध हो जाया करती थीं। अतः भक्तिमार्गमें श्रीराधिकाजीका स्थान बहुत उच्च है।

किंतु ध्यान रखना चाहिये कि भगवान्‌के प्रेमकी यह गुप्त बात कोई वाणीसे कह नहीं सकता और जिसको यह बात प्राप्त हो जाय, वह अपने लिये डुग्गी नहीं पिटवाता कि मैं इस बातका अनुभव करता हूँ। जो पुरुष 'मैं अनुभव करता हूँ' इस प्रकार डुग्गी पिटवाता है, लोगोंसे कहता है, वह वस्तुतः उस स्थितिमें स्थित है ही नहीं, वह तो अपने मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाके लिये ही संसारको और अपनेको धोखा देता है। वास्तविक प्रेमको प्राप्त पुरुषको क्या आवश्यकता कि वह ऐसा कहेगा। ऐसा कहना या प्रकाशित करना तो भगवान्‌की भक्तिमें कलङ्क लगाना है।

जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधिकाजीका ऐकान्तिक, अनन्य और विशुद्ध प्रेम है, वहाँ दूसरे पुरुषकी तो बात ही क्या, दूसरी कोई सखी भी प्रवेश नहीं कर सकती। इसलिये वह श्रीराधा-माधवका प्रेम अलौकिक है।



महात्माओंके सङ्गसे लाभ उठानेके प्रकार

किन्हीं महापुरुष, महात्मा पुरुषसे जब कभी मिलना हो जाय, तब उनके सङ्गसे साधकको किस प्रकार लाभ उठाना चाहिये ? यह प्रश्न है। महापुरुषोंके सङ्गसे लाभ मनुष्यकी श्रद्धा और विश्वासपर निर्भर करता है । उनकी आज्ञाके पालनसे मनुष्यको विशेष लाभ होता है—यद्यपि श्रद्धा होनेपर उनके दर्शनसे, भाषणसे, वार्तालापसे, सङ्गसे, उनके पास निवास करनेसे सभी प्रकारसे लाभ होता रहता है । जितनी अधिक श्रद्धा उनके प्रति होती है, उतना ही अधिक लाभ भी होता है; किंतु कम श्रद्धा होनेपर भी मनुष्य उनकी आज्ञाका पालन करके लाभ उठा सकता है । अवश्य ही इतनी बात समझमें आ जानी चाहिये कि महापुरुषका वचन शास्त्रका वचन है और इनके वचनका पालन करनेसे निश्चय ही हमारा कल्याण हो जायगा । इतनी श्रद्धा हो जानेपर महापुरुषकी आज्ञाके पालनसे मनुष्यको विशेष लाभ होता है ।

जो उच्चकोटिके महापुरुष होते हैं, वे प्रायः आज्ञा नहीं देते । ऐसी स्थितिमें श्रद्धालु मनुष्य उनके संकेतसे भी लाभ उठा सकता है, उनके सिद्धान्तसे भी लाभ उठा सकता है, उनके आचरणोंसे लाभ उठा सकता है; क्योंकि वे आचरण आदर्श होते हैं । महापुरुषोंको आदर्श मानकर हम विशेष लाभ उठा सकते हैं । उनके आदर्शके अनुरूप कर्म करके, महापुरुष जिस प्रकारसे

आचरण करते हैं, उसी प्रकार आचरण करके हम लाभान्वित हो सकते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

(गीता ३ । २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी साक्षात् मर्यादापुरुषोत्तम परमात्मा थे, महात्माओंके भी महात्मा थे। उनका अनुकरण करना तो और भी अधिक लाभकी बात है। महात्मा पुरुषोंके आचरणके अनुसार व्यवहार करना भी मुक्तिको देनेवाला है; फिर साक्षात् परमात्मा यदि अवतार लेकर पधारें और उनके आचरणका अनुकरण किया जाय तो फिर कहना ही क्या।

कोई-कोई कहते हैं कि महापुरुषोंकी आज्ञाका पालन तो करना चाहिये, किंतु उनका अनुकरण नहीं करना चाहिये। यह बात हमारी समझमें नहीं आती, यह न्याय भी नहीं है। यदि बात ऐसी हो तो हम किसका अनुकरण करेंगे? अनुकरणीय तो महापुरुष ही होते हैं। उनके दो भेद हैं—१–भगवत्प्राप्त पुरुष, ये भी महापुरुष ही हैं। २–महापुरुषोंके महापुरुष साक्षात् भगवान्।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने जिस प्रकारका व्यवहार किया, वैसा ही व्यवहार हमलोगोंको भी करना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी

महाराजने अपने माता-पिताके साथ जैसा व्यवहार किया, वैसा ही व्यवहार हमलोगोंको अपने माता-पिताके साथ करना चाहिये। भगवान्‌ने अपनी सौतेली माताके साथ जैसा व्यवहार किया, वैसा ही व्यवहार हमलोगोंको अपनी माताके तुल्य ताई, चाची, मौसी, मामी, सास आदि अथवा उन्हींके समान पदवाली अन्य माताओंके साथ करना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अपने भाइयोंके साथ जैसा व्यवहार किया, वैसा ही व्यवहार हमको अपने भाई-बन्धुओंके साथ करना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने जनकनन्दिनी भगवती सीताके साथ जैसा व्यवहार किया, वैसा ही व्यवहार हमको अपनी धर्मपत्नीके साथ करना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने लव-कुशके साथ जैसा व्यवहार किया, वैसा ही व्यवहार हमलोगोंको अपने पुत्रोंके साथ करना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अपनी प्रजाके साथ जैसा व्यवहार किया, हमें अपने नीचे काम करनेवाले नौकर-चाकर, मुनीम, गुमाश्ता आदिके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिये। भगवान्‌ने जैसा व्यवहार ऋषि-मुनियोंके साथ किया, वैसा ही व्यवहार हमें साधुओंके साथ, ब्राह्मणोंके साथ, महात्माओंके साथ, ज्ञानी और भक्तोंके साथ करना चाहिये अर्थात् प्रत्येक व्यवहारमें उन्हींका अनुकरण करना चाहिये। उन्हींके आदर्शके अनुरूप जीवन बनाना चाहिये। ऐसा करनेसे बहुत शीघ्र मनुष्यका उद्धार हो सकता है। ऐसा करनेमें बार-बार भगवान्‌की स्मृति तो होती ही है, साथ ही भगवान्‌के चरित्रगत गुणोंका अनुशीलन होनेसे वे गुण हमारे अंदर आते हैं, जिससे हमारे आचरणोंका सुधार होता है। केवल उनकी स्मृतिसे ही हमारी आत्मा

शुद्ध होकर कल्याणकी ओर अग्रसर हो सकती है; क्योंकि भगवान्‌के दर्शन, भाषण, स्पर्श एवं वार्तालापकी भाँति उनके चिन्तनमात्रसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है।

भगवान् अपने अवताररूपमें इस समय विद्यमान नहीं हैं, व्यापकरूपमें विद्यमान हैं, उनकी लीलाएँ तथा चरित्र भी ग्रन्थोंमें वर्णित हैं। उनसे हम जान सकते हैं कि भगवान्‌ने अमुकके साथ अमुक ढंगसे व्यवहार किया। उसीके अनुसार हमलोगोंको भी जहाँ जैसा प्रसङ्ग हो वहाँ वैसा व्यवहार करना चाहिये। साथ ही भगवान्‌की लीलामें उनके गुण, प्रभाव, तत्त्व एवं रहस्यका दिग्दर्शन करना चाहिये।

उदाहरणके लिये भगवान्‌की एक लीलाको ले लीजिये। भगवान् लङ्का-विजयके अनन्तर सीता, लक्ष्मण एवं अन्य सबके साथ अयोध्या लौट रहे हैं। उनका एक-एक चरित्र अनुकरणीय है। रास्तेमें बंदरोंके साथ, राक्षसोंके साथ उनकी बातचीत हो रही है, अपनी धर्मपत्नी जगज्जननी सीताके साथ भी वे बातचीत कर रहे हैं और उन्हें मार्गके दृश्य दिखला रहे हैं। बंदरोंसे वे कह रहे हैं—'यह अयोध्यानगरी—मेरी जन्मभूमि है, यह सरयू है, इसमें स्नान करनेसे मुक्ति हो जाती है। अयोध्यामें वास करनेसे मुक्ति हो जाती है। यह मुझको वैकुण्ठसे भी बढ़कर प्यारी है।' साथ-साथ उनसे विनोद भी करते जाते हैं। हमलोगोंको अपने अनुयायियोंके साथ, अपनेसे छोटोंके साथ ऐसा ही मधुर एवं प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिये। अयोध्या पहुँचकर श्रीराम मुनियोंके चरणोंमें नमस्कार करके उनसे मिलते हैं।

बड़ोंके साथ हमें वैसा ही व्यवहार करना चाहिये जैसा भगवान्‌ने उस अवसरपर मुनियोंके साथ किया। भाइयोंके साथ भी वे यथायोग्य व्यवहार करते हैं। सारी प्रजा प्रेममें विह्वल होकर भगवान्‌के दर्शनोंके लिये उमड़ आती है, तब भगवान् समान भावसे, बड़े प्रेम एवं आदरपूर्वक सबसे यथायोग्य मिलते हैं। ऐसे अवसरोंपर हमें भी सबसे इसी प्रकार मिलना चाहिये। अब प्रश्न यह होता है कि इस लीलामें भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व एवं रहस्यको किस प्रकार देखा जाय ? विचार करनेपर पता लगेगा कि उनकी लीलामें पद-पदपर गुण भरे हुए हैं। भगवान्‌का व्यवहार दयासे पूर्ण है, प्रेमसे पूर्ण है, विनयसे पूर्ण है। उनके बड़ोंके साथ व्यवहारमें विनय है, छोटोंके साथ व्यवहारमें प्रेम है, दया भरी हुई है। इसी प्रकार उनके चरित्रमें प्रभाव भी देखना चाहिये। वे एक ही क्षणमें अनन्त रूप धारण करके बड़प्पनके अभिमानसे शून्य होकर सबसे यथायोग्य मिलते हैं। यह उनका कैसा विलक्षण प्रभाव है ! अब उनके चरित्रका रहस्य समझना चाहिये। अवधवासी उन्हें अतिशय प्रिय क्यों थे ? इसका रहस्य, वे स्वयं कहते हैं, कोई विरला ही जानता है। इस कथनसे उन्होंने यह दिखलाया कि अवधवासियोंका उनमें अतिशय प्रेम था। इसीलिये वे उनको अतिशय प्रिय थे। साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा ही श्रीराम थे, यह उनका तत्त्व है। इस प्रकार भगवान्‌की प्रत्येक लीलामें उनके गुण, प्रभाव, तत्त्व एवं रहस्यको समझना चाहिये तथा उस लीलासे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। उनके व्यवहारमें नीति, धर्म, प्रेम

एवं विनय ओतप्रोत हैं । हमारा भी व्यवहार ऐसा ही होना चाहिये । हमारे व्यवहारमें भी नीति, धर्म, प्रेम एवं त्याग ओतप्रोत रहने चाहिये ।

इसी प्रकार संसारमें जो महापुरुष हो गये हैं अथवा जो महापुरुष वर्तमानकालमें ईश्वरकी कृपासे हमें मिल गये हैं, उनके आचरणोंका अनुकरण करना चाहिये । उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये, उनके संकेतका अनुवर्तन करना चाहिये । संकेतका अर्थ यह कि बिना बोले इशारेसे उन्होंने कोई बात कह दी अथवा जिज्ञासाके भावसे कोई बात पूछ ली, मान लीजिये, उन्होंने आपसे पूछा—जप, ध्यान होता है न ? उनके इस प्रकार पूछनेपर आपको जप और ध्यान प्रारम्भ कर देना चाहिये, यदि नहीं करते हों तो । प्रश्नके रूपमें उनका आपके लिये यह संकेत ही है कि आप ऐसा करें । यदि वे किसी कामके लिये आपको साक्षात् प्रेरणा कर दें, तब तो आपको अपना अहोभाग्य मानना चाहिये । आज्ञा और प्रेरणाका अर्थ प्राय: मिलता-जुलता-सा है । प्रेरणाका स्वरूप यह है—'प्रात:काल बड़े सबेरे उठना चाहिये । सूर्योदयसे पहले ही स्नान करके यज्ञोपवीत हो तो संध्या एवं गायत्री-जप प्रारम्भ कर देना चाहिये । शास्त्रकी मर्यादा तो यह है कि संध्या और भी जल्दी रात रहते ही प्रारम्भ कर दी जाय और सूर्योदयतक गायत्रीका जप करते रहा जाय । संध्या-गायत्रीमें जिनका अधिकार नहीं है अर्थात् जिनके यज्ञोपवीत नहीं हैं—जैसे स्त्रियाँ, शूद्र एवं बालक आदि, उनके लिये वे महापुरुष यह कह सकते हैं कि 'भगवान्‌के नामका

जप एवं स्वरूपका ध्यान, गीताका पाठ, भगवान्‌की मानसिक पूजा या मूर्तिपूजा, अपनी आत्माके कल्याणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना, भगवान्‌के गुणोंका गान, यह तो अवश्य ही करना चाहिये। सोनेके समय भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको याद करते-करते सोना चाहिये। अथवा निर्गुण-निराकार ब्रह्ममें श्रद्धा, प्रेम, विश्वास हो तो निर्गुण-निराकार तत्त्वका ध्यान करते-करते शयन करना चाहिये और काम करते समय लक्ष्य भगवान्‌की ओर रहना चाहिये।' यह प्रेरणाके रूपमें एक प्रकारकी आज्ञा ही है। इसके उत्तरमें हमारे यह कहनेपर कि 'जो आप कहते हैं, बहुत ठीक है और तदनुसार यत्किंचित् प्रयत्न भी किया जाता है, किंतु मन भगवान्‌में नहीं लगता' यदि महात्मा यह कहें कि मन न लगे तो भी ऐसा करते रहो तो यह उनकी स्पष्ट आज्ञा हुई। इसके भी आगे यदि वे यह कह दें कि 'करते-करते मन लगने लगेगा' तो यह उनका आशीर्वाद हुआ, जो भविष्यकी बात कह दी। दूसरे शब्दोंमें यह उनका एक प्रकारसे वरदान हो गया। अमुक कार्य करो, इस प्रकार करो—यह आज्ञा है। अमुक कार्य करनेसे अवश्य सफलता मिलेगी, यह एक प्रकारका आशीर्वाद है, वरदान है।

किसी संतके पास निवास करनेसे भी हमको बहुत लाभ मिल सकता है। उनका हाव-भाव, उनकी चितवन आदि देखते रहनेसे उनके संस्कार हमारे हृदयमें जमते हैं। काम करनेके समय उन संस्कारोंके अनुसार हमारे चित्तमें स्मृति होती है और स्मृतिके अनुसार हमारी चेष्टा भी उसी प्रकार होने लगती है। और तो और, महापुरुषोंके दर्शनमात्रसे उनके स्वरूपके, उनके

चरित्रके संस्कार हमारे हृदयपर पड़ते हैं और चरित्रके साथ-साथ उनके गुणोंका भाव भी हमारे हृदयमें आने लगता है । वे किसीका उपकार करते हैं तो उन्हें देखकर हमारे मनमें यह भाव आता है कि ये बड़े ही दयालु हैं, बड़े ही उदारचित्त हैं । उनमें हमारी विशेष श्रद्धा होती है तो उनके हृदयका भाव हमारे हृदयपर प्रतिफलित होने लगता है । उनके समीप रहनेसे उनके जो सिद्धान्त हैं, जो मान्यताएँ हैं, उनका ज्ञान बढ़ता चला जाता है और उसके अनुसार आगे जाकर हमारे भी वैसे ही सिद्धान्त बन जाते हैं । महापुरुषोंकी प्रत्येक क्रिया उपदेशसे ओतप्रोत रहती है; उनमें नीति, धर्म, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार भरे रहते हैं । श्रद्धा होनेसे इनका स्पष्ट दिग्दर्शन होता है तथा साथ ही यह भाव भी पैदा होता है कि हम भी ऐसे बनें । यह भाव बहुत लाभदायक होता है । बार-बार उस भावकी स्फुरणा होनेसे कभी वह वैसा बन भी सकता है ।

हमने बालकपनमें महापुरुषोंके दर्शन किये थे । उनकी स्मृति बहुत बार होती है, जिससे हमें बहुत अधिक लाभ होता है । इससे हम समझते हैं कि आपलोग भी यदि ऐसा करें तो आपलोगोंको भी विशेष लाभ होना चाहिये । महापुरुषोंके चरित्रोंकी स्मृतिसे उनका अनुकरण करनेकी इच्छा होती है और फलतः कुछ अंशोंमें वैसी चेष्टा बननेमें भी आती है, कम-से-कम उनकी छाप तो हृदयपर पड़ती ही है । जितनी अधिक किसी महापुरुषमें हमारी श्रद्धा होती है, उतने ही अधिक उनके आचरणोंके संस्कार हृदयपर जमते हैं और संस्कारोंके अनुसार ही स्फुरणा होनेसे वैसे ही

आचरण भी हमसे भी होने लगते हैं। जब-जब प्रसङ्ग आये, तब-तब उनके आचरणोंको याद कर लेनेसे उनके अनुसार आचरण बनने लगते हैं। महापुरुषोंके हृदयके भावका उनका सङ्ग करनेवाले व्यक्तिके हृदयपर भी निश्चित प्रभाव पड़ता है और आगे जाकर वह भी वैसा ही महापुरुष बन सकता है। जो महापुरुष बनना चाहे, उसके वैसा बननेमें सबसे बढ़कर सहायक महापुरुषोंका सङ्ग, उनके समीप वास करना, उनके संकेतके अनुसार चलना, उनकी आज्ञाका पालन करना, उनके शासनमें रहना है। ये सभी साधन एक प्रकारसे महापुरुषोंमें प्रेम एवं श्रद्धा बढ़ानेवाले हैं। इस प्रकार साधन करते-करते आगे जाकर साधक भी महापुरुष बन सकता है। इस प्रकार भगवान्‌की कृपासे महापुरुषोंसे भेंट हो जानेपर उनके सङ्गसे किस प्रकार लाभ उठाया जाय, यह बात आपको संक्षेपसे ऊपर बतलायी गयी।

अर्जुनको भगवान् गीतामें ज्ञान प्राप्त करनेकी पद्धति इस प्रकार बतलाते हैं—

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(४। ३४)

'अर्जुन! उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ। वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।' यहाँ यह प्रश्न होता है—उस ज्ञानको कैसे प्राप्त किया जाय? इसका उत्तर है—'प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन, सेवया।' अर्थात् उनको भलीभाँति साष्टाङ्ग दण्डवत्-

नमस्कार करके, उनकी सेवा करके और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक जिज्ञासुभावसे प्रश्न करके। उनकी सेवा क्या है ? उनकी आज्ञाका पालन ही सेवा है। आज्ञापालनके समान और कोई सेवा नहीं है। तुलसीकृत रामायणके उत्तरकाण्डमें भगवान् श्रीरामने भी यह बात अपनी प्रजासे कही है—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥

(उत्तर० ४२।३)

मेरी आज्ञा माननेवाला ही मेरा सेवक है और वही मेरा अतिशय प्यारा—प्रियतम है। एक तो होता है प्रिय, एक प्रियतर, एक प्रियतम। जो सबसे बढ़कर प्यारा है, उसे प्रियतम कहते हैं। उदाहरणके लिये पतिव्रता स्त्रीके लिये पति ही प्रियतम है। भगवान् कहते हैं—'वही मेरा सेवक है और वही मेरा प्रियतम है, जो मेरे शासनको मानता है—मेरी आज्ञाका पालन करता है।' स्वामी एवं गुरुके आज्ञापालनका विशेष महत्त्व शास्त्रोंमें वर्णित है। नीचे पूर्वकालकी एक कथा दी जाती है। उसमें आज्ञापालनकी ही प्रधानता है।

जबालाका पुत्र सत्यकाम नामका एक ब्रह्मचारी था, जो गुरुकुलमें वास करता था। उसको गुरुकी आज्ञा हुई—'हमारी चार सौ गौओंको वनमें ले जाकर चराओ।' सत्यकामके चित्तमें विश्वास था कि गुरुकी आज्ञाके पालन करनेसे मेरा कल्याण हो जायगा। उसने वैसा ही किया। अब वे गौएँ बढ़ते-बढ़ते एक हजार हो गयीं। तब एक बैलने सत्यकामसे कहा—'हमारी संख्या एक हजार हो गयी है, गुरुका ध्येय सिद्ध हो गया। अब

हमलोगोंको आश्रममें ले चलो।' सत्यकामने कहा—ठीक है। तदनुसार वह गौओंको गुरुजीके आश्रममें ले जा रहा था कि मार्गमें ही उसे ब्रह्मज्ञान हो गया। जब वह आश्रमपर पहुँचा, तब गुरुने उसके मुखारविन्दको देखकर कहा—'तुम्हारा खिला हुआ मुखकमल देखनेसे ऐसा लगता है कि तुमको ब्रह्मज्ञान हो गया। तुम्हारे चेहरेपर बड़ी भारी शान्ति है।' सत्यकामने कहा—'आपकी कृपासे ही ऐसा सम्भव हुआ है; किंतु मैं आपके मुखसे ज्ञानका उपदेश सुनना चाहता हूँ।' इसके बाद गुरुने उसे उपदेश दिया (छान्दोग्य-उप० ४ । ४ से ९)। यहाँ यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि गुरुकी आज्ञाका पालन करते-करते सत्यकामको अपने-आप ही परमात्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञान हो गया। फिर महात्माओंकी आज्ञाका पालन करनेसे हमको यथार्थ ज्ञान हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या। गुरु हो किंतु महात्मा न हो, तब भी उसकी आज्ञाका बड़ा भारी महत्त्व है। फिर यदि कोई महात्मा हो और उसमें हमारा गुरुभाव हो, तब तो ज्ञान हमें अपने-आप निश्चय ही हो सकता है। आत्मकल्याणमें भाव ही प्रधान है।

आज्ञापालनकी तो बात ही क्या, महात्मा पुरुषोंका तो सङ्ग ही सब प्रकारसे लाभदायक होता है। सत्सङ्गकी बड़ी महिमा शास्त्रोंने गायी है। रामचरितमानसमें लंकिनी राक्षसी हनुमान्‌जीसे कहती है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

(सुन्दर० ४)

'मेरे प्यारे हनुमान् ! स्वर्ग तथा अपवर्ग अर्थात् मुक्ति—इन दोनोंको तराजूके एक पलड़ेमें रखो और दूसरी ओर एक क्षणके सत्सङ्गको। एक क्षणके सत्सङ्गसे हमें जो वास्तविक आनन्द मिलता है, जो सच्चा सुख मिलता है, वैसा सुख स्वर्ग और मुक्ति दोनोंसे भी नहीं मिलता।' यहाँ कोई यह कह सकते हैं कि 'स्वर्गकी बात तो ठीक है, वह तो अल्प है ही; किंतु मुक्तिके सुखसे भी सत्सङ्गका सुख विशेष बतलाया गया, यह बात समझमें नहीं आयी।' इसका उत्तर यह है कि 'सत्' नाम है भगवान्का; उनमें जो प्रेम है, वही वास्तविक सत्सङ्ग है। मुख्य सत्सङ्ग तो यही है और इसे प्रेमीलोग मुक्तिसे भी बढ़कर मानते हैं। सत्सङ्गका दूसरा अर्थ है—भगवत्प्राप्त पुरुषोंका सङ्ग। इसकी भी बड़ी भारी महिमा है। मान लीजिये, भगवान् किसी समय अवतार लेकर भूतलपर पधारें और हम उनके साथ रहें, संसारमें मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये विचरण करें तो उसमें जो आनन्द आयेगा, उस सत्सङ्गमें जिस अलौकिक सुखकी अनुभूति होगी, वह आनन्द मुक्तिसे भी बढ़कर है।

एक मनुष्य स्वयं भोजन करता है और दूसरा बहुत-से भूखों एवं अनाथोंको, जो अन्नके बिना छटपटा रहे हैं, भोजन कराता है। बहुत-से भूखों एवं असमर्थोंको भोजन करानेमें जो सुख है, वह स्वयं भोजन करनेमें नहीं मिलता। इसी प्रकार उपर्युक्त महापुरुषोंके साथ रहकर लोगोंका कल्याण करते हुए विचरण करनेमें भक्तको कितना आनन्द आता होगा, इसका अनुमान करना कठिन है। फिर यदि स्वयं भगवान्का साथ मिल जाय, तब तो कहना ही क्या है। अतः यह स्पष्ट है कि भगवत्प्राप्त पुरुषोंके साथ रहकर संसारमें

भगवान्‌की भक्तिका प्रचार करनेमें, संसारके दुखी-अनाथ प्राणियोंका उद्धार करते रहनेमें जो आनन्द है, वह मुक्तिसे भी बढ़कर है।

एक ओर तो कोई मनुष्य काशीमें मरकर स्वयं मुक्तिलाभ करता है; क्योंकि काशीमें मरनेसे शास्त्रोंमें मुक्ति कही गयी है—'काश्यां हि मरणान्मुक्तिः'—और दूसरी ओर उसी काशीमें रहकर शिवजी महाराज मुक्तिका सदावर्त बाँटते हैं। दोनोंमेंसे शिवजी महाराजको जो आनन्द प्राप्त है, वह काशीमें जाकर मरनेवालेको थोड़े ही प्राप्त होता है। जो कुछ भी हो, अपने मनमें तो यही भाव रखना उत्तम है कि 'प्रभो! हमको मुक्ति नहीं चाहिये। हमारे द्वारा लोगोंकी मुक्ति होती रहे। हमारा चाहे जन्म होता रहे, उसमें कोई चिन्ताकी बात नहीं है।' मनुष्य यदि मुक्ति दिलानेवाले काममें महापुरुषोंका साझीदार बना रहे तो उसे कितना आनन्द हो। सत्पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त हो जानेपर फिर जहाँतक बने, उनका सङ्ग अपनी ओरसे छोड़ना नहीं चाहिये। कोई कहे—स्वयं महात्मा यदि छोड़ दें तो? इसका उत्तर यही है कि वे तो छोड़ना जानते ही नहीं।

धर्म, ईश्वर एवं महात्मा पुरुष पकड़ना जानते हैं, छोड़ना नहीं। जिसे वे एक बार पकड़ लेते हैं, उसको वे छोड़ते नहीं। हमीं उन्हें छोड़ दें तो बात दूसरी है। धर्मको कोई छोड़ दे, धर्मका कोई त्याग कर दे, तो धर्मका क्या वश? किंतु जो धर्मको नहीं छोड़ते, धर्म भी उन्हें कदापि नहीं छोड़ता। मनुष्य जब मर जाता है, उसके बन्धु-बान्धव उसके साथ श्मशानतक जाते हैं और वहाँ

उसे छोड़कर चले आते हैं। धर्म ही एक ऐसा पदार्थ है, जो प्राणीके साथ मृत्युके अनन्तर भी जाता है। ईश्वरकी कृपासे यदि किसी महापुरुषका सङ्ग मिल जाय तो फिर किसी बातकी आवश्यकता नहीं रह जाती। उससे बढ़कर और कोई वस्तु हो तो उसकी हम आवश्यकता समझें। उससे बढ़कर तो भगवान् हैं, जो प्रेम होनेपर अपने-आप ही हमसे आ मिलेंगे। भगवान्‌के मिलनेकी भी इच्छा रखना आवश्यक नहीं है।

मूल प्रश्न यह था कि महापुरुषोंका सङ्ग प्राप्त हो जाय तो क्या करना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि उनसे वार्तालाप करना चाहिये, उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। उनकी आज्ञाके पालनमें जो आनन्द है, वह मुक्तिके सुखसे भी बढ़कर है; क्योंकि मुक्ति तो उन महापुरुषके चरणोंमें लोटती है। सत्सङ्गके बिना भगवान् मिलते नहीं, भगवान्‌के मिले बिना मुक्ति नहीं मिलती। तुलसीदासजी कहते हैं—

> बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
> मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥
>
> (राम० उत्तर० ६१)

'हे तात! सत्सङ्गके बिना भगवान्‌की कथा सुननेको नहीं मिलती। (भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व एवं रहस्यकी कथा, उनके नाम, रूप, लीला एवं धामकी कथा, भगवान्‌के माहात्म्यकी कथा—ये सब हरि-कथाके अन्तर्गत हैं।) हरिकी कथाके बिना मोह अर्थात् अज्ञानका नाश नहीं होता। अज्ञानका नाश हुए बिना भगवान्‌में दृढ़ प्रेम नहीं हो सकता (बिना दृढ़ प्रेमके भगवान् नहीं मिलते)।'

अतः मूल सबका सत्सङ्ग ही है। इसीलिये हमें सत्सङ्गका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये और सत्सङ्गमें रहकर रात-दिन भगवान्की चर्चा करनी चाहिये। भगवान्की चर्चाको छोड़कर एक मिनट भी दूसरे काममें यदि हम बिताते हैं तो यह हमारी भारी मूर्खता है। भगवान्की चर्चा अमृतके समान मधुर है, दूसरी बातें विषके समान हैं। जो अमृतका त्याग करके विषको ग्रहण करता है, उसको लोग मूर्ख ही कहेंगे। महात्माओंका दर्शन, भाषण, वार्तालाप, चिन्तन, सब कुछ अमृतसे भी बढ़कर—या यों कह सकते हैं कि रसमय, आनन्दमय एवं प्रेममय है। जैसे चकोर पक्षी पूर्णिमाके चन्द्रमाको देखता ही रहता है, उसी प्रकार हम भी महात्माके मुखको निहारते रहें—उनकी अमृतमय वाणीको कानोंसे सुनते ही रहें।

एक घड़ी आधी घड़ी आधी में पुनि आध।
तुलसी संगत साधु की कटै कोटि अपराध॥

'सत्सङ्ग एक घड़ी अर्थात् चौबीस मिनटका भी मिल जाय तो बहुत आनन्द मानना चाहिये। यदि इतना न मिले, अपितु आधी घड़ी अर्थात् १२ मिनट अथवा पाव घड़ी अर्थात् ६ मिनटका भी मिल जाय, तो उतनेसे ही हमारे करोड़ों अपराध नष्ट हो जायँगे।' उनके दर्शनसे, भाषणसे, स्पर्शसे, वार्तालापसे पापोंका नाश होता ही रहता है। तीर्थोंसे भी बढ़कर सत्सङ्गकी महिमा शास्त्रोंमें कही गयी है। तीर्थोंको भी तीर्थ बनानेवाले महात्मा ही होते हैं। संसारमें जितने भी तीर्थ बने हैं, वे सब-के-सब सत्पुरुषोंके प्रभावसे, महापुरुषोंके प्रभावसे, महापुरुषोंके भी महापुरुष भगवान्के प्रभावसे

बने हैं। महात्मा भरतने सब तीर्थोंका जल एकत्रित करके जिस कूएँमें रखा था, वह आज संसारमें भरतकूपके नामसे प्रसिद्ध है और महान् तीर्थ माना जाता है। भरद्वाज ऋषिका आश्रम भी उन्हींके कारण आज तीर्थ माना जाता है। एक क्या, जितने भी ऋषि हुए हैं, उन सभीके वासस्थान आज तीर्थोंमें परिगणित हैं। संतोंकी तो यहाँतक महिमा है कि जहाँ-जहाँ उनके चरण टिकते हैं, वह भूमि—स्थान पवित्र हो जाता है, उनका कुल पवित्र हो जाता है। शास्त्र कहते हैं—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥*

(स्क० माहेश्वर, कौमार० ५५। १४०)

'ज्ञान एवं आनन्दके अपार समुद्ररूप परब्रह्म परमात्मामें जिनका चित्त विलीन हो गया है, ऐसे पुरुषोंके चरण पड़नेसे पृथ्वी पवित्र हो जाती है। उनके दर्शन, भाषण एवं वार्तालापसे उनका कुल पवित्र हो जाता है; फिर उन्हें जन्म देनेवाली माता यदि मुक्त हो जाय तो कहना ही क्या है।'

महात्मा पुरुष दूसरोंके साथ जो उत्तम व्यवहार करते हैं, दूसरोंका जो उपकार करते हैं, वह तो महत्त्वकी बात है ही; किंतु

---

* नवलकिशोर प्रेस, लखनऊसे प्रकाशित प्रतिमें इस प्रकार पाठभेद भी मिलता है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा भाग्यवती च तेन॥
विमुक्तिमार्गे सुखसिन्धुमग्नं लग्नं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः।

(५२। १३७-१३८)

इससे भी बढ़कर महत्त्वकी बात यह है कि जो उनके सम्पर्कमें आ जाते हैं, उन्हें भी वे महात्मा बना देते हैं। और तो और, उनके सङ्गसे अन्ततोगत्वा पापी भी महात्मा बन जाते हैं।

ऊपर यह बात कही गयी कि एक मनुष्य तो सदावर्त लेकर स्वयं अपना पेट भरता है और दूसरा भिखारियोंको, भूखोंको, अपंगोंको भोजन कराता है, स्वयं उसमेंसे नहीं लेता। परंतु क्या दूसरोंको अन्न बाँटनेवाला स्वयं भूखा रह सकता है? यदि उसके साधन सीमित हों और वह अपनी सारी भोजन-सामग्री दूसरोंको बाँट दे, अपने लिये एक दाना भी न रखे तो वह अवश्य भूखा रह सकता है; परंतु ऐसे उदार-हृदय परदुःखकातर पुरुषको भूखा रहनेमें भी आनन्दकी अनुभूति होती है। राजा रन्तिदेवको तो एक बार ४८ दिनोंतक भूखा रहना पड़ा था। बात यह थी कि उनके पास जो कुछ था, उसे उन्होंने दुखी, अनाथ एवं आतुरोंको दे दिया था। इसीलिये उनकी शास्त्रोंने बड़ी महिमा गायी है। जो मनुष्य स्वयं भूखा रहकर अपने हिस्सेका भोजन दूसरेको दे देता है, उसका यह त्याग बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। उसकी तुलनामें एकादशीका निराहार-व्रत भी नगण्य है।

महाभारतके अश्वमेधपर्वके ९० वें अध्यायमें एक कथा आती है। किसी देशमें एक तपस्वी ब्राह्मण था, जो शिलोञ्छवृत्तिसे अपना एवं अपने कुटुम्बका पालन करता था तथा अतिथिसेवा भी करता था। एक बार उसे सात दिनतक कुछ भी खानेको नहीं मिला। सात दिन बाद उसे जौ मिले, उन्हें भूनकर तथा सत्तू

बनाकर वह खानेकी तैयारी करने लगा। उस ब्राह्मणके घरमें उसकी स्त्री थी, जवान पुत्र था और पुत्रवधू थी। उसी समय दैवयोगसे एक ब्राह्मण अतिथि आ गया। उस अतिथिको ब्राह्मणने अपना हिस्सा दे दिया; किंतु उससे अतिथिकी तृप्ति नहीं हुई। तब ब्राह्मणने अपनी स्त्रीके आग्रहपर उसका भाग भी ब्राह्मणको दे दिया। इसपर भी जब ब्राह्मणदेवता तृप्त नहीं हुए, तब उसने अपने पुत्रका हिस्सा और इसके बाद पुत्रवधूका भाग भी उन दोनोंके आग्रह करनेपर अभ्यागतको दे दिया। समागत तृप्त हो गया और उसने अपना परिचय इस प्रकार दिया। उन्होंने कहा—'मैं साक्षात् धर्मराज हूँ। तुम्हारी परीक्षा लेनेके लिये ब्राह्मणका रूप धारणकर तुम्हारे यहाँ आया था। तुमने हमको जीत लिया।' उसी समय उन्होंने अपने विमानको स्मरण किया, विमान तुरंत आ गया और उसपर बैठकर वे चारों उसी शरीरसे दिव्यलोकको चले गये। एक दिनके भोजन-त्यागका यह फल है।

यह तो अन्नदानकी बात हुई। यदि किसीको भगवान् कृपा करके ऐसा अधिकार दे दें कि जैसे अन्नका सदावर्त बाँटनेवाला दूसरोंको अन्न बाँटकर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार वह मुक्तिका सदावर्त बाँटने लगे तो उसे ऐसा करनेमें कितना आनन्द मिलेगा—जरा सोचकर देखिये। वह तो मुक्तिसे भी बढ़कर है।

राजा जनकने अपनी जनकपुरीमें मुक्तिका सदावर्त खोल रखा था। राजा अश्वपति भी अपने देशमें मुक्तिका वितरण किया करते थे। उनके यहाँ ऋषिलोग उपदेश ग्रहण करने आते

थे और वे ज्ञानका उपदेश करके उनको ज्ञानी बना देते थे। बतलाइये, उनके समान कोई दूसरा हो सकता है? उनसे भी बढ़कर राजा कीर्तिमान् हुए, जो चक्रवर्ती राजा थे। सारे भूमण्डलके वे एकच्छत्र सम्राट् थे। उन्होंने सारी पृथ्वीके मनुष्योंको भक्तिका उपदेश करके कृतार्थ कर दिया। उस समय हमलोग किसी मनुष्येतर योनिमें रहे होंगे; यदि मनुष्यके शरीरमें होते तो हमलोगोंका भी कल्याण कभीका हो गया होता। उस समय न जाने किस योनिमें कहाँ हमलोग भटक रहे थे। वह अवसर हमलोगोंके हाथसे निकल गया, यद्यपि राजा कीर्तिमान् १०००० वर्षतक जीवित रहे। दस हजार वर्षतक पृथ्वीपर जितने भी मानव थे, सबका उद्धार होता रहा। उनमेंसे एक भी यमके लोकमें नहीं गया, सब-के-सब भगवान्के परमधामको चले गये। ऐसी कथा स्कन्दपुराण, वैष्णवखण्डमें आती है।

फिर भी हमलोग उस समय कल्याणसे वञ्चित रह ही गये। इसकी भी कोई परवा न करके हमलोगोंको तो ऐसा भाव रखना चाहिये कि सबका कल्याण हो जाय। यह भाव जिनका है, ऐसे महापुरुषोंका सङ्ग यदि हमें मिल जाय तो फिर हमलोगोंको और करना ही क्या रह जाय। बस, उनके साथ रहकर हमलोग मुक्तिका सदावर्त बाँटते हुए संसारमें विचरतें रहें। जबतक संसारका एक जीव भी शेष रहे, तबतक यदि घूमते रहें तो भी क्या आपत्ति है, प्रत्युत बड़े आनन्दकी बात है।



सत्सङ्ग और भगवद्भक्तोंके लक्षण, उनकी महिमा, प्रभाव और उदाहरण

'सत्' जो भगवान् हैं, उनके प्रति प्रेम और उनका मिलन ही वास्तविक एवं मुख्य सत्सङ्ग है। भगवत्प्राप्त भक्तों या जीवन्मुक्त ज्ञानी महात्माओंका सङ्ग दूसरी श्रेणीका सत्सङ्ग है। भगवत्प्रेमी उच्चकोटिके साधकोंका सङ्ग तीसरी श्रेणीका सत्सङ्ग है। चौथी श्रेणीमें सत्-शास्त्रोंका अनुशीलन भी सत्सङ्ग है।

सत्स्वरूप भगवान्में प्रेम होना और उनका मिलना तो सब साधनोंका फल है। जो भगवान्को प्राप्त हो चुके हैं तथा जिनका भगवान्में अनन्य प्रेम है, ऐसे भगवत्प्राप्त भक्तोंका मिलन या सङ्ग भगवान्की कृपासे ही मिलता है। वह पुरुष भगवान्की कृपाका अधिकारी होता है, जो अपनेपर भगवान्की अतिशय कृपा मानता है। वह फिर उस कृपाको तत्त्वसे जानकर परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है (गीता ५ । २९)। जिसकी भगवान्में और उनके भक्तोंमें श्रद्धा विश्वास और प्रेम होता है एवं जिसके अन्तःकरणमें पूर्वके श्रद्धा-भक्तिविषयक संस्कार संचित हैं, वह भी भगवान्की कृपाका अधिकारी होता है।

श्रीरामचरितमानसके सुन्दरकाण्डमें भक्त विभीषणने हनुमान्जीसे कहा है—

अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता॥

(सुन्दर० ६ । २)

'हे हनुमान् ! अब मुझे विश्वास हो गया कि श्रीरामजीकी मुझपर कृपा है; क्योंकि हरिकी कृपाके बिना संत नहीं मिलते ।'

श्रीशिवजी भी पार्वतीजीसे कहते हैं—

गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन ।
बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान ॥
(राम० उत्तर० १२५ ख)

'हे गिरिजे ! संत-समागमके समान दूसरा कोई लाभ नहीं है । पर वह श्रीहरिकी कृपाके बिना सम्भव नहीं है, ऐसी बात वेद और पुराण कहते हैं ।'

पूर्वके उत्तम संस्कारोंके प्रभावसे भी भक्तोंका मिलन होता है । श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें स्वयं भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने प्रजाको उपदेश देते हुए कहा है—

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी । बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी ॥
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता । सतसंगति संसृति कर अंता ॥
(उत्तर० ४४ । ३)

'भक्ति स्वतन्त्र साधन है और सब सुखोंकी खान है । परंतु सत्सङ्गके बिना प्राणी इसे नहीं पा सकते और पुण्यसमूहके बिना संत नहीं मिलते । सत्सङ्गति ही जन्म-मरणके चक्रका अन्त करती है ।'

अब ऐसे भगवत्प्राप्त पुरुषोंके लक्षण बतलाये जाते हैं, जिनको गीतामें स्वयं भगवान्‌ने अपना प्रिय भक्त कहा है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
(१२ । १३-१४)

'जो पुरुष जीवमात्रके प्रति द्वेषभावसे रहित, सबका स्वार्थरहित प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे शून्य, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय कर देता है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, जिसने मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें कर लिया है, जिसका मुझमें दृढ़ निश्चय है तथा जिसके मन एवं बुद्धि मुझमें अर्पित हैं, वह मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

भगवत्प्राप्त भक्तों या जीवन्मुक्त गुणातीत पुरुषोंका सभी प्राणियों एवं पदार्थोंके प्रति समान भाव होता है (गीता १४ । २४-२५)। उनका किसीसे भी व्यक्तिगत स्वार्थका सम्बन्ध नहीं होता (गीता ३ । १८)। उनका देह या मकान आदिमें ममता, आसक्ति और अभिमानका सर्वथा अभाव होता है (गीता १२।१९)। उनका यावन्मात्र प्राणियोंपर दया और प्रेम रहता है (गीता १२ । १३)। एवं उनका सबमें समभाव भी रहता है। उन परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषोंके समभावका वर्णन करते हुए भगवान्ने कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(गीता ५ । १८)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समान दृष्टि रखते हैं।'

यहाँ भगवान्ने ज्ञानीको समदर्शी कहकर यह भाव व्यक्त किया है कि उनका सबके साथ शास्त्रविहित न्याययुक्त व्यवहारका भेद रहते हुए भी सबमें समभाव रहता है। सबके साथ समान

व्यवहार तो कोई कर ही नहीं सकता; क्योंकि विवाह या श्राद्धादि कर्म ब्राह्मणसे ही करवाये जाते हैं, चाण्डाल आदिसे नहीं; दूध गायका ही पीया जाता है, कुतियाका नहीं; सवारी हाथीकी ही की जाती है, गायकी नहीं; पत्ते और घास आदि हाथी और गायको ही खिलाये जाते हैं, कुत्ते या मनुष्योंको नहीं। अतः सबके हितकी ओर दृष्टि रखते हुए ही आदर-सत्कारपूर्वक सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करना ही समव्यवहार है, न कि एक ही पदार्थसे सबकी समानरूपसे सेवा करना। किंतु सबमें व्यवहारका यथायोग्य भेद रहनेपर भी प्रेम और आत्मीयता अपने शरीरकी भाँति सबमें समान होनी चाहिये। जैसे अपने शरीरमें प्रेम और आत्मभाव (अपनापन) समान होते हुए भी व्यवहार अपने ही अङ्गोंके साथ अलग-अलग होता है— जैसे मस्तकके साथ ब्राह्मणकी तरह, हाथोंके साथ क्षत्रियकी तरह, जङ्घाके साथ वैश्यके समान, पैरोंके साथ शूद्रके समान एवं गुदा-उपस्थादिके साथ अछूतके समान व्यवहार किया जाता है; उसी प्रकार सबके साथ अपने आत्माके समान समभाव रखते हुए ही यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये। भगवान् कहते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(गीता ६। ३२)

हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें समदृष्टि रखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

श्रीरामचरितमानसमें भरतके प्रति संतोंके लक्षण बतलाते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—

विषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमलचित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
बिगत काम मम नाम परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन॥
सीतलता सरलता मयत्री। द्विज पद प्रीति धर्म जनयत्री॥
ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥
(उत्तर० ३७। १—४)

निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुन मंदिर सुख पुंज॥
(उत्तर० ३८)

'संत विषयोंमें लंपट (लिप्त) नहीं होते, वे शील और सद्गुणोंकी खान होते हैं। उन्हें पराया दुःख देखकर दुःख और सुख देखकर सुख होता है। वे सबमें सर्वत्र सब समय समदृष्टि रखते हैं। उनके मनमें उनका कोई शत्रु नहीं होता। वे घमंडसे शून्य और वैराग्यवान् होते हैं तथा लोभ, क्रोध, हर्ष और भयके त्यागी होते हैं। उनका चित्त बड़ा कोमल होता है। वे दीनोंपर दया करते हैं तथा मन, वचन और कर्मसे मेरी निष्कपट (विशुद्ध) भक्ति करते हैं। सबको सम्मान देते हैं; पर स्वयं मानरहित होते हैं। हे भरत! वे प्राणी (संतजन) मुझे प्राणोंके समान प्यारे होते हैं। उनमें कोई कामना नहीं होती। वे मेरे नामके परायण (आश्रित) होते हैं तथा शान्ति, वैराग्य, विनय और प्रसन्नताके घर होते हैं। उनमें शीतलता, सरलता, सबके प्रति मित्रभाव और

ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रीति होती है, जो (सम्पूर्ण) धर्मोंकी जननी है । हे तात ! ये सब लक्षण जिसके हृदयमें बसते हों, उसको सदा सच्चा संत जानना । जिनका मन और इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, जो नियम (सदाचार) और नीति (मर्यादा) से कभी विचलित नहीं होते और मुखसे कभी कठोर वचन नहीं बोलते, जिन्हें निन्दा और स्तुति दोनों समान हैं और मेरे चरण-कमलोंमें जिनकी ममता है, वे गुणोंके धाम और सुखकी राशि संतजन मुझे प्राणोंके समान प्रिय हैं ।'

इन लक्षणोंमें बहुत-से तो आन्तरिक होनेके कारण स्वसंवेद्य हैं, अतः उनको वे भक्त स्वयं ही जानते हैं; और बहुत-से आचरण ऐसे भी हैं, जिन्हें देखकर दूसरे लोग भी उनकी स्थितिका कुछ अनुमान लगा सकते हैं । किंतु वास्तवमें तो ईश्वर और महात्माओंकी जिनपर कृपा होती है, वे ही उनको जान सकते हैं । जिनके सङ्ग, दर्शन, भाषण और वार्तालापसे अपनेमें भगवत्प्राप्त पुरुषोंके लक्षणोंका प्रादुर्भाव हो, हमारे लिये तो, वे ही भगवत्प्राप्त संत हैं—यों समझकर उन सत्पुरुषोंसे लाभ उठाना चाहिये । जो सत्पुरुषोंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सङ्ग करके उनकी आज्ञाका पालन करता है, वही उनसे विशेष लाभ उठा सकता है । गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥
(१३ । २५)

'दूसरे (मन्दबुद्धि लोग जो ध्यानयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोगकी बात नहीं जानते) इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे—तत्त्वको

जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निस्संदेह पार कर लेते हैं ।'

ऐसे संतोंके सङ्गकी महिमा और प्रभावका वर्णन करते हुए गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

जलचर थलचर नभचर नाना । जे जड चेतन जीव जहाना ॥
मति कीरति गति भूति भलाई । जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई ॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ । लोकहुँ बेद न आन उपाऊ ॥
बिनु सतसंग बिबेक न होई । राम कृपा बिनु सुलभ न सोई ॥
सतसंगत मुद मंगल मूला । सोइ फल सिधि सब साधन फूला ॥
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई । पारस परस कुधात सुहाई ॥

(राम० बाल० २ । २—५)

'जलमें रहनेवाले, जमीनपर चलनेवाले और आकाशमें विचरनेवाले नाना प्रकारके जड-चेतन जो भी जीव इस जगत्में हैं, उनमेंसे जिसने जिस समय जहाँ कहीं भी जिस किसी उपायसे बुद्धि (ज्ञान), कीर्ति, सद्गति, विभूति (ऐश्वर्य) और भलाई (अच्छापन) पायी है, वह सब सत्सङ्गका ही प्रभाव समझना चाहिये । वेदोंमें और लोकमें भी उनकी प्राप्तिका दूसरा कोई साधन नहीं है । सत्सङ्गके बिना विवेक (सत्-असत्की पहचान) नहीं होता और श्रीरामचन्द्रजीकी कृपाके बिना वह सत्सङ्ग सहजमें मिलता नहीं । सत्सङ्गति आनन्द और कल्याणकी जड़ है । सत्सङ्गकी सिद्धि (प्राप्ति) ही फल है, अन्य सब साधन तो फूल हैं । दुष्ट भी सत्सङ्ग पाकर सुधर जाते हैं, जैसे पारसके स्पर्शसे लोहा सुहावना हो जाता है—सुन्दर सुवर्ण बन जाता है ।'

इसी विषयमें श्रीमहादेवजीने गरुड़जीसे कहा है—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

(राम० उत्तर० ६१)

'सत्सङ्गके बिना श्रीहरिकी कथा सुननेको नहीं मिलती, हरिकथा-श्रवणके बिना मोह नहीं भागता—मोहका नाश नहीं होता और मोहके गये बिना श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें दृढ़ (अचल) प्रेम नहीं होता।'

श्रीकाकभुशुण्डिजीने भी गरुड़जीसे कहा है—

सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहूँ पाई॥
अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा॥

(राम० उत्तर० ११९। ९-१०)

'सुन्दर हरिभक्ति ही समस्त साधनोंका फल है। परंतु उसे संत (की कृपा) के बिना किसीने नहीं पाया। यों विचारकर जो भी संतोंका सङ्ग करता है, हे गरुड़जी! उसके लिये श्रीरामजीकी भक्ति सुलभ हो जाती है।'

फिर जिनको भगवान्‌ने संसारका कल्याण करनेके लिये ही संसारमें भेजा है, उन परम अधिकारी पुरुषोंकी तो बात ही क्या है! उनके तो दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन और वार्तालापसे भी विशेष लाभ हो सकता है। जैसे किसी कामी पुरुषके अंदर कामिनीके दर्शन, भाषण, स्पर्श या चिन्तनसे कामकी जागृति हो जाती है, वैसे ही भगवत्प्रेमी पुरुषोंके दर्शन, भाषण, स्पर्श या चिन्तनसे भगवत्प्रेमकी जागृति अवश्य होनी चाहिये। प्रसिद्ध है कि पारसके

सङ्गसे लोहा सोना बन जाता है; किंतु महात्माके सङ्गकी तो उससे भी बढ़कर महिमा बतलायी गयी है; किसी कविने कहा है—

पारस में अरु संत में, बहुत अंतरौ जान ।
वह लोहा कंचन करै, वह करै आपु समान ॥

'पारसमें और संतमें बहुत अन्तर समझना चाहिये । पारस लोहेको सोना अवश्य बना देता है; किंतु संत तो अपने सम्पर्कमें आनेवालेको अपने समान ही बना लेते हैं ।'

पारसके साथ सम्बन्ध होनेपर लोहा अवश्य ही सोना बन जाता है । यदि न बने तो यही समझना चाहिये कि या तो वह पारस पारस नहीं है या वह लोहा लोहा नहीं है । इसी प्रकार महापुरुषोंके सङ्गसे साधक अवश्य ही महापुरुष बन जाता है । यदि नहीं बनता तो यही समझना चाहिये कि या तो वह महापुरुष महापुरुष नहीं है अथवा साधकमें श्रद्धा-विश्वास और प्रेमकी कमी है ।

उन भगवद्भक्त अधिकारी पुरुषोंकी तो जहाँ भी दृष्टि पड़ती है, वे जिनका मनसे स्मरण कर लेते हैं या जिनका स्पर्श कर लेते हैं, उन व्यक्तियों और पदार्थोंमें भगवत्प्रेमके परमाणु प्रवेश कर जाते हैं । किसी जिज्ञासुके मरनेके पूर्व यदि वे वहाँ पहुँच जाते हैं तो कथा-कीर्तन सुनाकर उसका कल्याण कर देते हैं । श्रीनारद-पुराणमें तो यहाँतक कहा गया है—

महापातकयुक्ता वा युक्ता वा चोपपातकैः ।
परं पदं प्रयान्त्येव महद्भिरवलोकिताः ॥
कलेवरं वा तद्भस्म तद्धूमं वापि सत्तम ।
यदि पश्यति पुण्यात्मा स प्रयाति परां गतिम् ॥

(ना० पूर्व० ७ । ७४-७५)

'जो अधिकारी महापुरुषोंके द्वारा देख लिये जाते हैं, वे महापातक या उपपातकोंसे युक्त होनेपर भी अवश्य परम पदको प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे पवित्रात्मा महापुरुष यदि किसीके मृत शरीरको, उसकी चिताके धूएँको अथवा उसके भस्मको भी देख लें तो वह मृतक पुरुष भी परम गतिको पा लेता है।'

इसीलिये महापुरुषोंके सङ्गकी महिमा शास्त्रोंमें विशेषरूपसे वर्णित है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥
(१।१८।१३)

'भगवत्सङ्गी (भगवत्प्रेमी) पुरुषके लव (क्षण) मात्रके भी सङ्गके साथ हम स्वर्गकी तो क्या, मोक्षकी भी तुलना नहीं कर सकते; फिर संसारके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है?'

श्रीरामचरितमानसमें भी लङ्किनी राक्षसीका हनुमान्‌जीके प्रति इसी तरहका वचन मिलता है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥
(सुन्दर० ४)

'हे तात! स्वर्ग और मोक्षके सुखोंको यदि तराजूके एक पलड़ेमें रखा जाय तो वे सब मिलकर भी (दूसरे पलड़ेपर रखे हुए) उस सुखके बराबर नहीं हो सकते, जो लवमात्रके सत्सङ्गसे प्राप्त होता है।'

ऐसे महापुरुषोंकी कृपाको भक्तिकी प्राप्तिका प्रधान साधन बतलाते हुए श्रीनारदजी कहते हैं—

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद् वा ।

(नारद० ३८)

'भगवान्‌की भक्ति मुख्यतया महापुरुषोंकी कृपासे ही अथवा भगवान्‌की कृपाके लेशमात्रसे प्राप्त होती है ।'

नारदजी फिर कहते हैं—

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ।

(ना० भ० सू० ३९)

'उन महापुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ एवं अगम्य होते हुए भी मिल जानेपर अमोघ होता है ।'

लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव । (ना० भ० सू० ४०)

'और वह भगवान्‌की कृपासे ही मिलता है ।'

श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः ।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम् ॥

(११ । २ २९)

'प्राणियोंके लिये मनुष्य-शरीरका प्राप्त होना कठिन है । यदि यह प्राप्त हो भी गया तो है यह क्षणभङ्गुर । और ऐसे अनिश्चित मनुष्य-जीवनमें भगवान्‌के प्रिय भक्तजनोंका दर्शन तो और भी दुर्लभ है ।'

ऐसे महापुरुषोंका मिलन हो जाय तो हमलोगोंको चाहिये कि हम उनको साष्टाङ्ग नमस्कार करें, उनसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रश्न

करके भगवान्‌के तत्त्वको जानें, उनकी आज्ञाका पालन करें और उनकी सेवा करें । उनकी आज्ञाका पालन करना ही उनकी वास्तविक सेवा है । तथा इससे भी बढ़कर है—उन महापुरुषोंके संकेत, सिद्धान्त और मनके अनुकूल चलना, अपने मन-इन्द्रियोंकी डोरको उनके हाथमें सौंप देना और उनके हाथकी कठपुतली बन जाना । इस प्रकारकी चेष्टा करनेवाले परम श्रद्धालु मनुष्यके अंदर उन सत्पुरुषोंके सङ्गके प्रभावसे सद्गुण-सदाचारका प्रादुर्भाव तथा दुर्गुण-दुराचारका नाश ही नहीं, अपितु भगवान्‌की भक्ति, उनके तत्त्वका ज्ञान और भगवत्प्राप्ति आदि सहजमें ही हो जाते हैं ।

शास्त्रोंमें सत्सङ्गके प्रभावके अनेक उदाहरण मिलते हैं । हमलोगोंको उनपर ध्यान देना चाहिये । भगवान्‌के प्रेम और मिलनरूप सत्सङ्गके श्रेष्ठ उदाहरण हैं—सुतीक्ष्ण और शबरी । इनकी कथा श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसके अरण्यकाण्डमें देखनेको मिलती है । तथा भगवत्प्राप्त भक्तोंके सङ्गसे भगवान्‌के तत्त्वका ज्ञान और उनकी प्राप्ति होनेके तो बहुत उदाहरण हैं । श्रीनारदजीके सङ्ग और उपदेशसे ध्रुवको भगवान्‌के दर्शन हो गये और उनके अभीष्टकी भी सिद्धि हो गयी (श्रीमद्भागवत स्कन्ध ४, अध्याय ८-९) । श्रीकाकभुशुण्डिजीके सत्सङ्गसे गरुड़जीका मोहनाश ही नहीं, उन्हें भगवान्‌का अनन्य प्रेम भी प्राप्त हो गया (श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड) तथा श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके सङ्ग और उपदेशसे श्रीवास, रघुनाथ भट्ट और हरिदास आदिका उद्धार हो गया ।

इसी प्रकार जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुषोंके सङ्गसे भी परमात्माका ज्ञान और उनकी प्राप्ति होनेके बहुत उदाहरण मिलते

हैं। महात्मा हारिद्रुमत गौतमकी आज्ञाका पालन करनेसे जबालपुत्र सत्यकामको और सत्यकामके सङ्ग और सेवासे उपकोसलको ब्रह्मका ज्ञान हो गया (छान्दोग्य-उप० अ० ४, ख० ४ से १७)। राजा अश्वपतिका सङ्ग करनेपर उनके उपदेशसे महात्मा उद्दालकको साथ लेकर उनके पास आये हुए प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल नामक पाँच ऋषियोंको ज्ञान प्राप्त हो गया (छान्दोग्य-उप० अ० ५, ख० ११)। अरुणपुत्र उद्दालकके सत्सङ्गसे श्वेतकेतुको ब्रह्मका ज्ञान हो गया (छान्दोग्य-उप० अ० ६, ख० ८ से १६)। श्रीसनत्कुमारजीके सङ्ग और उपदेशसे नारदजीका अज्ञानान्धकार दूर हो गया तथा उनको ज्ञानकी प्राप्ति हो गयी (छान्दोग्य-उप० अ० ७)। याज्ञवल्क्य मुनिके उपदेशसे मैत्रेयीको ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो गयी (बृहदारण्यक० अ० ४, ब्रा० ५)। श्रीधर्मराजके सङ्ग और उपदेशसे नचिकेता आत्मतत्त्वको जानकर ब्रह्मभावको प्राप्त हो गये (कठोपनिषद् अ० १-२)। महात्मा जडभरतके सङ्ग और उपदेशसे राजा रहूगणको परमात्माका ज्ञान हो गया (भागवत स्कन्ध ५, अ० ११ से १३)। इस प्रकार सत्सङ्गसे भगवान्‌में प्रेम, उनके तत्त्वका ज्ञान और उनकी प्राप्ति होनेके उदाहरण श्रुतियों तथा इतिहास-पुराणोंमें भरे पड़े हैं। हमलोगोंको चाहिये कि शास्त्रोंका अनुशीलन करके सत्सङ्गका प्रभाव समझें और उसके अनुसार सत्पुरुषोंके सङ्गका लाभ उठायें; क्योंकि मनुष्य जैसा सङ्ग करता है, वैसा ही बन जाता है। लोकोक्ति प्रसिद्ध है—जैसा करै सङ्ग, वैसा चढ़ै रंग। और देखनेमें भी आता है कि मनुष्य योगीके सङ्गसे

योगी, भोगीके सङ्गसे भोगी और रोगीके सङ्गसे रोगी हो जाता है। इस बातको समझकर हमें संसारासक्त मनुष्योंका सङ्ग न करके महात्मा पुरुषोंका ही सङ्ग करना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषोंका सङ्ग मुक्तिदायक है और संसारासक्त मनुष्योंका सङ्ग बन्धनकारक है।

श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

संत संग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ।
कहहिं संत कबि कोबिद श्रुति पुरान सदग्रंथ॥
(राम० उत्तर० ३३)

'संतका सङ्ग मोक्ष (भव-बन्धनसे छूटने) का और कामीका सङ्ग जन्म-मृत्युके बन्धनमें पड़नेका मार्ग है। संत, ज्ञानी और पण्डित तथा वेद-पुराण आदि सभी सद्ग्रन्थ ऐसी बात कहते हैं।'

किंतु यदि महात्मा पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त न हो तो उनके अभावमें विरक्त दैवी-सम्पदायुक्त उच्चकोटिके साधकोंका सङ्ग करना चाहिये। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक साधन करते हुए उनका सङ्ग करनेसे भी बहुत लाभ होता है; क्योंकि वीतराग पुरुषोंके स्मरणसे वैराग्यके भाव जाग्रत् होते हैं और मनकी एकाग्रता हो जाती है। श्रीपातञ्जलयोगदर्शनमें बतलाया गया है—

वीतरागविषयं वा चित्तम्। (१।३७)

'जिन पुरुषोंकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है, ऐसे विरक्त पुरुषोंको ध्येय बनाकर अभ्यास करनेवाला व्यक्ति स्थिरचित्त हो जाता है।'

जो उच्चकोटिके वीतराग साधु-महात्मा होते हैं, उनके लिये त्रिलोकीका ऐश्वर्य भी धूलके समान होता है। वे मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाको कलङ्क समझते हैं। इसलिये वे न अपने पैर पुजवाते हैं, न अपने पैरोंकी धूल किसीको देते हैं और न पैरोंका जल ही। न वे अपना फोटो पुजवाते हैं और न मान-पत्र ही लेते हैं। वे अपनी कीर्ति कभी नहीं चाहते, बल्कि जहाँ कीर्ति होती है, वहाँ ठहरते ही नहीं; फिर अपनी आरती उतरवाने और लोगोंको उच्छिष्ट खिलानेकी तो बात ही क्या है। यदि ऐसे विरक्त महापुरुषोंका सङ्ग न प्राप्त हो तो मनुष्यको चाहिये कि दुष्ट पुरुषोंका सङ्ग तो कभी न करे। दुष्ट पुरुषोंके लक्षणोंका वर्णन करते हुए श्रीतुलसीदासजीने लिखा है—

सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ। भूलेहुँ संगति करिअ न काऊ॥
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई॥
खलन्ह हृदयँ अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥
जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई॥
काम क्रोध मद लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन॥
बयरु अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥

(राम० उत्तर० ३८। १-३)

पर द्रोही पर दार रत पर धन पर अपबाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरें मनुजाद॥

(राम० उत्तर० ३९)

मातु पिता गुर बिप्र न मानहिं। आपु गए अरु घालहिं आनहिं॥
करहिं मोह बस द्रोह परावा। संत संग हरि कथा न भावा॥

अवगुन सिंधु मंदमति कामी। बेद बिदूषक परधन स्वामी॥
बिप्र द्रोह पर द्रोह बिसेषा। दंभ कपट जियँ धरें सुबेषा॥
ऐसे अधम मनुज खल कृतजुग त्रेताँ नाहिं।
द्वापर कछुक बृंद बहु होइहहिं कलिजुग माहिं॥
(राम० उत्तर० ३९। ३-४; ४०)

अब असंतों (दुष्टों) का स्वभाव सुनो। कभी भूलकर भी उनकी संगति नहीं करनी चाहिये। उनका सङ्ग उसी प्रकार सदा दुःख देनेवाला होता है, जैसे हरहाई (बुरे स्वभावकी) गाय कपिला (अच्छे स्वभाववाली सीधी और दुधार) गायको अपने सङ्गसे नष्ट कर डालती है। दुष्टोंके हृदयमें बहुत अधिक संताप होता है। वे परायी सम्पत्ति (सुख) देखकर सदा जलते रहते हैं, वे जहाँ कहीं दूसरेकी निन्दा सुन लेते हैं, वहाँ ऐसे हर्षित होते हैं, मानो रास्तेमें पड़ा खजाना उन्हें मिल गया हो। वे काम, क्रोध, मद और लोभके परायण तथा निर्दयी, कपटी, कुटिल और पापोंके घर होते हैं। वे बिना ही कारण सब किसीसे वैर किया करते हैं। जो उनके साथ भलाई करता है, उसका भी अपकार करते हैं। वे दूसरोंसे द्रोह करते हैं और परायी स्त्री, पराये धन तथा परायी निन्दामें आसक्त रहते हैं। वे पामर और पापमय मनुष्य नर-शरीर धारण किये हुए राक्षस ही हैं। वे माता, पिता, गुरु और ब्राह्मण—किसीको नहीं मानते। स्वयं तो नष्ट हुए ही रहते हैं, अपने सङ्गसे दूसरोंको भी नष्ट करते हैं। वे मोहवश दूसरोंसे द्रोह करते हैं। उन्हें न संतोंका सङ्ग अच्छा लगता है, न भगवान्‌की

कथा ही सुहाती है। वे अवगुणोंके समुद्र, मन्दबुद्धि, कामी तथा वेदोंके निन्दक होते हैं और बलपूर्वक पराये धनके स्वामी बन जाते हैं। वे ब्राह्मणोंसे तो द्रोह करते ही हैं, परमात्माके साथ भी विशेषरूपसे द्रोह करते हैं। उनके हृदयमें दम्भ और कपट भरा रहता है, परंतु वे ऊपरसे सुन्दर वेष धारण किये रहते हैं। ऐसे नीच और दुष्ट मनुष्य सत्ययुग और त्रेतामें नहीं होते, द्वापरमें थोड़े होते हैं, किंतु कलियुगमें तो इनके झुंड-के-झुंड होते हैं।'

आगे फिर कलियुगका वर्णन करते हुए पूज्यपाद गोस्वामीजी कहते हैं—

कलि मल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सदग्रंथ।
दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ॥

(राम० उत्तर० ९७ क)

मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥
सोइ सयान जो पर धन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥
× × × ×
निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥
जाकें नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥

असुभ बेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥

(राम० उत्तर० ९७। २-४; ९८ क)

सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥
गुर सिष बधिर अंध का लेखा। एक न सुनइ एक नहिं देखा॥
हरइ सिष्य धन सोक न हरई। सो गुर घोर नरक महुँ परई॥

(राम० उत्तर० ९८। १, ३, ४)

जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा॥
नारि मुई गृह संपति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी॥
ते बिप्रन्ह सन आपु पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं॥
(राम० उत्तर० ९९। ३-४)

'कलियुगके पापोंने सारे धर्मोंको ग्रस लिया, सद्ग्रन्थ लुप्त हो गये, दम्भियोंने अपनी बुद्धिसे कल्पना करके बहुत-से पंथ प्रकट कर दिये। कलियुगमें जिसको जो अच्छा लग जाय, वही मार्ग है। जो डींग मारता है, वही पण्डित है। जो मिथ्या आरम्भ करता (आडम्बर रचता) है और जो दम्भमें रत है, उसीको सब कोई संत कहते हैं। जो जिस किसी प्रकारसे दूसरेका धन हरण कर ले, वही बुद्धिमान् है। जो दम्भ करता है, वही बड़ा आचारी है। जो आचारहीन और वेदमार्गका त्यागी है, कलियुगमें वही ज्ञानी और वही वैराग्यवान् है। जिसके बड़े-बड़े नख और लंबी-लंबी जटाएँ हैं, वही कलियुगमें प्रसिद्ध तपस्वी है। जो अमङ्गल वेष और अमङ्गल भूषण धारण करते हैं और भक्ष्य-अभक्ष्य (खानेयोग्य और न खानेयोग्य)—सब कुछ खा लेते हैं, वे ही योगी हैं, वे ही सिद्ध हैं और वे ही मनुष्य कलियुगमें पूज्य हैं। शूद्र ब्राह्मणोंको ज्ञानोपदेश करते हैं और गलेमें जनेऊ डालकर कुत्सित दान लेते हैं। गुरु और शिष्य क्रमशः अंधे और बहरेके समान होते हैं—एक (शिष्य) गुरुके उपदेशको सुनता नहीं, दूसरा (गुरु) देखता नहीं (ज्ञानदृष्टिसे हीन है)। जो गुरु शिष्यका धन तो हर लेता है, पर शोक नहीं मिटा सकता, वह

घोर नरकमें पड़ता है। तेली, कुम्हार, चाण्डाल, भील, कोल और कलवार आदि जो वर्णमें नीचे हैं, वे स्त्रीके मरनेपर अथवा घरकी सम्पत्ति नष्ट हो जानेपर सिर मुड़ाकर संन्यासी हो जाते हैं। वे अपनेको ब्राह्मणोंसे पुजवाते हैं, जिससे अपने ही हाथों इस लोक और परलोक—दोनोंको नष्ट करते हैं।'

सुना और देखा भी जाता है कि आजकल दम्भीलोग भक्त, साधु, ज्ञानी, योगी और महात्मा सजकर अपने नामका जप और अपने स्वरूपका ध्यान करवाते हैं तथा अपने पैरोंका जल पिलाकर एवं अपनी जूठन खिलाकर अपना और लोगोंका धर्म भ्रष्ट करते हैं। ऐसे दम्भी मनुष्योंसे सब लोगोंको सदा सावधान रहना चाहिये; क्योंकि ऐसे पुरुषोंके सङ्गसे मनुष्यमें दुर्गुण-दुराचारोंकी वृद्धि होती है और परिणामतः उसका पतन हो जाता है। इसके विपरीत जिस पुरुषके दर्शन, भाषण, वार्तालाप और सङ्गसे हमारे अंदर गीताके १६ वें अध्यायके पहलेसे तीसरे श्लोकतक बतलाये हुए सद्गुण सदाचार-रूप दैवी-सम्पदाके लक्षण प्रकट हों और भगवान्‌की भक्तिका उदय हो, उसे दैवी-सम्पदायुक्त उच्चकोटिका साधक भगवद्भक्त समझना चाहिये। ऐसे साधक भक्तोंके लक्षण गीताके ९ वें अध्यायके १३ वें, १४ वें श्लोकोंमें इस प्रकार बतलाये गये हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते

'परंतु हे कुन्तीपुत्र ! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित—अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं। वे दृढनिश्चयी भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्य प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं।'

ऐसे पुरुषोंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सङ्ग करनेसे दैवी-सम्पदाके लक्षणोंका और ईश्वर-भक्तिका प्रादुर्भाव अवश्य ही होना चाहिये। यदि नहीं होता तो समझना चाहिये कि या तो जिस साधक भक्तका हम सङ्ग कर रहे हैं, उसमें कोई कमी है अथवा हममें श्रद्धा-भक्तिकी कमी है।

किंतु यदि ऐसे उच्चकोटिके वीतराग साधकोंका भी सङ्ग न मिले तो सत्-शास्त्रोंका सङ्ग (अध्ययन) करना चाहिये; क्योंकि सत्-शास्त्रोंका सङ्ग भी सत्सङ्ग ही है। श्रुति-स्मृति, गीता, रामायण, भागवत आदि इतिहास-पुराण तथा इसी प्रकारके ज्ञान, वैराग्य और सदाचारसे युक्त अन्य सत्-शास्त्रोंका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक अनुशीलन तथा उनमें कही हुई बातोंको हृदयमें धारण और पालन करनेसे भी मनुष्यका संसारसे वैराग्य और भगवान्‌से प्रेम होता है तथा आगे चलकर वह सच्चा भक्त बन जाता है एवं भगवान्‌को यथार्थरूपसे जानकर उनको प्राप्त हो जाता है।



श्रीमद्भगवद्गीतामें भक्तियोग

श्रीमद्भगवद्गीता समस्त शास्त्रोंका और विशेषकर उपनिषदोंका सार है। स्वयं श्रीवेदव्यासजीने महाभारतके भीष्मपर्वमें कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिस्सृता॥
सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः॥

(४३। १-२)

'केवल गीताका ही भलीभाँति गान (श्रवण, कीर्तन, पठन, पाठन, मनन और धारण) करना चाहिये; अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है; क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ-भगवान्‌के साक्षात् मुख-कमलसे निकली हुई है। गीता सर्वशास्त्रमयी है, श्रीहरि सर्वदेवमय हैं, श्रीगङ्गा सर्वतीर्थमयी है और मनुस्मृति सर्ववेदमयी है।'

इतना ही नहीं, स्वयं भगवान्‌ने भी यह कहा है कि सब शास्त्रोंमें जो बात कही गयी है, वही बात यहाँ तू मुझसे सुन—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥

(गीता १३।४)

'यह तत्त्व ऋषियोंद्वारा बहुत प्रकारसे वर्णन किया गया है और विविध वेदमन्त्रोंद्वारा भी विभागपूर्वक निरूपित है तथा भली

भाँति निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है ।'

अतएव हमलोगोंको गीताका भलीभाँति अध्ययन और मनन करना चाहिये; क्योंकि मनन करनेपर उसमें भरे हुए गोपनीय तत्त्वका पता लगता है । अब यहाँ गीतामें वर्णित भक्तिके विषयमें कुछ विचार किया जाता है—

गीता भक्तिसे ओतप्रोत है । गीतामें कहीं तो भेदोपासनाका वर्णन है और कहीं अभेदोपासनाका । कितने ही सज्जन कहते हैं कि पहले छः अध्यायोंमें कर्मयोगकी, बीचके छः अध्यायोंमें भक्तियोगकी और अन्तके छः अध्यायोंमें ज्ञानयोगकी प्रधानता है । पहले छः अध्यायोंमें कर्मयोग और अन्तिम छः अध्यायोंमें ज्ञानयोगकी प्रधानता तो मानी जा सकती है; किंतु सातवें अध्यायसे बारहवें अध्यायतक तो भक्ति ही भक्ति भरी है; अतः इन सभी अध्यायोंको भक्तियोग ही कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं; क्योंकि इनमेंसे अधिकांशमें तो सगुण-साकार और सगुण-निराकारका ही वर्णन है, किसी-किसी स्थलमें निर्गुण-निराकारकी उपासनाका भी उल्लेख है । इन छहों अध्यायोंमें कुल २०९ श्लोक हैं । इनमें जो एक गोपनीय रहस्यकी बात है, उसका यहाँ दिग्दर्शन कराया जाता है ।

इन सभी श्लोकोंपर भलीभाँति ध्यान देकर देखनेसे पता लगता है कि प्रायः प्रत्येक श्लोकमें ही किसी-न-किसी रूपमें भगवद्वाचक पद आया है । जहाँ भगवान् श्रीकृष्णके वचन हैं, वहाँ तो अहम्,

माम्, मया, मत्तः, मम, मे, मयि और अस्मि आदि पदोंका प्रयोग है एवं अर्जुनके वचनोंमें त्वम्, त्वाम्, त्वया, त्वत्तः, तव, ते, भवान् और असि तथा जनार्दन, पुरुषोत्तम, देव, देवेश, जगन्निवास आदि पदोंका प्रयोग है। इसी प्रकार संजयके वचनोंमें भी स्पष्ट ही हरि, देव, देवदेव, केशव, कृष्ण, वासुदेव आदि भगवद्वाचक शब्द आये हैं। अधिकांश शब्द तो सगुण-साकार और सगुण-निराकारके ही वाचक हैं, पर कितने ही शब्द निर्गुण-निराकारके वाचक भी हैं—जैसे ॐ, अक्षर, अव्यक्त, ब्रह्म आदि।

इन २०९ श्लोकोंमेंसे अधिकांशमें भगवान्‌के द्योतक शब्द ही हैं, केवल इनका दसवाँ अंश अर्थात् २१ श्लोक ऐसे हैं, जिनमें भगवद्वाचक शब्द नहीं हैं। किंतु वे भी भाव और प्रकरणके अनुसार भक्तिसे पृथक् नहीं हैं। इनमेंसे आठवें अध्यायमें ऐसे ९ श्लोक हैं, शेष पाँच अध्यायोंमेंसे प्रत्येकमें दो या तीन श्लोकसे अधिक ऐसे नहीं हैं। पाँचों अध्यायोंमें कुल मिलाकर १२ श्लोक ही ऐसे आये हैं, जिनमें प्रकटरूपमें भगवद्वाचक शब्द नहीं हैं—जैसे सातवें अध्यायका २० वाँ और २७ वाँ; नवें अध्यायका २ रा, १२वाँ और २१वाँ; दसवेंका ४था और २६ वाँ, ग्यारहवेंका ६ठा और १०वाँ एवं बारहवेंका १२वाँ, १३वाँ और १८वाँ।

जिनमें कर्मयोगकी प्रधानता मानी गयी है, उन अध्यायों (१ से ६ तक) में भी कोई भी अध्याय भक्तिके वर्णनसे खाली नहीं है। पहले अध्यायमें संजय और अर्जुनके वचनोंमें माधव, हृषीकेश, अच्युत, कृष्ण, केशव, मधुसूदन, जनार्दन, वार्ष्णेय आदि

भक्तिभावसे ओतप्रोत भगवद्वाचक शब्द आये हैं। दूसरे अध्यायके ६१वें श्लोकमें तो भगवत्-शरणागतिका भाव स्पष्ट ही है—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

'साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण (शरण) होकर ध्यानमें बैठे; क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर होती है।'

इसी प्रकार तीसरे अध्यायके ३०वें श्लोकमें परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सब कर्म भगवान्‌के समर्पण करनेका भाव है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

'मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध कर।'

चौथे अध्यायमें तो स्वयं भगवान् कहते हैं कि मैं साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा हूँ और श्रेष्ठ पुरुषोंके उद्धार, दुष्टोंके विनाश एवं धर्मकी संस्थापनाके लिये समय-समयपर अवतार लेता हूँ—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
(गीता ४।६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त

प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ ।'

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥
(गीता ४ । ८)

'श्रेष्ठ पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ ।'

इसके बाद भगवान्‌ने अपने जन्म और कर्मकी दिव्यता जाननेका महत्त्व बतलाया है । जन्मकी दिव्यता यह कि भगवान्‌का जन्म अलौकिक है, मनुष्योंकी भाँति पुण्य-पापके फलस्वरूप उत्पन्न नहीं है तथा न वे प्रकृतिके परतन्त्र ही हैं । वे केवल उत्पन्न और विनष्ट होते-से दिखायी पड़ते हैं, मनुष्योंकी भाँति जन्मते-मरते नहीं; अतः वास्तवमें उनका जन्म-मरण नहीं होता, केवल प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है । उनका विग्रह रोगशून्य, दोषरहित और चिन्मय होता है । वे अपनेपर मायाका पर्दा डाल लेते हैं, इसलिये उनको कोई पहचान नहीं सकता (गीता ७ । २५) । जो भक्त भगवान्‌के शरण होकर उनको श्रद्धा-प्रेमसे भजता है, वही उनको यथार्थरूपसे जानता है । वे अपनी इच्छासे प्रकृतिको वशमें करके स्वयं अजन्मा और अविनाशी रहते हुए ही श्रेष्ठ पुरुषोंके कल्याण और धर्मके प्रचारके लिये अपनी योगमायासे प्रकट होते हैं (गीता ४ । ६, ८) । यह उनके जन्मकी दिव्यता है । तथा कर्मकी दिव्यता यह है कि उनकी सारी चेष्टाएँ अभिमान, आसक्ति और

कामनासे रहित एवं केवल संसारके कल्याणके लिये ही होती हैं (गीता ४ । १३-१४)। इसलिये उनके कर्म दिव्य हैं। इस प्रकार समझकर इस समझको काममें लाना ही भगवान्‌के जन्म और कर्मकी दिव्यताका तत्त्व-रहस्य जानना है।

इस चौथे अध्यायमें भगवान्‌ने अपनी भक्तिकी महिमामें यहाँतक कह दिया कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
(गीता ४ । ११ का पूर्वार्ध)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

पाँचवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें तो भगवान्‌ने अपने स्वरूप, प्रभाव और गुणोंका तत्त्व जाननेका फल परम शान्तिकी प्राप्ति बतलाया ही है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥
(गीता ५ । २९)

'मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित, दयालु और प्रेमी तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

यहाँ यह प्रश्न होता है कि इस प्रकार जो भगवान्‌को यज्ञ-तपोंका भोक्ता, समस्त लोकोंका महेश्वर तथा समस्त प्राणियोंका सुहृद्—इन तीनों लक्षणोंसे युक्त जानता है, वही शान्तिको प्राप्त

होता है या इनमेंसे किसी एकसे युक्त जाननेवालेको भी शान्ति मिल जाती है। इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌को उपर्युक्त लक्षणोंमेंसे किसी एक लक्षणसे युक्त जाननेवालेको भी शान्ति मिल जाती है; फिर तीनों लक्षणोंसे युक्त जाननेवालेको शान्ति मिल जाय, इसमें तो कहना ही क्या है!

यहाँ भगवान्‌को यज्ञ और तपोंका भोक्ता कहनेका अभिप्राय यह है कि यज्ञ, दान, तप आदि जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं, उन सबका पर्यवसान परमात्मामें ही होता है। जैसे आकाशसे बरसा हुआ जल समुद्रमें प्रवेश कर जाता है, वैसे ही सारे कर्म परमात्मामें ही समाविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार जानकर नवें अध्यायके २७ वें, २८ वें श्लोकोंमें वर्णित भगवदर्पण-बुद्धिसे कर्म करनेवाला पुरुष परमशान्तिस्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है। भाव यह है कि पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, मनुष्य, देवता आदि सभी प्राणियोंमें भगवान् विराजमान हैं; अतः उनकी सेवा-पूजा ही भगवान्‌की सेवा-पूजा है (गीता १८।४६)—यों समझकर सबकी भगवद्भावसे सेवा करनी चाहिये। जो इस प्रकार सबकी सेवा करता है, वह सेवा करते समय अर्थात् अतिथिको भोजन, गायको घास, कौए आदिको अन्न एवं वृक्षोंको जल प्रदान करते समय यही समझता है कि भगवान् ही अतिथिके रूपमें भोजन कर रहे हैं, वे ही गायके रूपमें घास खा रहे हैं, वे ही कौए आदिके रूपमें अन्न ग्रहण कर रहे हैं और वे ही वृक्षके रूपमें जल पी रहे हैं। इस प्रकारके भावसे भावित होकर सबकी निष्काम सेवा करना

ही तत्त्वसे भगवान्‌को यज्ञ-तपोंका भोक्ता जानना है और ऐसा जाननेवाला मनुष्य परमशान्तिको प्राप्त होता है ।

भगवान्‌को सर्वलोकमहेश्वर जाननेका अभिप्राय यह है कि भगवान् सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंके भी महान् ईश्वर हैं । वे ही समस्त संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हुए सबको नियन्त्रणमें रखते हैं; इसलिये उनको परमात्मा, पुरुषोत्तम आदि नामोंसे कहा गया है (गीता १५ । १७-१८) । जो उन परमात्माको क्षर-अक्षरसे तथा सम्पूर्ण प्राणियों और पदार्थोंसे श्रेष्ठ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सर्वनियन्ता, सर्वाध्यक्ष और सर्वेश्वर समझ लेता है, वह फिर उन परमात्माको छोड़कर अन्य किसीको भी कैसे भज सकता है । स्त्री, पुत्र, धन आदि सांसारिक पदार्थोंसे न तो वह प्रेम करता है और न उनका चिन्तन ही करता है । वह तो सब प्रकारसे श्रद्धा, भक्ति और निष्कामभावपूर्वक नित्य-निरन्तर भगवान्‌का ही भजन-ध्यान करता है (गीता १५ । १९) । अतः उपर्युक्त प्रकारसे समझना ही भगवान्‌को तत्त्वसे सर्वलोकमहेश्वर जानना है और इस प्रकार जाननेवाला मनुष्य परमशान्तिको प्राप्त होता है ।

भगवान्‌को सब भूतोंका सुहृद् जाननेका भाव यह है कि भगवान्‌की प्रत्येक क्रियामें जगत्‌का हित और प्रेम भरा रहता है । उनका कोई भी विधान दया और प्रेमसे शून्य नहीं होता । इसीलिये भगवान् सब भूतोंके सुहृद् हैं । जो पुरुष इस रहस्यको जान लेता है, वह फिर प्रत्येक अवस्थामें जो कुछ भी होता है, उसको परम दयालु परम प्रेमी परमेश्वरका दया और प्रेमसे ओत-प्रोत मङ्गल-

मय विधान समझकर सदा ही प्रसन्न रहता है तथा भगवान्‌का अनुयायी और परम प्रेमी बन जाता है । उसमें भी सुहृदताका भाव आ जाता है अर्थात् वह भी सबपर हेतुरहित दया करनेवाला और सबका प्रेमी हो जाता है। उसमें द्वेषभावका नाश होकर क्षमा और समता आदि गुण स्वाभाविक ही आ जाते हैं तथा उसके मन और बुद्धिका स्वाभाविक ही भगवान्‌में समावेश हो जाता है । इस प्रकार उसमें गीताके बारहवें अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक वर्णित भक्तके सभी लक्षण आ जाते हैं । इसलिये वह परमशान्तिको पा लेता है ।

छठे अध्यायमें ११वेंसे १३वें श्लोकतक आसनकी विधि बतलाकर १४ वें श्लोकमें भगवान्‌ने अपने सगुण स्वरूपका ध्यान[1] करते हुए शरण होनेके लिये कहा है । वे कहते हैं—

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥

'ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शान्त अन्त:करणवाला सावधान योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित होवे ।'

तथा इसी अध्यायके ३० वें श्लोकमें सर्वत्र भगवान्‌को देखनेका यह माहात्म्य बतलाया गया है कि सर्वत्र भगवान्‌को देखनेवाला मेरी दृष्टिसे ओझल नहीं होता है और मैं उसकी दृष्टिसे ओझल नहीं होता हूँ ।

---

१. सगुण-साकारके ध्यानके विषयमें विस्तारसे जानना हो तो इस श्लोककी गीताप्रेससे प्रकाशित तत्त्व-विवेचनी टीका देख सकते हैं ।

इसी प्रकार इस अध्यायके ३१वें और ४७वें श्लोकोंमें भी भक्तिका भाव सर्वथा ओत-प्रोत है। अतः समझना चाहिये कि कर्मयोगप्रधान कहे जानेवाले अध्यायोंमें भी कोई भी अध्याय भक्तिसे शून्य नहीं है।

इसी तरह जिन (१३ वेंसे १८ वेंतक) छः अध्यायोंमें ज्ञानयोगकी प्रधानता बतलायी जाती है, उनमें भी कोई-सा भी अध्याय भक्तियोगके वर्णनसे खाली नहीं है। उदाहरणके लिये तेरहवें अध्यायमें ज्ञानके साधन बतलाते हुए कहा गया है—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
(गीता १३ । १०)

'मुझ परमेश्वरमें अनन्ययोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति (भी ज्ञानका साधन है)।'

चौदहवें अध्यायमें गुणातीत होनेका उपाय बतलाते हुए भी स्वयं भगवान् कहते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
(गीता १४ । २६)

'जो पुरुष अव्यभिचारी (अनन्य) भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है, वह भी इन तीनों गुणोंको भलीभाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्तिके योग्य बन जाता है।'

यहाँ अनन्यभक्तिको गुणोंसे अतीत होनेका उपाय बतलाया गया है।

पंद्रहवें अध्यायमें परमपदकी प्राप्तिका उपाय तीव्र वैराग्यके द्वारा

संसाररूप वृक्षको काटकर भगवान्‌के शरण होना बतलाया गया है। भगवान् कहते हैं—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

(गीता १५।४)

'दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा संसार-वृक्षका छेदन करनेके पश्चात् उस परमपदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जहाँ गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते; और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसार-वृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदि-पुरुष नारायणके मैं शरण हूँ—इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये।'

तथा १६ वें श्लोकसे क्षर और अक्षरका वर्णन करके जिसे परमात्मा, ईश्वर और पुरुषोत्तम आदि नामोंसे निरूपित किया गया है, उस परमतत्त्वको वास्तविक रूपमें जाननेवालेकी कसौटी 'सब प्रकारसे भजना' ही बताया गया है—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५।१९)

'हे भारत! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जान लेता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।'

सोलहवें अध्यायके पहले श्लोकमें दैवी सम्पदाके लक्षण बतलाते हुए कहा गया है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।

'निर्भयता, अन्तःकरणकी शुद्धि और ज्ञानयोगमें स्थिति (—ये दैवी सम्पदाके प्रधान लक्षण हैं)।'

यहाँ 'ज्ञानयोगव्यवस्थितिः' का अर्थ तत्त्वज्ञानके लिये परमात्माके ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति किया जाता है, जो भक्तिभावका ही द्योतक है।

सत्रहवें अध्यायमें २३ वें से २६ वें श्लोकतक परमात्माके ॐ, तत्, सत्—ये तीन नाम बतलाकर इनका किस प्रकार प्रयोग करनेसे कल्याण होता है, इसका स्पष्टतया वर्णन किया गया है।

अठारहवें अध्यायकी तो बात ही क्या है! उसका तो भगवान्ने शरणागतिमें ही उपसंहार किया है। वहाँ कर्मयोगके प्रकरणमें भी भक्तिका वर्णन है। भगवान् कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

तथा ज्ञानयोगके प्रकरणमें भी भक्ति (उपासना) की आवश्यकता बतलायी है।

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
(गीता १८। ५२ का उत्तरार्ध)

'दृढ़ वैराग्यका आश्रय ले नित्य-निरन्तर परमात्माके ध्यानरूप योगके परायण रहनेवाला पुरुष (ब्रह्मप्राप्तिके योग्य होता है) ।'

एकान्तवास और ध्यानयोगपूर्वक ज्ञाननिष्ठाके द्वारा जिस परमपदकी प्राप्ति होती है, उसी परमपदकी प्राप्ति मनुष्यको गोपियोंकी भाँति * सदा-सर्वदा भगवान्‌के शरण होकर अपने कर्तव्य कर्मोंको करते हुए भी होती हैं । भगवान् कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥

(गीता १८ । ५६)

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता

---

* भक्तिमती गोपियाँ किस प्रकार भक्ति करती हुई सब कार्य किया करती थीं, इसका वर्णन श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके ४४ वें अध्यायके १५ वें श्लोकमें इस प्रकार मिलता है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही विलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देना आदि काम-काज करते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णके नाम और गुणोंका गान किया करती हैं, इस प्रकार सदा श्रीकृष्णके स्वरूपमें ही चित्त लगाये रखनेवाली वे व्रजवासिनी गोपियाँ धन्य हैं ।'

हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है ।'

इस प्रकार भगवान्‌ने अपनी शरणागतिरूप भक्तिका माहात्म्य बतलाकर अर्जुनको सब प्रकारसे अपनी शरण ग्रहण करनेका आदेश दिया है—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि ।
(गीता १८ । ५७; ५८ का पूर्वार्ध)

'सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगका अवलम्बन करके मेरे परायण हो जा और निरन्तर मुझमें चित्तको लगाये रह । इस प्रकार मुझमें चित्त लगाये रहकर तू मेरी कृपासे समस्त संकटोंको अनायास ही पार कर जायगा ।'

यहाँ भगवान्‌ने अपने सगुण-साकार स्वरूपकी भक्तिके लक्षणोंका वर्णन करके, अर्जुनको अपनी शरणमें आनेकी आज्ञा देकर उसका महत्त्व बतलाया है । यद्यपि सगुण-निराकारकी शरणका भी फल परम शान्ति और शाश्वत पदकी प्राप्ति है; किंतु उसे गुह्यतर ही कहा गया है, गुह्यतम नहीं । भगवान् कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।
(गीता १८ । ६२; ६३ का पूर्वार्ध)

'हे भारत ! तू सब प्रकारसे उस सर्वव्यापी परमेश्वरकी

शरणमें चला जा। उस परमात्माकी कृपासे तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा। इस प्रकार यह गुह्यसे भी गुह्यतर ज्ञान मैंने तुझसे कह दिया।'

भगवान्‌ने गुह्यतम तो अपनी शरणागतिरूप भक्तिको ही बतलाया है—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६४—६६)

'सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अतिगोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा। तू मुझमें मन लगा दे, मेरा भक्त बन जा, मेरा पूजन कर और मुझको प्रणाम कर। यों करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है। सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्याग करके यानी अर्पण करके तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

इसे सर्वगुह्यतम कहनेका अभिप्राय यह है कि ६२ वें और ६३ वें श्लोकोंमें तो सर्वव्यापी निराकार परमात्माके शरण जानेको

गुह्यतर ही कहा है, किंतु यहाँ स्वयं भगवान् प्रकट होकर अपना परिचय देते हुए कहते हैं कि 'मैं ही साक्षात् परमात्मा हूँ, तू मेरी शरणमें आ जा ।' इस प्रकार प्रकट होकर अपना परिचय देना अर्जुन-जैसे अपने अत्यन्त प्रेमी भक्तके सामने ही सम्भव है । दूसरोंसे यह नहीं कहा जा सकता कि 'मैं ही साक्षात् परमात्मा हूँ, तुम मेरी शरणमें आ जाओ ।'

यहाँ ६४वें श्लोकमें 'तू मेरा सर्वगुह्यतम श्रेष्ठ वचन फिर भी सुन' कहकर भगवान्‌ने पहले नवें अध्यायके ३४ वें श्लोकमें कहे हुए वचनकी ओर संकेत किया है । वहाँ ३२ वें श्लोकमें तो शरणागतिका माहात्म्य है और ३४ वें श्लोकमें उसका स्वरूप है। उसे भी गुह्यतम कहा है । नवें अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें 'अनसूयवे' पदसे अर्जुनको उसका परम अधिकारी मानकर और गुह्यतम रहस्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके गुह्यतम, राजगुह्य आदि शब्दोंका प्रयोग करते हुए जिस शरणागतिरूप भक्तिकी बात कहनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसीका पूरे अध्यायमें वर्णन किया एवं अन्तमें ३४वें श्लोकमें शरणागतिका स्पष्ट उल्लेख करते हुए ही अध्यायकी समाप्ति की है । भगवान् कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

(गीता ९ । ३४)

'मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन कर और मुझको प्रणाम कर । इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा ।'

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यहाँ बतलाये हुए शरणागतिरूप भक्तिके चारों साधनोंमेंसे एक साधनके अनुष्ठानसे ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है या चारोंके। इसका उत्तर यह है कि एकके अनुष्ठानसे ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है; फिर चारोंके अनुष्ठानसे हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है!

केवल 'मन्मना भव'—भगवान्‌में मन लगानेके साधनसे ही भगवत्प्राप्तिका कथन इसी अध्यायके २२ वें श्लोकसे समझना चाहिये। भगवान्‌ने कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।'

यहाँ अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' और प्राप्तकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है। अतः भगवान्‌की प्राप्तिके लिये जो साधन उन्हें प्राप्त है, सब प्रकारके विघ्न-बाधाओंसे बचाकर उसकी रक्षा करना और जिस साधनकी कमी है, उसकी पूर्ति करके स्वयं अपनी प्राप्ति करा देना ही उन प्रेमी भक्तोंका योगक्षेम वहन करना है।

भक्तिमार्गमें यह एक विशेषता है कि साधक भक्तके किये हुए साधनकी रक्षा और उसके साधनकी कमीकी पूर्ति भी भगवान् कर देते हैं। यहाँ रक्षा करनेका यह अभिप्राय है कि यदि कोई भक्त भगवान्‌से कोई सांसारिक वस्तु माँगता है तो भगवान् उसके माँगनेपर

भी यदि उससे उसका अहित समझते हैं तो वह वस्तु उसे नहीं देते। जैसे नारदजीने भगवान्‌से हरिका रूप माँगा था, किंतु उसमें उनका अहित समझकर 'हरि' शब्दका अर्थ बंदर भी होनेके कारण भगवान्‌ने उनको बंदरका रूप दे दिया और इसके परिणामस्वरूप उनके शापको भी भगवान्‌ने स्वीकार कर लिया; परंतु अपने भक्तको कञ्चन और कामिनीसे उसी प्रकार बचा लिया, जिस प्रकार एक हितैषी सद्वैद्य रोगीको कुपथ्यसे बचा लेता है।

केवल 'मद्भक्तो भव'—भगवान्‌की भक्तिके साधनसे भगवान्‌की प्राप्ति इसी अध्यायके ३० वें और ३१ वें श्लोकोंमें बतलायी गयी है।

केवल 'मद्याजी भव'—भगवान्‌की पूजासे भगवत्प्राप्तिकी बात इसी अध्यायके २६ वें श्लोकसे समझनी चाहिये। भगवान् कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

यहाँ भी यह जिज्ञासा होती है कि इस श्लोकमें पत्र, पुष्प, फल, जल—इन चार पदार्थोंके अर्पणकी बात कही गयी है, अतः इन चारोंके समर्पणसे भगवान् प्रकट होकर उसकी भेंट स्वीकार

करते हैं या एकके समर्पणसे भी । इसका उत्तर यह है कि प्रेमपूर्वक एकके समर्पणसे भी भगवान् उसे स्वीकार कर लेते हैं; क्योंकि इसमें क्रियाओं और पदार्थोंकी प्रधानता नहीं है, प्रेमकी प्रधानता है । प्रेम होनेसे चारोंमेंसे एकको अर्पण करनेपर भी उसे भगवान् स्वीकार कर लेते हैं । जैसे—द्रौपदी[1]के केवल पत्ती अर्पण करनेसे, गजेन्द्र[2]के केवल पुष्प भेंट करनेसे, भीलनी[3]के केवल फल अर्पण करनेसे और राजा रन्तिदेव[4]के केवल जल अर्पण करनेसे ही भगवान्‌ने प्रकट होकर उनके दिये हुए पदार्थको ग्रहण किया था । इस प्रकार ये सभी एक-एक पदार्थके अर्पण करनेसे ही भगवान्‌को प्राप्त हो गये । तब फिर सब प्रकारसे भक्तिपूर्वक भगवान्‌की पूजा करनेवालेको भगवान् मिल जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है !

इसी प्रकार केवल 'नमस्कुरु'—नमस्कार करनेसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है, किंतु गीतामें भगवान्‌ने नमस्कारके साथ कीर्तन आदि भक्तिके अन्य अङ्गोंका भी समावेश कर दिया है—

---

१. द्रौपदीकी यह कथा महाभारत, वनपर्वके २६३ वें अध्यायमें देख सकते हैं ।

२. गजेन्द्रकी कथा श्रीमद्भागवतके अष्टम स्कन्धके दूसरे, तीसरे अध्यायोंमें देख सकते हैं ।

३. भीलनीकी कथा श्रीरामचरितमानसके अरण्यकाण्डमें देख सकते हैं।

४. महाराज रन्तिदेवकी कथा श्रीमद्भागवतके नवम स्कन्धके २१वें अध्यायमें देख सकते हैं ।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥
(गीता ९ । १४)

'वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्यप्रेमसे मेरी उपासना करते हैं ।'

महाभारतके शान्तिपर्वमें तो केवल नमस्कारमात्रसे भी संसारसे उद्धार होना बतलाया गया है—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः ।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥
(महा० शान्ति० ४७ । ९२)

'भगवान् श्रीकृष्णको एक बार भी किया हुआ प्रणाम दस अश्वमेधयज्ञोंके अन्तमें किये जानेवाले अवभृथस्नानके समान होता है । इतना ही नहीं, दस अश्वमेधयज्ञ करनेवाला तो उनके फलको भोगकर पुनः संसारमें जन्म लेता है, किंतु भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करनेवाला पुनः संसारमें जन्म नहीं लेता ।'

ऊपर बतलाया जा चुका है कि नवें अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें भगवान्‌ने अपनी भक्तिको सबसे गुह्यतम, राजगुह्य और विज्ञानसहित ज्ञान बतलाकर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है एवं उसको बहुत ही उत्तम और सुगम बतलाया है । ऐसा सुगम साधन होनेपर भी सभी मनुष्य उसमें नहीं लगते, इसमें श्रद्धाका न होना ही कारण है । भगवान् कहते हैं—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥
(गीता ९ । ३)

'हे परंतप! उपर्युक्त धर्ममें श्रद्धा न रखनेवाले पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसार-चक्रमें भ्रमण करते रहते हैं।'

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जिसकी भक्तिके साधनमें श्रद्धा नहीं, उसका संसारमें यानी चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करना तो सर्वथा सम्भव है, पर यहाँ उसके साथ ही 'मुझे न प्राप्त होकर' कहनेकी क्या आवश्यकता है, जब कि उसे भगवान्‌के प्राप्त होनेकी कोई सम्भावना ही नहीं। इसका उत्तर यह है कि 'मुझे न प्राप्त होकर' कथनसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यमात्रका परमात्माकी प्राप्तिमें जन्मसिद्ध अधिकार है। जैसे राजाके पुत्रका उस राज्यपर जन्मसिद्ध स्वाभाविक अधिकार होते हुए भी पितामें श्रद्धा-भक्ति न होनेके कारण वह उस राज्यसे वञ्चित किया जाय तो कोई दोषकी बात नहीं होती, उसी प्रकार भगवान्‌की प्राप्तिमें मनुष्यका जन्मसिद्ध अधिकार होते हुए भी भगवान्‌में श्रद्धा, भक्ति, प्रेम न होनेके कारण कोई उससे वञ्चित रह जाय तो अनुचित नहीं कहा जा सकता।

इसलिये मनुष्यको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करना चाहिये; क्योंकि उठते-बैठते, सोते-जागते, हर समय भगवान्‌का स्मरण करना सर्वोत्तम है। हर समय भगवान्‌का स्मरण करनेसे अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण स्वाभाविक ही हो जाता है और अन्तकालके स्मरणका बड़ा भारी महत्त्व है। भगवान् कहते हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥

(गीता ८ । ५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर यहाँसे जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।'

यदि कहें कि भगवान्का स्मरण करते हुए मरनेवालेका तो भगवान् उद्धार कर देते हैं और जो उन्हें स्मरण नहीं करता, उसका उद्धार नहीं करते तो क्या भगवान् भी अपना मान-बड़ाई करनेवालेका ही पक्ष रखते हैं, तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि भगवान्ने यह नियम बनाया है कि मृत्युके समय जो मनुष्य पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, मनुष्य, देवता, पितर आदि किसी भी स्वरूपका चिन्तन करता हुआ मरता है, वह उसी-उसीको प्राप्त होता है (गीता ८ । ६) । इस न्यायसे भगवान्को स्मरण करते हुए मरनेवाला भगवान्को प्राप्त होता है । अतः उपर्युक्त कथनसे भगवान्में पक्षपात या विषमताका कोई दोष नहीं आता । भगवान्ने स्वयं कहा भी है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

(गीता ९ । २९)

"मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ ।'

श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसके किष्किन्धाकाण्डमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भी भक्त हनुमान्‌के प्रति कहा है—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ॥

(२।४)

यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि 'भगवान् जब समदर्शी होकर भी अपना भजन करनेवालेके लिये ही यह कहते हैं कि वह मेरे हृदयमें है और मैं उसके हृदयमें हूँ, तब क्या यह विषमता नहीं है।' इसका उत्तर यह है कि सूर्य सबके ऊपर समानभावसे प्रकाश डालते हैं, पर दर्पणमें उनका प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता है, काष्ठ आदिमें नहीं; और सूर्यमुखी शीशा तो सूर्यकी किरणोंको खींचकर रूई, कपड़ा आदिको भस्म भी कर डालता है। यह उस पदार्थकी ही विशेषता है, इसमें सूर्यमें कोई विषमता नहीं है। वैसे ही भगवान्‌के भक्तके प्रेमकी ही उपर्युक्त विशेषता है, उससे भगवान्‌में विषमताका कोई दोष नहीं आता।

इसलिये हर समय भगवान्‌के नाम और रूपका स्मरण करना चाहिये; क्योंकि शरीरका कोई भरोसा नहीं है; पता नहीं कब प्राण चले जायँ। हर समय स्मरण करनेवाले भक्तको अन्तकालमें भगवान्‌की स्मृति स्वाभाविक हो ही जाती है। जो पुरुष नित्य-निरन्तर परम दिव्य पुरुष परमात्माका चिन्तन करता रहता है, वह भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण करता हुआ उस परम दिव्य पुरुष परमात्माको पा लेता है तथा जो इन्द्रियों और मनको सब ओरसे रोककर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक परमात्माके नामका उच्चारण और उनके स्वरूपका ध्यान करता हुआ शरीर छोड़कर

जाता है, वह निश्चय ही परम गतिको प्राप्त हो जाता है (गीता ८ । ८—१३) । *

अतएव ज्ञानयोग, ध्यानयोग, अष्टाङ्गयोग, कर्मयोग आदि जितने भी भगवत्प्राप्तिके साधन हैं, उन सबमें भगवद्भक्ति सर्वोत्तम है । भगवान्‌ने छठे अध्यायके ४७ वें श्लोकमें बतलाया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है ।'

इसी प्रकार अर्जुनके पूछनेपर बारहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें भी भगवान्‌ने अपने भक्तोंको सबसे उत्तम बतलाकर भक्तिका महत्त्व प्रदर्शित किया है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥

'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं ।'

भक्ति सुगम होनेसे उत्तम है, इतनी ही बात नहीं है; भक्तिके

---

* इस विषयका विस्तार देखना हो तो गीता-तत्त्व-विवेचनी टीकामें आठवें अध्यायके ८वेंसे १३वें श्लोकतककी टीका पढ़ सकते हैं ।

मार्गमें यह विशेषता है कि भक्त अपने नेत्रोंद्वारा भगवान्‌को देख सकता है (गीता ११ । ५४) तथा भक्तके द्वारा प्रेमपूर्वक अर्पण किये हुए पत्र-पुष्प-फलादिको भगवान् प्रत्यक्ष प्रकट होकर खाते हैं (गीता ९ । २६) । यह बात ज्ञानयोग, अष्टाङ्गयोग या कर्मयोगसे सम्भव नहीं । इसलिये भक्तिको सर्वोत्तम कहना शास्त्र-संगत और युक्ति-युक्त है ।

इसके सिवा, अनन्य चित्तसे नित्य-निरन्तर स्मरण करनेवालेको भगवान् अनायास ही मिल जाते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(गीता ८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

अनन्य-चिन्तन करनेवाले भक्तको सहज ही भगवान् मिल जाते हैं—इतना ही नहीं; उसका भगवान् संसार-समुद्रसे शीघ्र ही उद्धार भी कर देते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
(गीता १२ । ६-७)

'जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें

अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे अर्जुन ! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ अर्थात् मैं उनका उद्धार कर देता हूँ।'

अतएव हमलोगोंको अनन्य भक्तियोगके द्वारा नित्य-निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करते हुए उनकी उपासना करनी चाहिये। संसारमें एक परमेश्वरके सिवा मेरा कोई परम हितैषी नहीं है, वे ही मेरे सर्वस्व हैं—यह समझकर जो भगवान्‌के प्रति अत्यन्त श्रद्धासे युक्त प्रेम किया जाता है—जिस प्रेममें स्वार्थ और अभिमानका जरा भी दोष नहीं है, जो सर्वथा पूर्ण और अटल है, जिसका जरा-सा अंश भी भगवान्‌से भिन्न वस्तुमें नहीं है और जिसके कारण क्षणमात्रके लिये भी भगवान्‌का विस्मरण असह्य हो जाता है—उसे 'अनन्य भक्ति' कहते हैं। ऐसे अनन्य भक्तियोगके द्वारा नित्य-निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करते हुए उनके गुण, प्रभाव और चरित्रोंका श्रवण-कीर्तन करना एवं उनके परम पावन नामोंका उच्चारण और जप करना ही अनन्य भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌का चिन्तन करते हुए उनकी उपासना करना है। इस प्रकारके अनन्य भक्तका भगवान् तत्काल ही उद्धार कर देते हैं।

चाहे मनुष्य कितना भी पापी क्यों न हो, भक्तिके प्रभावसे उसके सम्पूर्ण पापोंका नाश ही नहीं हो जाता अपितु वह परम धर्मात्मा बन जाता है और फिर उसे परम शान्ति मिल जाती है। गीताके नवें अध्यायके ३०वें, ३१वें श्लोकोंमें भगवान् कहते हैं—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि उसका निश्चय यथार्थ है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर और उनके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

संसार-सागरसे जीवका उद्धार होना बहुत ही कठिन है, किंतु भगवान्‌की शरणसे यह कठिन कार्य भी सुसाध्य हो जाता है। भगवान्‌ने कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

(गीता ७ । १४)

'क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है; परंतु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको लाँघ जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।'

भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे भगवान्‌का यथार्थ ज्ञान भी

हो जाता है और ज्ञानके साथ ही भगवान् भी उसे मिल जाते हैं। भगवान् स्वयं अपने उस अनन्यभक्तको वह ज्ञान प्रदान कर देते हैं, जिससे उसे उनकी प्राप्ति अनायास ही हो जाती है। भगवान् कहते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०। ८—१०)

'मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सम्पूर्ण जगत् चेष्टा करता है—इस प्रकार समझकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं। वे निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे तत्त्व, रहस्य और प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

बात यह है कि जो मनुष्य भगवान्के स्वरूप और प्रभावको तत्त्वसे जान लेता है, वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर परमात्माको

प्राप्त हो जाता है (गीता १० । ३, ८) । भगवान्‌के स्वरूप और प्रभावका वर्णन गीताके सातवें अध्यायके ७वेंसे १२वें श्लोकतक, नवें अध्यायके १७वें, १८वें और १९वेंमें एवं पंद्रहवें अध्यायके १२वेंसे १५वें श्लोकतक तथा और भी अनेक स्थलोंमें किया गया है । उन सबका सार भगवान्‌ने दसवें अध्यायके ४१ वें, ४२वें श्लोकोंमें बतलाया है । वे कहते हैं—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत् तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम् ॥
(गीता १० । ४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके एक अंशकी ही अभिव्यक्ति (प्राकट्य) जान ।'

भाव यह है कि दसवें अध्यायके ४थे श्लोकसे ६ठेतक तथा १९वें श्लोकसे ४०वेंतक तथा गीताके अन्यान्य स्थलोंमें जो कुछ भी विभूतियाँ बतलायी गयी हैं एवं समस्त संसारके जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम सम्पूर्ण पदार्थोंमें जो भी बल, बुद्धि, तेज, गुण, प्रभाव आदि प्रतीत होते हैं, वे सब-के-सब मिलकर भी भगवान्‌के प्रभावके एक अंशमात्रका ही प्रादुर्भाव हैं ।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥
(गीता १० । ४२)

'अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है ।

मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी योगमायाके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

जैसे जलका बुद्बुदा समुद्रका एक अंशमात्र है, वैसे ही सम्पूर्ण गुण और प्रभावसहित सारा ब्रह्माण्ड परमात्माके किसी एक अंशमें है—इस प्रकार समझकर जो दसवें अध्यायके उपर्युक्त ८वें, ९वें और १०वें श्लोकोंके अनुसार परमात्माकी उपासना करता है, वह अनायास ही परमात्माको पा लेता है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह बात सिद्ध हो गयी कि भगवान्की भक्ति ज्ञानयोग, अष्टाङ्गयोग, कर्मयोग आदि सभी साधनोंकी अपेक्षा उत्तम, सुगम और सुलभ है—इतना ही नहीं, भक्तिसे शीघ्र ही सारे पापोंका नाश होकर भगवान्के स्वरूपका ज्ञान हो जाता है और मनुष्य इस दुस्तर संसार-समुद्रसे तरकर भगवान्का दर्शन पा लेता है एवं भगवान्को तत्त्वसे जानकर उनमें प्रवेश भी कर सकता है। भगवान्ने कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(गीता ११। ५४)

'हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

यों तो ज्ञानयोगके द्वारा भी पापोंका नाश होकर परमात्माका ज्ञान और परम शान्तिकी प्राप्ति हो सकती है (गीता ४। ३४—

३६, ३९), किंतु उससे सगुण-साकार भगवान्‌का साक्षात् दर्शन नहीं होता। अनन्य भक्तिसे तो परमात्माका ज्ञान और परमात्माकी प्राप्ति यानी परमात्मामें एकीभावसे प्रवेश होनेके अतिरिक्त उनका साक्षात् दर्शन भी सम्भव है। इसलिये भगवान्‌की अनन्य भक्तिका मार्ग सर्वोत्तम है।

यहाँ उस अनन्य भक्तिका स्वरूप जाननेके लिये अनन्य भक्तके लक्षण बतलाते हैं—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(गीता ११। ५५)

'हे अर्जुन! जो पुरुष सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको केवल मेरे लिये ही करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्राप्त होता है।'

यदि कहें कि 'इस श्लोकमें जो भगवान्‌के लिये कर्म करना, भगवान्‌के परायण होना और भगवान्‌का भक्त होना—ये तीन बातें बतलायी गयी हैं, इन तीनोंके अनुष्ठानसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है या एकके अनुष्ठानसे भी', तो इसका उत्तर यह है कि इन तीनोंके अनुष्ठानसे भगवत्प्राप्ति हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है, किसी एकके अनुष्ठानसे भी हो सकती है। केवल भगवदर्थ कर्म करनेसे भी मनुष्यको भगवत्प्राप्तिरूप सिद्धि प्राप्त होनेकी

बात भगवान्‌ने गीताके बारहवें अध्यायके १० वें श्लोकमें बतलायी है—

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥

'हे अर्जुन ! तू मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा ।'

तथा केवल भगवान्‌के परायण होनेसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है । भगवान्‌ने कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
(गीता ९ । ३२)

'हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं ।'

एवं केवल भगवान्‌की भक्तिसे भी भगवत्प्राप्ति हो जाती है—

देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥
(गीता ७ । २३ का उत्तरार्ध)

'देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त—चाहे जैसे ही मुझे भजें, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।'

ऐसे भक्त चार प्रकारके होते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
(गीता ७ । १६)

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! उत्तम कर्म करनेवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं ।'

इन चारोंमें अर्थार्थी भक्तसे आर्त, आर्तसे जिज्ञासु और जिज्ञासुसे ज्ञानी (निष्काम) श्रेष्ठ है । अर्थार्थी भक्तसे आर्त इसलिये श्रेष्ठ है कि वह स्त्री, पुत्र, धन आदिकी तो बात ही क्या, राज्य-भोग भी भगवान्से नहीं चाहता—जैसे ध्रुव[1]ने चाहा था; परंतु द्रौपदी[2]की भाँति किसी बड़े भारी सांसारिक संकटके प्राप्त होनेपर उसके निवारणके लिये याचना करता है । पर जिज्ञासु तो सांसारिक भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी उस संकटकी निवृत्तिके लिये प्रार्थना नहीं करता, वरं भक्त उद्धव[3]की भाँति संसार-सागरसे आत्मा-का उद्धार करनेके लिये परमात्माको तत्त्वसे जाननेकी ही इच्छा करता है । इसलिये आर्तसे भी जिज्ञासु श्रेष्ठ है; किंतु भक्त प्रह्लाद[4]की भाँति निष्काम ज्ञानी भक्त तो अपनी मुक्तिके लिये भी

---

१. भक्त ध्रुवका प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत, चतुर्थ स्कन्धके ८ वें, ९ वें अध्यायोंमें देख सकते हैं ।

२. द्रौपदीका यह प्रसङ्ग महाभारत, सभापर्वके ६८ वें अध्यायमें पढ़ सकते हैं ।

३. भक्त उद्धवका प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत, एकादश स्कन्धके सातवेंसे उन्तीसवें अध्यायतक देख सकते हैं ।

४. भक्त प्रह्लादका प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत, सप्तम स्कन्धके ४ थेसे १० वें अध्यायतक देख सकते हैं ।

याचना नहीं करता। इसलिये भगवान्‌ने निष्काम ज्ञानी भक्तको सबसे बढ़कर बतलाया है।

इन चारोंमें ज्ञानी भक्त भगवान्‌को अतिशय प्रिय है; क्योंकि ज्ञानीको भगवान् अतिशय प्रिय हैं। सातवें अध्यायके १७वें श्लोकमें भगवान् स्वयं कहते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेम-भक्तियुक्त ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझे तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ, अतः वह ज्ञानी भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

क्योंकि भगवान्‌का यह विरद है कि जो मुझे जिस प्रकार भजता है, मैं भी उसे उसी प्रकार भजता हूँ (गीता ४। ११)।

इतना ही नहीं, जो भगवान्‌को प्रेमसे भजता है, उसको भगवान् अपने हृदयमें बसा लेते हैं। भगवान्‌ने गीताके नवें अध्यायके २९वें श्लोकमें कहा है कि 'जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

यदि पूछा जाय कि 'क्या ऐसे ज्ञानी निष्काम भक्तके अतिरिक्त दूसरे भक्त श्रेष्ठ नहीं हैं और क्या उनका उद्धार नहीं होता?' तो ऐसी बात नहीं है। ये सभी भक्त श्रेष्ठ हैं और सभीका उद्धार होता है; किंतु ज्ञानी निष्काम भक्त सर्वोत्तम है। ज्ञानी निष्काम भक्तको तो भगवान्‌ने अपना स्वरूप ही बतलाया है—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥
(गीता ७।१८)

'ये सभी उदार हैं, परंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है।'

उदारका अर्थ है श्रेष्ठ। भगवान्‌के कथनका भाव यह है कि 'वे भक्त मुझे पहले भजते हैं, तब फिर उसके बाद मैं उनको भजता हूँ तथा वे अपने अमूल्य समयको मुझपर श्रद्धा-विश्वास करके न्योछावर कर देते हैं, यह उनकी उदारता है; इसलिये वे श्रेष्ठ हैं; और मेरी भक्ति सकाम, निष्काम या अन्य किसी भी भावसे क्यों न की जाय, मेरे भक्तका उद्धार हो ही जाता है (गीता ७।२३); किंतु प्रेम और निष्कामभावकी उनमें कमी होनेके कारण उनको मेरी प्राप्तिमें विलम्ब हो सकता है। मेरी उपासनाकी तो बात ही क्या है, जो दूसरे देवताओंकी उपासना करते हैं, वे भी मेरी ही उपासना करते हैं; किंतु वे मुझको तत्त्वसे न जाननेके कारण इस लोक या स्वर्ग आदि परलोकरूप नाशवान् फलको ही पाते हैं।'

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
(गीता ७।२३ का पूर्वार्ध)

'क्योंकि उन अल्प बुद्धिवालोंका वह फल नाशवान् है।'

सातवें अध्यायके पहले श्लोकमें जिस समग्र रूपको जाननेकी बात कही गयी है, उसका भगवान्‌ने यही अभिप्राय बतलाया कि जो कुछ है, वह मुझसे अलग नहीं है (गीता ७।७) और सब

कुछ मेरा ही स्वरूप है (गीता ७ । १९) । एवं इस तत्त्वको जाननेवाला निष्पाप तथा राग-द्वेषजनित मोहसे मुक्त भगवद्भक्त भगवान्के शरण होकर भगवान्के समग्र रूपको जान जाता है (गीता ७ । २८, २९, ३०) ।

ऐसे ज्ञानी भगवत्प्राप्त महात्मा भक्तकी जो स्थिति है, उसकी भगवान्ने बड़ी प्रशंसा की है (गीता १२ । १३ से १९) । भगवान्ने उसको अपना प्रिय भक्त कहा है; किंतु जो साधक उस ज्ञानी भक्तके लक्षणोंको लक्ष्य बनाकर उनके अनुसार श्रद्धापूर्वक साधन करता है, उसको तो भगवान्ने अपना अतिशय प्रिय बतलाया है; क्योंकि उसने भगवान्पर श्रद्धा-विश्वास करके अपने जीवनको भगवान्के लिये ही न्योछावर कर दिया है । भगवान् कहते हैं—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥

(गीता १२ । २०)

'परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतका निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं ।'

जब केवल मन-बुद्धिको भगवान्में लगानेसे ही भगवान्की प्राप्ति हो जाती है (गीता ८ । ७; १२ । ८), तब फिर जो सर्वस्व भगवान्के समर्पण करके सब प्रकारसे भगवान्को भजता है, उसके उद्धारमें तो कहना ही क्या है !



महापुरुषोंका तत्त्व, रहस्य और प्रभाव

जो उच्चकोटिके महापुरुष होते हैं, उनका हृदय बड़ा ही कोमल होता है और उनके भाव बहुत उच्चकोटिके होते हैं। उनके हृदयमें वास्तवमें कोई विकार नहीं होता। वास्तवमें उनसे किसीको भय और उद्वेग नहीं होते। वे बड़े ही प्रभावशाली होते हैं। उनके दर्शनसे दूसरोंका भी क्रोध और हिंसाका भाव दूर हो जाता है। महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।

(योगदर्शन २।३५)

'जिसके मनमें हिंसा करनेका किंचित् भाव भी नहीं रहता—अर्थात् जिस मनुष्यके हृदयमें अहिंसाकी प्रतिष्ठा हो जाती है, उसका इतना प्रभाव पड़ता है कि उसके निकट दूसरे आदमीके हृदयमें भी वैरभावका त्याग हो जाता है।'

ऐसे भगवान्‌के परमभक्त महापुरुषोंसे तो किसीको भय, उद्वेग और क्रोध आदि होते ही नहीं; उनको भी दूसरोंसे उद्वेग और भय नहीं होता। वे स्वयं निर्भय हो जाते हैं और दूसरोंको निर्भय कर देते हैं। भगवान्‌ने अपने प्रिय भक्तके लिये गीताके बारहवें अध्यायके १५ वें श्लोकमें कहा है कि उससे किसीको उद्वेग नहीं होता और लोगोंसे उसको उद्वेग नहीं होता—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।

भाव यह है कि वह न तो दूसरोंको उद्वेग देता है और न दूसरोंसे उद्वेगवान् होता है। उसके द्वारा उद्वेग वास्तवमें किसीको होना ही नहीं चाहिये। संसारमें देखा जाता है कि अच्छे-से-अच्छे पुरुषसे भी दूसरोंको उद्वेग हो जाता है। न्याय तो यह कहता है कि यदि किसीसे दूसरोंको उद्वेग होता है तो उसमें महात्मापन ही कहाँ है। नहीं तो उससे दूसरोंको उद्वेग क्यों होना चाहिये। शास्त्रोंकी ओर देखते हैं तो ऐसा उदाहरण प्रायः नहीं मिलता कि जिससे किसीको भी उद्वेग नहीं हुआ हो; क्योंकि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी मर्यादापुरुषोत्तम थे, उनसे भी राक्षसोंको उद्वेग हुआ। श्रीजनकजी, श्रीयाज्ञवल्क्यजी, श्रीवशिष्ठजी आदि अन्यान्य जितने भी महात्माकोटिके पुरुष संसारमें हुए हैं, उनसे भी दूसरोंको उद्वेग हुआ है। जैसे—श्रीजनकजीसे लक्ष्मणको, श्रीयाज्ञवल्क्यजीसे अश्वल आदि ब्राह्मणोंको और श्रीवशिष्ठजीसे विश्वामित्रजीको उद्वेग हुआ। ऐसे पुरुष तो बहुत हुए हैं, जिनके अन्तःकरणमें अपने प्रतिकूल क्रियाओंको देखकर उद्वेग नहीं हुआ। यह तो साधकके लिये भी सहज है, क्योंकि वह इसमें स्वतन्त्र है; किंतु किसीसे दूसरोंको उद्वेग न होना—यह कठिन है।

अतः इस पंक्तिका अर्थ हम अपने संतोषके लिये यह लगा लेते हैं कि उस पुरुषके मनमें किसीको भी उद्विग्न करनेका भाव नहीं होता। किंतु किसीको अपने अज्ञानके कारण उससे उद्वेग हो जाय तो उसमें उस महापुरुषका दोष नहीं है; क्योंकि उसके लिये वह निरुपाय है। अतः यह समझना चाहिये कि महापुरुष

न तो किसीको उद्वेग देता है और न स्वयं किसीसे उद्वेगवान् होता है। इसपर भी अज्ञानके कारण अज्ञानियोंके चित्तमें उद्वेग हो जाया करता है। ऐसा अर्थ लगाकर हम संतोष कर लेते हैं। किंतु शब्दार्थ तो यही है कि संसारमें उसके द्वारा किसीको उद्वेग होता ही नहीं। परंतु ऐसा उदाहरण न तो वर्तमानमें देखा ही जाता है और न शास्त्रोंमें ही मिलता है। यह बात बड़े-बड़े संत-महात्माओं, ज्ञानियों, योगियों, भक्तों, धर्मात्माओं और नेताओंमें भी देखनेमें नहीं आती।

श्रीशिवजी साक्षात् ईश्वर माने जाते हैं, उनसे भी दक्षप्रजापति आदिको तथा राक्षसोंको उद्वेग हुआ। महात्मा युधिष्ठिर बड़े ही धर्मात्मा पुरुष थे, धर्मकी मूर्ति ही थे; उनसे भी दुर्योधनादिको उद्वेग हुआ। खोज करें तो अच्छे-अच्छे गृहस्थ, संन्यासी आदि महापुरुषोंद्वारा दूसरोंको उद्वेग हुआ देखा जाता है। पर दूसरोंको उद्वेग मूर्खताके कारण ही होता है। महापुरुष तो सर्वथा विकारशून्य होते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥

(गीता १२। १५)

'जिससे कोई भी जीव उद्वेगको नहीं प्राप्त होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको नहीं प्राप्त होता तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है, वह भक्त मुझको प्रिय है।'

हमलोगोंको भगवान्‌के कथनपर ध्यान देना चाहिये। यदि यह एक श्लोक भी हमारे जीवनमें पूरा उतर जाय तो बेड़ा पार है।

जो अच्छे महात्मा पुरुष होते हैं, उनमें कोई विकार होता ही नहीं। हमलोग जो ऐसी धारणा कर लेते हैं कि ये हैं तो महात्मा, किंतु इनके प्रतिकूल कोई बात कह देंगे तो इनको दुःख होगा, ये रुष्ट हो जायँगे—इस प्रकार उनसे यदि हम भय करते हैं तो यह हमारे चित्तका दोष है, हमारी बेसमझी है। हम शब्दोंसे तो उनको महात्मा कहते हैं, किंतु हृदयसे वैसा नहीं मानते। किसी महात्मा पुरुषके मिल जानेपर तो हमारे चित्तमें यह भाव आना चाहिये कि 'देखो, ये भी मनुष्य हैं और हम भी मनुष्य; फिर हमको परमात्माकी प्राप्ति न होनेका क्या कारण है ?' इन्होंने जिस प्रकार परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न किया है, उसी प्रकार हम भी कर सकते हैं। चाहे वह कठिन-से-कठिन साधन भी क्यों न हो, हम उसे करनेके लिये तैयार हैं।'

हमलोगोंको निश्चय रखना चाहिये कि महात्मा कभी रुष्ट होते ही नहीं। यह हमारी अज्ञता है, जो हम उनको अप्रसन्न समझकर उनसे भय करते हैं। उनकी चेष्टा तो हमारे परम हितके लिये ही हुआ करती है। उनका रोष भी कल्याण करनेवाला है, क्योंकि उनकी सारी क्रियाएँ हमारा कल्याण करनेवाली ही होती हैं। भगवान् किसीको मारते हैं तो उसके कल्याणके लिये ही। इसी प्रकार निष्काम गुरु भी शिष्यके हितके लिये ही उसे दण्ड देता है। न्यायप्रेमी राजाका दण्ड भी हितके लिये ही होता है। मा बच्चेको उसके हितके लिये ही मारती है। फिर महात्माका शासन अहितकर कैसे हो सकता है।

महात्माके चित्तमें कभी किसी बातको लेकर उद्वेग होता ही नहीं। फिर हम यह शङ्का और भय क्यों करें कि उनके चित्तमें दुःख और उद्वेग हो जायगा। हमारे देखनेमें यदि उनमें उत्तेजना आती है तो समझना चाहिये कि वह उत्तेजना हमलोगोंके लिये शिक्षाके रूपमें है। वास्तवमें वह उत्तेजना क्रोधयुक्त नहीं है। वास्तवमें क्रोधयुक्त उत्तेजनाके लक्षण दूसरे ही होते हैं। गीताके दूसरे अध्यायके ६३ वें श्लोकमें भगवान्‌ने बतलाया है—

क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

'क्रोधसे अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़भावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् विवेक-शक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है।'

यदि किसीमें ये लक्षण हों तो समझना चाहिये कि उसमें क्रोधयुक्त उत्तेजना है। अन्यथा यदि कोई जिज्ञासुओंको शिक्षा देनेके लिये उत्तेजनाका स्वाँग करते हैं तो उनकी वह उत्तेजना क्रोधयुक्त नहीं है; क्योंकि उनमें उपर्युक्त दोष नहीं आ सकते। महात्मा राजा जनक राज्य करते थे, वे दण्डनीय मनुष्यको दण्ड न दें तो राज्य कैसे चले। वे जो दण्ड दें, उस शासनको कोई यदि उत्तेजना मान ले तो यह माननेवालेकी भूल है।

कोई अच्छा पुरुष है, उससे यदि दूसरोंको भय होता हो तो उसको तो यह समझना चाहिये कि तुममें कोई कमी है, नहीं तो

इनको भय क्यों होता। एवं जिन पुरुषोंके मनमें भय होता है, उनको यह विचार करना चाहिये कि हमारे चित्तमें भय होनेका कारण क्या है। वह कारण है श्रद्धा-विश्वासकी कमी। यदि हम उन्हें महापुरुष समझते तो हमारे चित्तमें उनसे भय होनेका कोई कारण नहीं। हमको भय तो इस बातका होना चाहिये कि शास्त्र या महापुरुष जो कुछ हमको कह रहे हैं, उसका हमसे पालन नहीं होता। तथा यह हमारे लिये और भी विशेष भयकी बात है कि हम उसके विरुद्ध आचरण करें। यह बात साधकके लिये है। इसमें एक रहस्यकी बात है। वह यह कि वास्तवमें जो महापुरुष होते हैं, उनकी आज्ञा न माननेसे न माननेवालेको कोई दण्ड नहीं होता। यमराजकी भी सामर्थ्य नहीं कि उसको दण्ड दे; क्योंकि जो अच्छे पुरुष होते हैं, वे अपनी आज्ञा न माननेवालेको किसी प्रकारसे दण्ड दिलाना नहीं चाहते। भाव यह कि वे किसीको दण्ड हो, इस विषयमें निमित्त बनना नहीं चाहते।

कोई आपका अपमान कर दे और आप सरकारी राज्यमें मान-हानिकी नालिश करें, तब यदि वास्तवमें आपका अपमान हुआ होगा तो सरकार उसे दण्ड दे सकती है। किसी जगह न्यायाधीश स्वयं देख लें कि इसका यह अनुचित व्यवहार है तो वे स्वयं भी दण्ड दे सकते हैं। किंतु यदि महात्मा नहीं चाहता कि मेरा अपराध करनेवालेको दण्ड मिले, तो ऐसी अवस्थामें यमराज हो या न्यायाधीश, उनकी सामर्थ्य नहीं कि वे महात्माकी आज्ञा न माननेवालेको महात्माकी इच्छाके बिना दण्ड दे सकें। महात्माका तो यह भाव

रहता है कि मेरे निमित्तसे तो दूसरोंको लाभ ही होना चाहिये, हानि नहीं होनी चाहिये। यदि दण्डनीय मनुष्यको दण्ड देनेसे लाभ समझा जाता है तो वे स्वयं दण्ड दे देते हैं। जैसे राजा नहुषको अगस्त्यजीने उसके सुधारके लिये यह दण्ड दे दिया कि 'तुम सर्प हो जाओ।' फिर दया करके यह भी कह दिया कि 'महाराज युधिष्ठिर तुम्हें इस शापसे मुक्त कर देंगे।' इसीसे वह महाराज युधिष्ठिरके दर्शन और वार्तालापके प्रभावसे उस पापसे मुक्त हो गया। इस प्रकार कहीं दण्ड देनेसे किसीको लाभ होता समझमें आता है तो वे स्वयं दण्ड दे सकते हैं। अतः उनका अनुग्रह तो अनुग्रह है ही, दण्ड भी अनुग्रह है। इसलिये हमलोगोंको महात्माओंसे कभी भय नहीं करना चाहिये।

भय तो दुष्टोंसे भी नहीं करना चाहिये; क्योंकि कोई भी दुष्ट मनुष्य दुष्टता कर सकता है, किंतु वास्तवमें हमें हानि नहीं पहुँचा सकता। जब हमने कोई पाप किया ही नहीं, तब पाप किये बिना ईश्वरके राज्यमें दण्ड मिल ही कैसे सकता है। मनुष्य कोई-न-कोई अपराध किये रहता है, उसके फलस्वरूप ही कोई अत्याचार करनेवाला उसके अपराधके दण्ड-भोगमें निमित्त बन जाता है। जो अपराधी नहीं है, उसपर यदि कोई अत्याचार करता है तो अत्याचारीका अत्याचार निष्फल हो जाता है—जैसे भक्त प्रह्लादपर हिरण्यकशिपुका और भक्तिमती मीराँपर राणाजीका अत्याचार निष्फल हो गया था। उन्हें अत्याचारमें कहीं सफलता मिली ही नहीं; क्योंकि प्रह्लाद और मीराँ वास्तवमें अपराधी नहीं थे। किसीपर जो अत्याचार सफल होता है,

वह उसके इस जन्म या पूर्वजन्मके किसी अपराधका फल है । अतः हमलोगोंको अत्याचारीपर दोषारोपण नहीं करना चाहिये । श्रीरामके वनगमनके सम्बन्धमें माता कौसल्या भरतसे यही कहती हैं—

काहुहि दोसु देहु जनि ताता । भा मोहि सब बिधि बाम बिधाता ॥
(राम० अयोध्या० १६४ । ४)

'तात ! इस विषयमें किसीको दोष मत दो । विधाता मेरे लिये सब प्रकारसे उल्टा हो गया है ।'

अभिप्राय यह कि 'यह मेरे प्रारब्धका दोष है । न इसमें कैकेयीका दोष है और न मन्थराका ।'

यह बात सच्ची है । यही सबके लिये है । इसलिये अत्याचारी-से भी डरना नहीं चाहिये । तब फिर डरना किससे चाहिये ? पापसे । हम जो पाप करेंगे, उसका फल हमको अवश्य भोगना पड़ेगा । ईश्वरकी आज्ञाका भङ्ग करना ही पाप है । अतः हमलोगोंको ईश्वरकी आज्ञाका कभी भङ्ग नहीं करना चाहिये ।

जहाँतक हो सके, राज्यके विधानका भी भङ्ग नहीं करना चाहिये । किंतु कहीं ऐसा प्रसङ्ग आ जाय कि एक ओर ईश्वरकी आज्ञा हो और उसके विरोधमें दूसरी ओर सरकारकी, वहाँ ईश्वरकी आज्ञाका पालन करके सरकारकी आज्ञा भङ्ग की जा सकती है । जैसे सरकारी कानून है कि चौदह वर्षकी आयु होनेपर कन्याका विवाह करना चाहिये, किंतु कन्या यदि बारहवें वर्षमें रजस्वला हो गयी तो शास्त्रकी आज्ञा है कि रजस्वला होनेसे पूर्व ही विवाह कर देना चाहिये और रजस्वला होनेके बाद तो

तुरंत ही कर देना चाहिये ।* ऐसी अवस्थामें बारहवें-तेरहवें वर्षमें रजस्वला हो जानेपर कन्याका विवाह कर देना शास्त्राज्ञाके अनुकूल है, किंतु सरकारी आज्ञाके विरुद्ध है । जहाँ सरकारकी आज्ञा और ईश्वरकी आज्ञामें विरोध पड़े, वहाँ ईश्वरकी आज्ञाका पालन करना चाहिये । उसके फलस्वरूप सरकारकी ओरसे दण्ड मिले तो उसे सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिये । वहाँ झूठ या छिपाव नहीं करना चाहिये, क्योंकि सरकारकी आज्ञा भङ्ग करनेसे जेल जाना पड़े तो कोई हानि नहीं है । इस समय भी तो हम जेलमें ही हैं । इस जेलमें जानेसे लंबी जेलसे छुटकारा मिल जाय तो थोड़ी देरके लिये इस जेलको भोग लेना चाहिये । ईश्वरका दण्ड लंबी जेल है । हर हालतमें भगवान्‌की आज्ञाका पालन तो होना ही चाहिये । सरकारकी आज्ञाका पालन न भी हो तो कोई बात नहीं । पर सरकारकी आज्ञाका भङ्ग करनेके साथ-साथ यदि भगवान्‌की आज्ञाका भी भङ्ग होता हो, तब तो और भी अधिक पाप है । जो मनुष्य

---

* प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति ।
मासि मासि रजस्तस्याः पिबन्ति पितरोऽनिशम् ॥
माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च ।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥
(पराशरस्मृति ७ । ७-८)

'जो मनुष्य बारह वर्षकी हो जानेपर भी अपनी कन्याका विवाह नहीं कर देता, उसके पितरोंको सदाके लिये प्रतिमास उस कन्याके रजका पान करना पड़ता है । माता और पिता एवं ज्येष्ठ भ्राता भी—ये तीनों ही यदि कन्याको रजस्वला होती देखते रहते हैं (रजस्वला होनेसे पूर्व उसका विवाह नहीं करते) तो नरकमें गिरते हैं ।'

चोरी करके, झूठ बोलकर इन्कमटैक्स या सेल-टैक्स नहीं देते, वे केवल सरकारके ही कानूनका भङ्ग नहीं करते, भगवान्‌की आज्ञाका भी भङ्ग करते हैं। शास्त्र और महापुरुषोंकी आज्ञा भी भगवान्‌की ही आज्ञा है। महापुरुष कहते हैं—**'सत्यं वद, धर्मं चर।'** 'सत्य बोलो, धर्मका आचरण करो।' अतः झूठ, चोरी, कपट, बेईमानी, जालसाजी करना ईश्वरकी आज्ञाका भङ्ग करना है।

सरकारकी यदि कोई अधर्मपूर्ण अनुचित आज्ञा हो तो उसका भङ्ग करनेपर लोग भी प्रशंसा करते हैं तथा ईश्वर भी रुष्ट नहीं होते। किंतु वहाँ सत्-साहस आवश्यक है। सब प्रकार यातना सहते हुए जेल जानेके लिये तैयार रहना चाहिये, उससे हम पापमुक्त हो शुद्ध हो सकते हैं। किंतु यह सहन करनेकी शक्ति होनी चाहिये। भगवान्‌की आज्ञाको कभी नहीं टालना चाहिये। 'सत्य बोलो, धर्मका आचरण करो और भारी-से-भारी आपत्ति आ जानेपर भी झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी कभी मत करो।'—इस ईश्वराज्ञाके पालनमें तत्परतापूर्वक सावधानी रखनी चाहिये। किंतु हिम्मत इसका नाम नहीं है कि हम सरकारकी चोरी करें और झूठ बोलें। सरकारकी जो कानून आपको अमान्य हो, उसके लिये आप स्पष्ट कह दें कि हम इसे नहीं मानेंगे, सरकार हमें चाहे जो दण्ड दे। यदि आप यह कर सकें तो आपकी शूरवीरता है और जहाँ वीरता है, वहाँ उसके साथ धीरता और गम्भीरता अवश्य रहती है।

महापुरुषोंके तत्त्व, रहस्य, भाव, प्रभाव और स्वभाव—इनमेंसे किसीको भी हम उनकी कृपासे जान लें तो फिर हमारा कल्याण

होनेमें विलम्ब नहीं। जब मनुष्य महापुरुषका तत्त्व-रहस्य समझ जाता है, तब वह महापुरुष ही बन जाता है। नहीं तो उसने तत्त्व-रहस्य कहाँ समझा। वास्तवमें तो महापुरुषके तत्त्वको मनुष्य महापुरुष होकर ही समझ सकता है। जो महापुरुष है ही नहीं, उसको महापुरुषके तत्त्वका अनुभव हो ही कैसे सकता है। किंतु महापुरुष समझाना चाहें तो श्रद्धालु जिज्ञासु भक्त भी उनकी कृपासे उनके तत्त्व-रहस्यको समझ सकता है।

महापुरुषोंका स्वभाव बहुत ही कोमल होता है। उनके द्वारा किसीका अनिष्ट नहीं हो सकता; क्योंकि उनमें कर्म करनेवाला कोई है ही नहीं। जब कर्ता ही नहीं है, तब बिना कर्ताके अनिष्ट कौन किसका करे। अतः उनके द्वारा अनिष्ट हो ही नहीं सकता। किंतु यदि किसीका अनिष्ट होता-सा प्रतीत हो तो समझना चाहिये कि यह अनिष्ट भोगनेवालेके पापका फल है। जैसे किसीने आग लगा दी तो आग लगानेवालेको पाप लगता है, अग्निको पाप नहीं लगता। इसी प्रकार गङ्गाका स्वभाव है बहना। वह बह रही है और उसके प्रवाहमें आकर कोई मर गया तो इसमें गङ्गाको दोष नहीं लगता। इसी प्रकार सूर्य तपता है। सूर्यकी धूपमें तपते-तपते कोई मर गया तो उसमें सूर्यका दोष नहीं है, उससे सूर्यको पाप नहीं लगता; क्योंकि अग्नि, गङ्गा और सूर्यकी नीयत किसीको कष्ट पहुँचाने या अनिष्ट करनेकी नहीं है।

श्रीरामचरितमानसमें जो यह बताया गया है कि—

'समरथ कहुँ नहिं दोषु गुसाईं। रबि पावक सुरसरि की नाईं॥
(बाल० ६८। ४)

—इसका अर्थ यह नहीं है कि ये महान् विभूतियाँ हैं, इसलिये ये अपराधसे मुक्त हैं। जो महापुरुष होते हैं, वे किसीका अनिष्ट नहीं करते। वे तो कहीं किसीके प्रारब्धके कारण मारनेमें निमित्त बन जाते हैं। इसलिये उनको दोष नहीं लगता; क्योंकि उन पुरुषोंमें व्यक्तिगत स्वार्थ और अभिमानका अत्यन्त अभाव होता है। इसी प्रकार सूर्य, अग्नि और गङ्गामें स्वार्थ, आसक्ति और कर्तापनके अभिमानका अत्यन्त अभाव है। यही उनकी सामर्थ्य है। अतः कहीं वे किसी मरनेवालेके प्रारब्धके कारण निमित्तमात्र बन जाते हैं तो उनको इस सामर्थ्यके प्रभावसे पाप नहीं लगता। यह शक्ति जिस किसीमें भी हो, उसे पाप नहीं लगता। भगवान्‌ने कहा है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥
(गीता १८। १७)

'जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं होता तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिप्त नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है।'

अतएव हमलोगोंको ऐसी शक्ति प्राप्त करनेके लिये भगवान्‌के उपर्युक्त वचनोंपर ध्यान देकर उनके अनुसार अपना जीवन बनानेका भरपूर प्रयत्न करना चाहिये।

भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाले उत्तम गुण और आचरण

उत्तम गुण और उत्तम आचरण शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हैं। उत्तम गुणोंसे अभिप्राय है—हृदयके उत्तम भाव और उत्तम आचरणोंसे अभिप्राय है—मन, वाणी और शरीरकी उत्तम क्रिया। इनमें उत्तम क्रियाओंसे उत्तम भावोंका संगठन होता है और उत्तम भाव होनेसे उत्तम क्रियाएँ स्वाभाविक ही होती हैं। ये परस्पर एक-दूसरेके सहायक हैं। फिर भी क्रियाकी अपेक्षा भाव प्रधान है। जैसे कोई मनुष्य दूसरोंके अनिष्टके लिये यज्ञ, दान, तप आदि करता है तो उसकी वह क्रिया तामसी है और वही क्रिया यदि पुत्र, स्त्री, धन और स्वर्गादिके लिये की जाती है तो राजसी है तथा निष्कामभावसे संसारके हितके लिये भगवत्प्रीत्यर्थ करनेपर वही क्रिया सात्त्विकी हो जाती है। क्रिया

एक होते हुए भी भाव उत्तम होनेसे वह उत्तम फलदायक बन जाती है । इसलिये क्रियाकी अपेक्षा भाव ही प्रधान है ।

जो दुराचार, दुर्व्यसन और व्यर्थकी क्रियाएँ हैं, वे सब तो नरकमें ले जानेवाली हैं, उनकी तो यहाँ कोई चर्चा ही नहीं है । वे तो सर्वथा त्याज्य हैं । जो कल्याणकारक आचरण हैं, जो भगवत्प्राप्तिमें सहायक हैं, उन्हींकी यहाँ चर्चा की जाती है। वे सब आचरण भी निष्कामभावसे किये जानेपर ही कल्याण करनेवाले होते हैं । इसलिये शास्त्रोक्त उत्तम क्रियाओंका आचरण निष्कामभावसे ही करना चाहिये । उत्तम क्रियाएँ कौन-कौन-सी हैं, उनका कुछ दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है—

सबके साथ सरलता, विनय, प्रेम, आदर और निरभिमानतापूर्वक निःस्वार्थभावसे व्यवहार करना ।

शरीरको जल और मृत्तिकासे शुद्ध और स्वच्छ रखना तथा घर और वस्त्रोंको भी शुद्ध और स्वच्छ रखना ।

ब्रह्मचर्यका पालन करना । किसी भी सुन्दरी युवती स्त्रीका अथवा पुरुष या बालकका अश्लीलभावसे दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन, एकान्तवास आदि कभी न करना ।

मन, वाणी, शरीरसे किसी क्षुद्र-से-क्षुद्र भी प्राणीको किसी भी निमित्तसे किंचिन्मात्र भी कभी दुःख न पहुँचाना, बल्कि अभिमानका त्याग करके निःस्वार्थभावसे सबका सब प्रकारसे परम हित ही करते रहना । कोई अपना अनिष्ट भी करे तो भी उसका हित ही करना ।

वाणीके द्वारा प्रेम और आदरपूर्वक भगवान्‌के नामका निरन्तर जप करना तथा सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय करना एवं जो सत्य और प्रिय हो तथा जिसमें सबका हित हो, ऐसा कपटरहित सरल वचन बोलना ।

सदा श्रद्धापूर्वक शास्त्रकी मर्यादाका पालन करना । भारी-से-भारी कष्ट पड़नेपर भी लज्जा, भय, लोभ, काम अथवा किसी भी कारणसे मर्यादाका त्याग नहीं करना ।

श्रद्धा-भक्तिपूर्वक महापुरुषोंका सङ्ग, सेवा-सत्कार, नमस्कार और उनकी आज्ञाका पालन करना इत्यादि ।

इस प्रकारके उत्तम आचरणोंको निःस्वार्थभावसे करनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है ।

इसके सिवा, जिनके कान भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व, रहस्यकी बातोंको सुनते-सुनते अघाते नहीं, जिनके नेत्र केवल भगवान्‌के दर्शनोंके लिये ही चातक और चकोरकी भाँति लालायित रहते हैं, जिनकी वाणी प्रेमपूर्वक भगवान्‌के गुणोंका ही गान करती रहती है, जिनकी नासिका भगवान्‌के स्वरूप तथा भगवान्‌को अर्पण किये हुए पुष्प, चन्दन, माला, तुलसी, नैवेद्य आदिकी गन्धको लेकर मग्न होती रहती है, जिनकी जिह्वा भगवान्‌के अर्पण किये हुए प्रसादका ही आस्वादन करती है तथा जो नर-नारी भगवान्‌के अर्पण करके ही और भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही भगवान्‌का प्रसाद समझकर वस्त्र और आभूषण धारण करते हैं, जो मनुष्य अपने शरीरसे ईश्वर, देवता और

ब्राह्मणोंका तथा वर्ण, आश्रम, गुण, पद और अवस्थामें जो अपनेसे बड़े हों, उनका प्रेम और विनयपूर्वक आदर-सत्कार, सेवा, आज्ञापालन और नमस्कार करते हैं, जो एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर रहकर हाथोंके द्वारा भगवान्‌की सेवा-पूजा श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे करके मुग्ध होते हैं, जो भगवान्‌के लीला-विग्रहों और उनके भक्तोंके दर्शनार्थ ही चरणोंसे तीर्थोंमें जाते और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनमें स्नान करते हैं, जो भगवान्‌के मन्त्रका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जप करते हैं, जो शास्त्र-विधिके अनुसार नित्य दान, श्राद्ध, तर्पण, होम, ब्राह्मण-भोजन श्रद्धा-प्रेमपूर्वक करते हैं, जो माता, पिता, स्वामी, आचार्य आदि गुरुजनोंको भगवान्‌के समान समझते हैं तथा उनकी सब प्रकारसे श्रद्धा, भक्ति और आदरपूर्वक सेवा, सत्कार और पूजा करते हैं—इस प्रकार जो केवल भगवान्‌में प्रेम होनेके लिये ही श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भक्तिसंयुक्त उपर्युक्त आचरण करते हैं, उनके हृदयमें भगवान् विशेषरूपसे निवास करते हैं।

जिनके हृदयमें सम्पूर्ण दुर्गुणोंका अभाव होकर सद्गुण प्रतिष्ठित हो जाते हैं, उनके हृदयमें भगवान् विशेषरूपसे निवास करते हैं और वे शीघ्र ही परमात्माके निकट पहुँच जाते हैं।

जिनमें काम-क्रोध, लोभ-मोह, अहंकार-अभिमान, मद-मत्सर, दम्भ-दर्प, राग-द्वेष, छल-कपट, अशान्ति-क्षोभ, आलस्य-प्रमाद, पाप, भोगवासना और विक्षेप आदिका अत्यन्त अभाव हो गया है, जो सबके हेतुरहित प्रेमी, सबके हितमें रत, सुख-दुःख, निन्दा-

स्तुति, मान-अपमान, जय-पराजय, लाभ-अलाभमें सम हैं, जिनके मनमें भगवान्‌के सिवा अन्य कोई आश्रय नहीं है, जो निरन्तर भगवान्‌के ही शरण हैं, जिन्हें भगवान् प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारे हैं, जिनका भगवान्‌में ही अनन्य विशुद्ध प्रेम है, जो माता-पिता, भाई-बन्धु, मित्र, स्वामी, गुरु, धन, विद्या, प्राण—सर्वस्व एक भगवान्‌को ही मानते हैं, जो परनारीको माताके समान और पराये धनको विषके समान समझते हैं, जो दूसरोंके दुःखसे दुखी और दूसरोंके सुखसे ही सुखी रहते हैं, जो दूसरोंके अवगुणोंको नहीं देखते, उनके गुणोंको ही ग्रहण करते हैं, जो गौ, ब्राह्मण और समस्त प्राणियोंके हितमें रत हैं, जो नीतिमें निपुण हैं, जो अपनेमें जो कुछ अच्छाई है, उसे भगवान्‌की कृपा समझते हैं और अपनेमें जो बुराई है, उसे अपने स्वभावका दोष मानते हैं, भगवान्‌के भक्तोंमें जिनका प्रेम है, जो जाति-पाँति, धन, घर, परिवार, धर्म, बड़ाई आदि सबमें आसक्तिका त्याग कर भगवान्‌को ही हृदयमें धारण किये रहते हैं, जिनकी दृष्टिमें स्वर्ग, नरक और मोक्ष समान हैं, जो सर्वत्र भगवान्‌को ही देखते रहते हैं, जो मन, वाणी और शरीरसे भगवान्‌के ही सच्चे सेवक हैं और जो कभी कुछ भी नहीं चाहते, प्रत्युत जिनका एकमात्र भगवान्‌में ही स्वाभाविक निष्काम श्रद्धा-प्रेम है, ऐसे मनुष्योंके हृदयमें भगवान् विशेषरूपसे निवास करते हैं।

यों तो भगवान् सब जगह समानभावसे व्यापक हैं ही, किंतु जिनके हृदयका भाव उपर्युक्त प्रकारसे उत्तमोत्तम सद्गुण और भगवत्प्रेमसे युक्त है, उनके हृदयमें भगवान् विशेषरूपसे विराजमान

हैं। गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(९। २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न कोई प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

यद्यपि ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियोंमें भगवान् अन्तर्यामीरूपसे समभावसे व्याप्त हैं, इसलिये उनका सबमें समभाव है और समस्त चराचर प्राणी उनमें सदा स्थित हैं तथापि भगवान्‌का अपने भक्तोंको अपने हृदयमें विशेषरूपसे धारण करना और उनके हृदयमें स्वयं प्रत्यक्षरूपसे निवास करना भक्तोंकी अनन्य भक्तिके कारण ही होता है।

जैसे समभावसे सब जगह प्रकाश देनेवाला सूर्य दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थोंमें प्रतिबिम्बित होता है, काष्ठादिमें नहीं होता तथापि उसमें विषमता नहीं है, वैसे ही भक्तोंके हृदयमें विशेषरूपसे विराजमान होनेपर भी भगवान्‌में विषमता नहीं है।

जिनका किसीसे भी द्वेष नहीं, सबपर हेतुरहित दया और प्रेम है, जो क्षमाशील हैं, अहंकार और ममताका जिनमें अत्यन्त अभाव है, जिन्होंने अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ वशमें करके भगवान्‌में ही लगा दिये हैं, जिनसे किसीको भी उद्वेग नहीं होता, जिनका हृदय इच्छा, भय, उद्वेग और आसक्तिका अत्यन्त अभाव

होकर परम शुद्ध हो गया है, जो पक्षपातरहित और दक्ष हैं, जो संसारसे उदासीन और विरक्त हैं, जिनमें कर्मोंके कर्त्तापन और फलेच्छाका अत्यन्त अभाव है, हर्ष-शोकका भी जिनमें अत्यन्त अभाव है, जिनका वैरी-मित्रमें, शीत-उष्णमें, अनुकूलता-प्रतिकूलतामें और मिट्टी-स्वर्णमें समान भाव है, इसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणी, पदार्थ, भाव, क्रिया और परिस्थितिमें जिनका समान भाव रहता है, जो भगवान्‌के विधानमें हर समय संतुष्ट हैं, घर और देहमें अभिमानसे रहित हैं, जिनकी बुद्धि स्थिर है और जो परमात्माके स्वरूपमें ही नित्य स्थित हैं—ऐसे भक्तिसंयुक्त सद्‌गुणोंसे सम्पन्न भगवान्‌के भक्त भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय हैं ।

इसलिये हमें चाहिये कि अपने भाव और क्रियाओंको उत्तम-से-उत्तम बनावें । वास्तवमें भाव उत्तम होनेसे क्रिया अपने-आप स्वाभाविक ही उत्तम होने लगती है, उसमें कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता और जो सर्वथा ईश्वरके ही शरण हो जाता है, अपने-आपको ईश्वरके समर्पण कर देता है, उसमें ईश्वरकी भक्तिके प्रभावसे उत्तम गुण स्वतः ही आ जाते हैं । अतः हमलोगोंको उत्तम गुण और उत्तम भावकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारसे ईश्वरके शरण होकर निष्काम प्रेम-भावसे ईश्वरका अनन्य चिन्तन करना चाहिये । इस प्रकार करनेपर ईश्वरकी कृपासे प्रमाद, आलस्य, भोगवासना, दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन और व्यर्थ संकल्पोंका अत्यन्त अभाव एवं परम कल्याणकारक विवेक और वैराग्ययुक्त सद्‌गुण-सदाचारोंका आविर्भाव होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

संसारसे वैराग्य और भगवान्में प्रेम होनेका उपाय

श्रीभगवान्की प्राप्तिकी इच्छावाले पुरुषोंको संसारसे वैराग्य और भगवान्में प्रेम हो—इसके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये। साधनमें विक्षेप, आलस्य, भोग, प्रमाद आदि अनेक विघ्न हैं, उनमें मनकी चञ्चलता अर्थात् विक्षेप और आलस्य—ये दो प्रधान हैं; किंतु संसारसे वैराग्य और भगवान्में प्रेम होनेपर इन सबका अपने-आप ही विनाश हो सकता है। अतः संसारसे वैराग्य और भगवान्में प्रेम होनेके लिये ही विशेष प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है।

संसारसे वैराग्य होनेका उपाय है—संसारको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, दुःखरूप, घृणित, हानिकर और भयदायक समझना, वैराग्यवान् पुरुषोंका सङ्ग करना, वैराग्यविषयक पुस्तकें पढ़ना और चित्तमें वैराग्यकी भावना करना। इनसे संसारमें वैराग्य हो जाता है।

भगवान्में प्रेम होनेका उपाय है—भगवान्के नाम, रूप, लीला, धामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यकी बातोंको सुनना, पढ़ना

और मनन करना; भगवान्‌में जिनका प्रेम है, उन पुरुषोंका सङ्ग करना; भगवान्‌से सच्चे हृदयसे करुणाभावपूर्वक गद्गदकण्ठ हो स्तुति-प्रार्थना करना; 'भगवान् मेरे हैं और मैं भगवान्‌का हूँ'—इस प्रकार भगवान्‌के साथ अपना नित्य-सम्बन्ध समझना; मनसे भगवान्‌का दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तन करना तथा हर समय निष्कामभावसे भगवान्‌के नाम-रूपको स्मरण रखना। ऊपर बतलायी हुई इन सभी बातोंपर श्रद्धा-विश्वास करके उनको काममें लानेसे बहुत शीघ्र भगवान्‌में प्रेम हो सकता है।

जब साधकका संसारसे वैराग्य और भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जाता है, तब फिर दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, सांसारिक संकल्प, आलस्य, प्रमाद, भोगेच्छा आदि सब दोषोंका नाश होकर उसे भगवान्‌का यथार्थ ज्ञान हो जाता है और उसमें स्वाभाविक ही समता आ जाती है; फिर उत्तम गुण तो उसमें अपने-आप ही आ जाते हैं तथा उसके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाएँ भी उत्तम-से-उत्तम होने लगती हैं। उसे परम शान्ति और परम आनन्दका अनुभव होता रहता है। इसलिये ऐसा पुरुष कभी संसारके विषयभोगोंको और कुसङ्गको पाकर भी उनमें नहीं फँसता।

अपने दैनिक जीवनमें उपर्युक्त बातोंको किस प्रकार काममें लाया जाय—इसके लिये नीचे लिखी हुई तीन बातोंपर विशेष ध्यान देना चाहिये—

(१) जब हम रात्रिमें सोने लगें, तब उस समय हमें उचित है कि हम भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभावको स्मरण

करते-करते ही शयन करें। इससे रातमें प्रायः बुरे स्वप्न भी नहीं आते और हमारा वह शयनकाल भी साधनकालके रूपमें ही परिणत हो सकता है।

(२) दिनमें कार्य करते समय यह समझना चाहिये कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, भगवान्का ही काम कर रहा हूँ और भगवान्की आज्ञासे भगवान्के लिये ही कर रहा हूँ एवं ये जड-चेतनात्मक सब पदार्थ भगवान्के हैं और मैं भी भगवान्का हूँ तथा भगवान् मेरे हैं और वे सबमें व्यापक हैं; इसलिये सबकी सेवा भगवान्की ही सेवा है। तथा व्यवहार करते समय स्वार्थत्याग, सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति हितैषिता, उदारता, समता, स्वाभाविक दया—इनपर विशेष ध्यान रखना चाहिये। इससे व्यवहार स्वाभाविक ही बहुत उच्चकोटिका होने लग जाता है।

इससे भी बढ़कर एक भाव यह है कि जो भी क्रिया करे, उसे अहंकार और अभिमानसे रहित होकर करे और यह समझे कि मेरे द्वारा जो कुछ भी क्रिया होती है, वह भगवान् ही करवा रहे हैं, मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ। इस प्रकारके भावसे होनेवाली क्रियामें कभी दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसनकी गुंजाइश ही नहीं रहती। यदि उसमें दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन हो तो समझना चाहिये कि उसकी क्रिया होनेमें भगवान्का हाथ नहीं है, कामका हाथ है। गीतामें अर्जुनके द्वारा यह पूछनेपर—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥
(३। ३६)

'कृष्ण ! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है ?'

भगवान्‌ने कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

(गीता ३ । ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है; इसको ही तुम इस विषयमें वैरी जानो ।'

(३) एकान्तमें बैठकर साधन करते समय भी प्रथम मन-इन्द्रियोंको वशमें करना चाहिये । मनको वशमें करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य ही प्रधान है । भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

(६ । ३५)

'महाबाहो ! निःसंदेह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है; परंतु कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह अभ्यास और वैराग्यसे वशमें होता है ।' मनको वशमें कर लेनेपर इन्द्रियोंका वशमें होना उसके अन्तर्गत ही है ।

मन वशमें होनेके बाद श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्‌के नाम और स्वरूपका स्मरणरूप साधन करना चाहिये; क्योंकि मनको वशमें

किये बिना साधन होना सुगम नहीं है और साधन करनेसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है । भगवान् कहते हैं—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥
(गीता ६ । ३६)

'जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषद्वारा योग (भगवत्-प्राप्ति) दुष्प्राप्य है और वशमें किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है—यह मेरा मत है ।'

तथा भगवान्‌ने आगे सब साधनोंमें श्रद्धापूर्वक भगवान्‌के भजन-चिन्तनरूप भक्तिके साधनको ही श्रेष्ठ बतलाया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(गीता ६ । ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है ।'

अथवा एकान्तमें बैठकर सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके और संसारसे उपराम होकर मनको परमात्मामें लगा देना चाहिये । परमात्माकी प्राप्तिका यह भी एक उत्तम प्रकार है । भगवान्‌ने स्वयं गीतामें बतलाया है—

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥

(६ । २४-२५)

'संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सभी ओरसे भलीभाँति रोककर क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे ।'

एवं—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

(६ । २६)

'यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर उसे बार-बार परमात्मामें ही निरुद्ध करे अर्थात् परमात्मामें ही लगावे ।'

इसलिये संसारके विघ्नोंका नाश होकर परमात्माकी प्राप्तिके लिये उपर्युक्त प्रकारसे संसारसे वैराग्य और भगवान्‌में प्रेम होनेके लिये विशेष कोशिश करनी चाहिये ।



तुम मुझे देखा करो और मैं तुम्हें देखा करूँ

हमारा मन वहीं लगता है, जहाँ हमारी अभिलषित वस्तु होती है, जहाँ हमें अपनी रुचिके अनुकूल सुख, सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य आदि दिखायी देते हैं। विचार करके देखनेसे पता लगता है कि जगत्में हम जो प्रिय वस्तु, सुख, सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य आदि देखते हैं, उन सभीका पूर्ण अमित अनन्त भण्डार श्रीभगवान् हैं। समस्त वस्तुएँ, समस्त गुण, समस्त सुख-सौन्दर्य भगवान्के किसी एक अंशके प्रतिबिम्बमात्र हैं। उस महान् अनन्त अगाध सागरके सीकर-कणकी छायामात्र हैं। हमें जो वस्तु जितनी चाहिये, जब चाहिये, वही वस्तु उतनी ही और उसी समय भगवान्में मिल सकती है; क्योंकि वे सदा-सर्वदा उनमें अनन्तरूपसे भरी हैं और चाहे जितनी निकाल ली जानेपर भी कभी उनकी अनन्ततामें कमी नहीं आती। अतएव हमारा मन जिस किसीमें लगता हो, उसीको दृढ़ विश्वासके साथ भगवान्में देखना चाहिये। फिर हम कभी भगवान्से अलग नहीं होंगे और भगवान् हमसे अलग नहीं होंगे; क्योंकि सब कुछ भगवान्से, भगवान्में है तथा भगवत्स्वरूप ही है। भगवान्ने कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता। भाव यह कि वह मुझे देखता रहता है और मैं उसे देखता रहता हूँ।'

इसीके साथ हमें अपनेको ऐसा बनाना चाहिये, जो भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय हो। गीतामें बारहवें अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक भगवान्‌ने अपने प्रिय भक्तके लक्षणोंका वर्णन किया है और अन्तमें कहा है—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

(गीता १२। २०)

'परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं अर्थात् उस प्रकारका अपना जीवन बनानेमें तत्पर होते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

इसलिये हमें अपनेमें उन सब भावोंकी दृढ़ स्थापना करनी चाहिये, जो भगवान्‌को प्रिय हैं। ऐसा होनेपर जब भगवान् हमसे प्रेम करने लगेंगे, उनका मन हममें लगा रहेगा—(प्रेम तो वे अब भी करते हैं; परंतु हमें उसका अनुभव नहीं होता, उनके अनुकूल आचरण करनेसे अर्थात् उन सब प्रिय गुणोंको जीवनमें उतारनेसे हमें भगवान्‌के प्रेमका अनुभव होने लगेगा) तब हमारा मन भी उनमें लगा रहेगा। हमें तो बस, विनोदपूर्वक भगवान्‌से यही भाव रखना चाहिये और यही मन-ही-मन कहना चाहिये कि 'प्रभो! न तो मैं दूसरेको देखूँगा और न आपको देखने दूँगा।

आवहु मेरे नयनमैं पलक बंद करि लेउँ।
ना मैं देखौं और कौं ना तोहि देखन देउँ॥
नारायन जाके हृदै सुंदर स्याम समाय।
फूल-पात-फल-डार मैं ताकौं वही दिखाय॥



अनन्यभक्तिका स्वरूप और रहस्य

समय बहुत ही अमूल्य है, अतः एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोना चाहिये। रात्रिमें सोनेके समय भगवान्‌के नामका जप और ध्यान करते-करते ही सोना चाहिये। इस प्रकार सोनेसे रातका शयनकाल भी साधनकाल बन जाता है।

दिनमें चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते जैसे गोपियाँ अपना समय बिताया करती थीं, उसी तरह समय बिताना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥
(१०।४४।१५)

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें

झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देने आदि कार्योंको करते समय प्रेम-पूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णका गान किया करती हैं, इस प्रकार सदा श्रीकृष्णमें ही चित्त लगाये रखनेवाली वे व्रजकी गोपियाँ धन्य हैं।'

इसी प्रकार हमलोगोंको भी हर समय वाणीसे भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन तथा मनसे भगवान्‌का ध्यान करना चाहिये; इसमें जरा भी कमी नहीं रहनी चाहिये।

प्रातः और सायंकाल—दोनों कालोंमें साधनके लिये नियमितरूपसे भी हमें समय लगाना चाहिये। नियमितरूपसे हम जो समय लगावें, उसे भी बहुत ही मूल्यवान् बना लेना चाहिये। भगवान्‌के नाम-जपके साथ निम्नलिखित छः बातोंका विशेषरूपसे ध्यान रक्खा जाय तो नाम-जप बहुत मूल्यवान् बन सकता है—

(१) नाम-जप हो सके तो मनसे, नहीं तो, श्वासके द्वारा करे; वह भी न हो सके तो जिह्वाके द्वारा ही किया जाय।

(२) नाम-जपके समय, जिसका नाम है, उस नामी (भगवान्) को याद रखना चाहिये।

(३) नाम-जप गुप्तरूपसे करे। किसीको यह नहीं कहना चाहिये कि मैं इतना जप करता हूँ।

(४) नाम-जप श्रद्धा-विश्वासपूर्वक करना चाहिये।

(५) नाम-जप प्रेममें विह्वल होकर करना चाहिये।

(६) नाम-जप निष्कामभावसे करना चाहिये।

इनमेंसे एक-एक भाव मूल्यवान् है। श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभाव—इनमेंसे तो एक भी साथ रहे तो उससे हमारा संसारसागरसे उद्धार हो सकता है।

भगवान्‌का ध्यान करनेके समय ये छः बातें साथमें होनी चाहिये—

(१) भगवान्‌के नामका जप।

(२) संसारसे वैराग्य।

(३) भगवान्‌के गुण, प्रभाव और लीलाकी स्मृति।

(४) इन सबमें भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको समझना।

(५) निरन्तरता।

(६) निष्कामभाव।

इस प्रकार यदि ध्यान किया जाय और वह ध्यान यदि एक क्षण भी हो जाय तो उसके समान न तप है, न तीर्थ है, न व्रत है, न दान है, न यज्ञ है—कुछ भी नहीं है।

इस प्रकार अपने समयको मूल्यवान् बनाना चाहिये।

गीताका पाठ इस प्रकार करना चाहिये—एक मनुष्य अठारहों अध्यायोंके मूल श्लोकोंका पाठ करता है और दूसरा मनुष्य केवल एक अध्यायका ही अर्थ और भाव समझकर पाठ करता है तो पहलेवालेकी अपेक्षा वह एक अध्यायका पाठ करनेवाला श्रेष्ठ है। अर्थ और भावको समझकर हृदयमें धारण करे और फिर उसे कार्यान्वित करे यानी कार्यरूपमें परिणत करे तो वह सबसे उत्तम है। यही बात रामायण आदिके पाठके विषयमें भी समझनी चाहिये।

पूजा हमें मानसिक करनी चाहिये, मानो प्रत्यक्ष ही कर रहे हैं। भगवान्‌का ध्यान करके पूजा करे, भोग लगाये, आरती करे, फिर स्तुति-प्रार्थना करे। ये सब भी भावसे मन्त्रोंका अर्थ समझते हुए, श्रद्धा-भक्तिपूर्वक, निष्कामभावसे और प्रेममें विह्वल होकर करे। चित्रपट आदिके सहारे यदि ध्यान किया जाय तो उस-उस चित्रपट या मूर्तिका नहीं, साक्षात् भगवान्‌का ही ध्यान करे।—यह ध्यान और पूजा भी मूल्यवान् है; इस पूजामें दूसरी जगह मन जानेकी गुंजाइश नहीं; क्योंकि मानसिक पूजामें भगवान्‌का स्वरूप भी मानसिक ही होता है। जिस शरीरसे भगवान्‌की हम पूजा करते हैं, वह भी मानसिक होता है। उसकी सामग्री भी मानसिक होती है और जो क्रिया की जाती है, वह भी मानसिक ही होती है। इस प्रकारकी पूजामें मनके इधर-उधर जानेकी सम्भावना ही नहीं रहती।

भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना भी भावसहित, श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभावपूर्वक करे। भगवान्‌के सम्बन्धमें ऐसा विश्वास होना चाहिये कि भगवान् हैं, बहुतोंको मिले हैं, मिलते हैं और मुझे भी मिलेंगे। इस प्रकार भगवान्‌के अस्तित्व एवं सुलभताके विषयमें विश्वास रखना चाहिये।

विवेकपूर्वक वैराग्य हो और वैराग्यपूर्वक उपरति हो तो शीघ्र संसारसे वृत्तियाँ हटकर परमात्मामें अपने-आप ही लग जाती हैं। चित्तकी प्रीति और चित्तकी वृत्ति—दोनों एक ही जगह रहती हैं। जहाँ हमारी प्रीति होगी, वहाँ हमारे चित्तकी वृत्ति अपने-आप ही

लग जायगी, अतः भगवान्‌में प्रेम बढ़ाना चाहिये। प्रेममें प्रधान हेतु श्रद्धा है और श्रद्धामें प्रधान हेतु अन्तःकरणकी शुद्धि है।

श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
(१७।३)

'हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है; इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है।'

श्रद्धा भी साधारण नहीं, अतिशय—परम श्रद्धा होनी चाहिये। परम श्रद्धा उसे कहते हैं, जो प्रत्यक्षसे भी बढ़कर हो। कोई बात प्रत्यक्षमें तो नहीं दीखती, किंतु श्रद्धास्पदके वचनोंमें ऐसा विश्वास होना चाहिये कि वह वस्तु प्रत्यक्षसे भी बढ़कर स्पष्ट दीखने लगे। राजा द्रुपद और उनकी पत्नीकी श्रीशिवजीके वचनोंमें ऐसी ही श्रद्धा थी। शिखण्डीके विषयमें श्रीशिवजीने उनसे कह रक्खा था कि वह प्रथम लड़कीके रूपमें उत्पन्न होकर फिर लड़का बन जायगा। फलतः राजा द्रुपदको लड़की हुई, किंतु उन्होंने उसे लड़का ही समझा और दशार्ण देशके राजा हिरण्यवर्मा-की लड़कीके साथ उसका विवाह भी कर दिया। प्रत्यक्ष लड़की रहते हुए भी उसे लड़का मान लिया। ऐसा ही विश्वास भगवान्‌के वचनोंमें तथा गीताके वचनोंमें होना चाहिये।

ज्ञान, वैराग्य, एकान्तवास, निष्कामभाव, नाम-जप, श्रद्धा

और प्रेम—ये सभी बहुत मूल्यवान् हैं। इनके संयोगसे भगवान्‌का ध्यान अपने-आप होने लगता है; क्योंकि ये सब ध्यानमें सहायक हैं।

अन्तःकरणकी शुद्धि होती है निष्काम कर्मसे तथा भगवान्‌के नामके जप और ध्यानसे। अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर भगवान्‌में श्रद्धा-भक्ति होती है और श्रद्धा होनेसे प्रेम होता है—'बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।'—प्रेमके बढ़नेपर मनुष्य भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको यथार्थरूपसे समझ जाता है। भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य—सभी मूल्यवान् हैं। भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम—इन सबमें गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका दर्शन किया जाय और गुण-प्रभावका भी तत्त्व-रहस्य समझमें आ जाय तो हृदयका भाव अपने-आप उच्च कोटिका हो जाता है तथा साधकका जीवन ही पलट जाता है, उसकी अवस्थामें विलक्षण परिवर्तन हो जाता है।

ये सब बातें सुन-सुनकर चित्तमें हर्ष हो, प्रसन्नता हो, शान्ति मिले, आनन्दकी अनुभूति हो, भगवान्‌के मिलनेकी आशा हो जाय तो इससे भी साधककी अवस्था बहुत शीघ्र बदल सकती है और मिनटोंमें भगवान् मिल सकते हैं।

जब चित्तकी अवस्था बदल जाती है, उस समय हृदय प्रफुल्लित हो जाता है, वाणी गद्गद हो जाती है, कण्ठ रुक जाता है, शरीरमें रोमाञ्च होने लगता है, नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगता है, नासिकासे भी जल बहने लगता है, उसके मन, बुद्धि और इन्द्रिय—सबमें आनन्दकी बाढ़-सी आ जाती है।

ऐसी अवस्था न हो तो भगवान्‌के वियोगमें दुःख होना चाहिये और दुःखमें ऐसा अनुभव होना चाहिये कि भगवान्‌के बिना जीवन व्यर्थ है। विरहकी व्याकुलतामें उसकी वैसी ही दशा हो जानी चाहिये, जैसी भरतजी महाराजकी श्रीरामके विरहमें हुई थी। भरतजीकी दशाका चित्रण करते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥

(राम० उत्तर० १ क)

इसके लिये हमलोगोंको सद्गुण, सदाचार, ईश्वरकी भक्ति, ज्ञान और वैराग्य—इन सबको अमृतके समान समझकर हर समय इनका सेवन करना चाहिये और इनके विपरीत दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, आलस्य, प्रमाद, निद्रा और भोग—इन सबको साधनमें महान् विघ्न समझकर इनका स्वरूपसे सर्वथा त्याग कर देना चाहिये; इन्हें क्षणभरके लिये भी आश्रय नहीं देना चाहिये।

भगवान्‌के मिलनेमें जो एक-एक क्षणका विलम्ब हो रहा है, वह युगके समान प्रतीत होना चाहिये। भरतजी जब भगवान्‌से मिलनेके लिये चित्रकूट जा रहे थे, उस समय वहाँ पहुँचनेमें जो विलम्ब हो रहा था, वह उन्हें असह्य हो रहा था। वैसे ही हमलोगोंको भगवान्‌के मिलनेमें जो विलम्ब हो रहा है, वह असह्य होना चाहिये। जलके वियोगमें मछलीकी जैसी दशा होती है, जैसी तड़पन होती है, वैसी तड़पन भगवान्‌के विरहमें होने लगे तो फिर भगवान् मिलनेमें विलम्ब नहीं करते।

साथ ही हमलोगोंको एकनिष्ठ होना चाहिये। जैसे पपीहा एकनिष्ठ होता है, वह आकाशसे गिरी हुई बूँदको ही ग्रहण करता है, भूमिपर पड़ा जल नहीं पीता, चाहे वह गङ्गाजल ही क्यों न हो, उसी प्रकार एक परमात्माके सिवा और कोई भी चीज हमारे कामकी नहीं होनी चाहिये।

ध्यानमें हमारी चकोर पक्षीकी तरह एकाग्रता होनी चाहिये। जब पूर्णिमाका चन्द्रमा उदय होता है, तब चकोर पक्षी उदय होने-से लेकर अस्त होनेतक उसकी ओर देखता ही रहता है, चाहे प्राण ही क्यों न चले जायँ। वह उसे एकटक देखता ही रहता है, उसके अमृतमय स्वरूपका रसपान करता ही रहता है। इसी प्रकार भगवान्‌का ध्यान करते समय उनकी रूप-माधुरीका रसपान करते रहना चाहिये।

रुक्मिणीकी तरह भगवान्‌के विरहमें हमारी व्याकुलता होनी चाहिये। हमें ऐसा निश्चय करना चाहिये कि भगवान् नहीं आयेंगे तो मैं अपने प्राणोंका त्याग कर दूँगा। ऐसी परिस्थितिमें भगवान्‌को बाध्य होकर उस प्रेमीके पास पहुँचना ही पड़ता है। अतः ऐसी निष्ठा होनी चाहिये कि भगवान् नहीं आयेंगे तो जीकर ही क्या करना है। इसका यह मतलब कदापि नहीं कि हमें आत्महत्या कर लेनी चाहिये; अपितु भगवान्‌के विरहकी व्याकुलतामें हमारी ऐसी दशा हो जानी चाहिये कि उनके दर्शनके बिना हमारे प्राण निकलनेके लिये छटपटाने लगें।

श्रीभरतजी कहते हैं—

बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥
(राम० उत्तरकाण्ड)

'अवधि बीत जानेपर भी भगवान् नहीं पहुँचें और फिर भी मैं जीता रहूँ तो संसारमें मेरे समान पापी कौन होगा?'

ऐसी स्थिति प्राप्त करनेके लिये हमें चाहिये कि जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँसे मनको हटाकर भगवान्‌में लगाते रहें। भगवान्‌ने कहा है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
(गीता ६।२६)

'यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही निरुद्ध करे। अर्थात् जहाँ मन जाय वहाँसे वशमें करके परमात्मामें नियुक्त करे।'

अथवा जहाँ मन जाय, वहीं परमात्माको देखे—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(गीता ६।३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

क्योंकि भगवान्‌ने कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९ । २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ ।'

भक्त चार प्रकारके होते हैं—अर्थार्थी, आर्त्त, जिज्ञासु और ज्ञानी । इनमें ज्ञानी श्रेष्ठ है । भगवान् कहते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७ । १७)

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है ।'

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥

(गीता ७ । १८)

'ये सभी उदार (श्रेष्ठ) हैं, परंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है ।'

इस प्रकार उक्त चारों भक्तोंमें ज्ञानीकी भगवान्‌ने विशेष

प्रशंसा की है, एकनिष्ठ ज्ञानीको श्रेष्ठ और अपना अतिशय प्यारा कहा है; क्योंकि भगवान्‌का यह विरद है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४ । ११)

'जो भक्त मुझको जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ ।'

अतः तन्मय होकर भगवान्‌को भजना चाहिये ।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(गीता ६ । ३१)

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है ।' क्योंकि उसकी दृष्टिमें मेरे सिवा दूसरी वस्तु ही नहीं है । लोगोंकी दृष्टिमें तो वह संसारमें रहता हुआ सब काम करता है; पर वास्तवमें वह संसारमें स्थित नहीं है, मुझमें ही स्थित है ।

इन सब बातोंको समझकर अपनी स्थिति ज्ञानी महात्माओंकी-जैसी बनानी चाहिये । उच्चकोटिके जो साधक ज्ञानी भक्त हैं, वे निरन्तर भगवान्‌को भजते हैं; अतः उनके लिये भगवान् सुलभ हैं । भगवान्‌ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८ । १४)

'अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

इसलिये भगवान् कहते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥
(गीता १० । ८)

'मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है—इस प्रकार समझकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं ।'

किस प्रकारसे भजते हैं, इसका उत्तर भगवान्के ही शब्दोंमें सुनिये—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
(गीता १० । ९)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं ।'

इस प्रकार वे भक्त मुझे नित्य-निरन्तर प्रेमसे भजते हुए मेरी कृपासे मुझे प्राप्त कर लेते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(गीता १०।१०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(गीता १२।७)

'अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ यानी केवट बनकर इस संसारसागरसे उनको पार कर देता हूँ; इसमें विलम्बका काम नहीं।'

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(गीता ९।२२)

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।' अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' है और प्राप्तकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है। अर्थात् जहाँतक वे साधन कर चुके हैं, उसकी तो रक्षा

करता हूँ और जो उनमें कमी है, उसकी पूर्ति करता हूँ। दूसरे शब्दोंमें आजतक जिस वस्तुकी—परम पदकी उन्हें प्राप्ति नहीं हुई, (उसके लिये भगवान् वादा करते हैं—कि) उसे मैं प्राप्त करा देता हूँ।

भगवान्‌की इस घोषणापर ध्यान देकर हमलोगोंको ऐसा ही बनना चाहिये। इस प्रकारकी अनन्यभक्तिसे मनुष्य जो चाहता है, वही उसे मिल जाता है। भगवान् कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥
(गीता ११। ५४-५५)

'परंतप अर्जुन ! अनन्यभक्तिके द्वारा तो इस प्रकार चतुर्भुज-रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ। अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

इसीका नाम एकनिष्ठ भक्ति, अव्यभिचारिणी भक्ति, अनन्य शरण, अनन्य प्रेम और अनन्य भक्ति है।

ये सब बातें जो भगवान्‌ने कही हैं, इनके अनुसार मनुष्यको अपना जीवन बनाना चाहिये। इस प्रकारका जीवन बनाकर ही

संसारमें जीना धन्य है । संसारके सभी पदार्थ लोगोंकी दृष्टिमें संसारी हैं, अपनी दृष्टिमें नहीं । अपनी दृष्टिमें तो जो कुछ भी पदार्थ हैं, वे सब भगवान्‌के हैं तथा मैं भगवान्‌का और भगवान् मेरे हैं, मेरी सारी चेष्टा भगवान्‌के लिये ही है—इस प्रकार समझे ।

अथवा सबको भगवान्‌का ही स्वरूप समझे । गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
(७ । १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ।'

अतएव या तो सबमें भगवान्‌को देखे या सबको भगवान् समझता रहे और आनन्दमें मुग्ध होता रहे । इससे स्थिति नीची हो ही क्यों ?

संसारसे अपना प्रयोजन ही क्या है ? चाहे कुछ भी हो, अपने तो यही समझे कि सब भगवान्‌का है, मैं भगवान्‌का हूँ, सब भगवान्‌में है, मेरी सारी चेष्टा भगवान्‌की प्रेरणासे—उनकी आज्ञासे ही हो रही है या मैं उनके लिये ही सब कुछ कर रहा हूँ, भगवान् जो करवा रहे हैं वही कर रहा हूँ । ये सब भाव भगवान्‌के दर्शनमें सहायक हैं । अतः इस प्रकार समझकर हर समय सर्वत्र भगवान्‌का अनुभव करे, उनको कभी न भूले ।



अवतार और अधिकारी महापुरुषोंका अलौकिक प्रभाव

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥

(गीता ४।७)

भगवान् कहते हैं—'हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ।'

इसपर कितने ही भाई हमसे पूछा करते हैं कि 'जब-जब धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि होती है, तब-तब भगवान् यदि अवतार लेते हैं तो इस समय तो धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि विशेषरूपसे हो रही है; फिर भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते ? क्योंकि इस समय धर्म-पालन करनेवाले लोग संसारमें बहुत ही कम हैं; यदि कहीं कोई धर्म-पालन करता है तो वह आंशिकरूपसे ही करता है एवं यज्ञ, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, दुखी प्राणियोंकी सेवा, बड़ोंका आदर-सत्कार, शौचाचार-सदाचारका पालन आदि तो बहुत ही कम देखनेमें आते हैं और जो देखनेमें आते हैं, उनमें भी सूक्ष्मतासे विचार करके देखनेपर कहीं-कहीं तो शौचाचार-सदाचाररूप धर्मके नामपर दम्भ ही दृष्टिगोचर होता है। यह तो धर्म-हानिकी बात हुई। इसके सिवा दूसरी ओर पापाचारकी विशेषरूपसे वृद्धि हो रही है। चोरी, झूठ, कपट, बेईमानी, घूसखोरी आदि दिन-पर-दिन बढ़ रहे हैं। चोरबाजारी करना, इनकम टैक्स और सेल्स टैक्सकी चोरी करना,

झूठे बहीखाते बनाना तो मामूली-सी बात हो रही है; इन सबको तो बहुत-से लोग पाप ही नहीं समझते। अंडे और मांस खाने तथा मदिरा पीनेसे शास्त्रोंमें बड़ा भारी पाप माना गया है; किंतु इनको भी बहुत-से लोग व्यवहारमें लाने लगे हैं। कोई औषधके नामपर, कोई होटलमें जाकर और कोई भोग-कामनाकी पूर्तिके लिये इनको व्यवहारमें लाने लगे हैं और उसमें पाप भी नहीं समझते। कई एक पुरुष तो परस्त्रीगमनको भी पाप नहीं मानते। उनमें कितने ही तो छिपकर और कितने ही प्रकटरूपमें यह दुराचार करते हैं। बहुत-से लोग सट्टा-फाटका और जुआ खेलते हैं, जिनके सम्बन्धमें शास्त्रकी घोषणा है कि ये देश और राष्ट्रके लिये महान् हानिकारक हैं। मांस और चमड़ेके लिये गौओंकी हिंसा बहुत अधिक मात्रामें हो रही है; क्योंकि चमड़ा और सूखा मांस विदेशोंमें अत्यधिक परिमाणमें भेजा जाता है। मच्छर, खटमल और टिड्डी आदि क्षुद्र प्राणियोंकी हिंसाको तो बहुत-से लोग हिंसा ही नहीं समझते। ऐसी परिस्थितिमें भगवान् क्यों नहीं अवतार लेते ?'

इसके उत्तरमें हम यही कहते हैं कि भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते—इसे तो भगवान् ही जानें; इसका निर्णय करनेकी सामर्थ्य हममें नहीं है। फिर भी विचार करनेसे यह अनुमान होता है कि जब युगधर्मकी अपेक्षा अधिक मात्रामें पाप बढ़ जाता है, तभी भगवान् अवतार लिया करते हैं। सत्ययुगमें धर्मके चार चरण रहते हैं, त्रेतायुगमें तीन, द्वापरयुगमें दो और कलियुगमें एक ही चरण रह जाता है (महा० बन० अ० १४९)। जब

सत्ययुगमें धर्मका ह्रास होने लगा, तब भगवान्‌ने श्रीनृसिंह आदि रूपोंमें प्रकट हो हिरण्यकशिपु आदि दुष्टोंका संहार करके धर्मकी स्थापना की। त्रेतायुगके अन्तमें जब राक्षसोंने ऋषि-मुनियोंको मारकर उनकी हड्डियोंका ढेर लगा दिया, तब भगवान्‌ने श्रीरामरूपमें प्रकट हो खर-दूषण, त्रिशिरा, कुम्भकर्ण, मेघनाद, रावण आदि राक्षसोंमेंसे, किसीका स्वयं वध करके और किसीका दूसरेके द्वारा वध करवाकर धर्मकी स्थापना की, जिसके कारण आज भी संसारमें 'रामराज्य'की महिमा गायी जाती है। द्वापरयुगके अन्तमें जब दुष्टोंके द्वारा घोर अत्याचार होने लगा, तब भगवान्‌ने श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हो पूतना, वत्सासुर, बकासुर, अघासुर, धेनुकासुर, प्रलम्बासुर, अरिष्टासुर, कंस, जरासंध, कालयवन, शिशुपाल, दुर्योधन, दु:शासन, शकुनि, जयद्रथ आदि दुष्टोंमेंसे, किन्हींका स्वयं संहार करके और किन्हींका दूसरोंके द्वारा संहार करवाकर तथा महाराज युधिष्ठिरको राज्य दिलाकर धर्मकी स्थापना की।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि जब-जब युगधर्मके लक्षणोंकी अपेक्षा पाप अधिक बढ़ जाता है, तब-तब भगवान् अवतार लेते हैं। जब सत्ययुगमें धर्मपालनके चार चरणोंमें कमी आयी, त्रेतामें उसके तीन चरणोंमें कमी आ गयी और द्वापरयुगमें दो चरणोंमें भी कमी आ गयी, तब भगवान्‌को अवतार लेना पड़ा। अब कलियुगमें धर्मका एक ही चरण रह गया है, इसका भी जब बिल्कुल ह्रास हो जायगा, तब कलियुगके अन्तमें भगवान् कल्किरूपमें अवतार लेंगे—ऐसी बात श्रीमद्भागवतमें कही गयी है (देखिये स्कन्ध १२, अध्याय २, श्लोक १८)।

घोर कलियुगका वर्णन करते हुए गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने अपने रामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें लिखा है—

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी॥
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥
मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥
सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥
जो कह झूँठ मसखरी जाना। कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना॥
निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥
जाकें नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥
असुभ बेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥
(९७। १-४; ९८ क)

'कलियुगमें न वर्णधर्म रहता है, न चारों आश्रम रहते हैं। सभी स्त्री-पुरुष वेदके विरोधमें लगे रहते हैं। ब्राह्मण वेदोंको बेचनेवाले और राजा प्रजाका शोषण करनेवाले होते हैं। वेदकी आज्ञा कोई नहीं मानता। जिसको जो अच्छा लग जाय, वही मार्ग है। जो डींग मारता है, वही पण्डित है। जो मिथ्या आरम्भ करता (आडम्बर रचता) है और जो दम्भमें रत है, उसीको कलियुगमें सब कोई संत कहते हैं। जो जिस किसी प्रकारसे दूसरेका धन हरण कर ले, वही बुद्धिमान् है। जो दम्भ करता है, वही बड़ा आचारी है। जो झूठ बोलता है और हँसी-दिल्लगी करना जानता है, कलियुगमें वही गुणवान् कहा जाता है। जो आचारहीन है और वेदमार्गको छोड़े हुए है, कलियुगमें वही ज्ञानी और वही वैराग्यवान्

है । जिसके बड़े-बड़े नख और लंबी-लंबी जटाएँ हैं, वही कलियुगमें प्रसिद्ध तपस्वी है । जो अमङ्गल वेश और अमङ्गल भूषण धारण करते हैं और भक्ष्य-अभक्ष्य (खानेयोग्य और न खानेयोग्य) सब कुछ खा लेते हैं, वे ही योगी हैं, वे ही सिद्ध हैं और वे ही मनुष्य कलियुगमें पूज्य हैं ।'

इस समय भी इस प्रकारके अधर्मका सूत्रपात तो होने लगा है, किंतु अभी धर्मका सर्वथा ह्रास नहीं हुआ है ।

आजकल भी दम्भ और पाखण्ड बढ़ता जा रहा है । दम्भी लोग धर्मके नामपर भोले-भाले नर-नारियोंको अपने चंगुलमें फँसा लेते हैं । कई स्त्रियाँ भी अपनेको ज्ञानी, महात्मा, योगी और ईश्वरकी शक्ति घोषित करती हैं तथा उनके अनुयायी लोग भी कहते हैं कि ये साक्षात् ईश्वरकी शक्ति हैं, ईश्वर इनमें प्रकट हुए हैं, ईश्वरने नारीके रूपमें अवतार लिया है । इस प्रकारका भ्रम फैलाकर वे स्त्रियाँ अपने मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाके लिये अपनेको पुजवाती हैं तथा लोगोंकी धन-सम्पत्तिका अपहरण करती हैं । कहीं-कहीं गृहस्थ और संन्यास-आश्रममें स्थित पुरुष भी दम्भ-पाखण्ड करते हैं । कोई तो अपनेको योगिराज कहते हैं, कोई ज्ञानी महात्मा नामसे अपनेको घोषित करते हैं । कोई-कोई अपनेको अधिकारी (कारक) महापुरुष कहते हैं एवं कोई-कोई तो अपनेको ईश्वरका अवतार ही कहते हैं । यों कहकर वे अपने फोटो और पैरोंको पुजवाते, अपना नाम जपवाते और अपने उच्छिष्टको महाप्रसादके नामपर वितीर्ण करते हैं । इस प्रकार भोले-भाले पुरुषों

और स्त्रियोंको धोखा देकर उनके सतीत्व और धन-सम्पत्तिका अपहरण करते हैं। जब यह दम्भ-पाखण्ड अतिमात्रामें बढ़ जाता है, धर्मका अत्यन्त ह्रास होकर पापोंकी वृद्धि हो जाती है, तब भगवान् अवतार लेते हैं। हमारी समझमें तो अभी अवतार लेनेका समय नहीं आया है, इसलिये कोई दम्भी अपनेको अवतार या अधिकारी (कारक) महापुरुष घोषित करे तो उसके भुलावेमें आकर अपने धर्म और धन-सम्पत्तिका विनाश नहीं करना चाहिये।

वास्तवमें ईश्वरके अवतारके स्वरूप, जन्म, उद्देश्य, प्रभाव, गुण, कर्म और स्वभाव दिव्य, अलौकिक और अत्यन्त विलक्षण होते हैं। उनके श्रीविग्रहकी धातु चेतन होती है। उनका शरीर दीखनेमें मनुष्य-जैसा होनेपर भी अतिशय विलक्षण होता है; वह रोग-शोक-मोह और दोषोंसे रहित, अलौकिक एवं दिव्य होता है। उनका जन्म मनुष्योंकी भाँति नहीं होता। गीतामें भगवान्‌ने बतलाया है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
(४। ६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

यहाँ 'अजोऽपि सन्' कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैं जन्म लेता-सा प्रतीत होता हूँ, वास्तवमें जन्म नहीं लेता।

श्रीमद्भागवतमें वर्णन है कि माता देवकीके सामने भगवान् चतुर्भुज-रूपमें ही प्रकट हुए थे। उनके उस अलौकिक रूपको देखकर माता देवकीने, कंस उन्हें तंग न करे इसलिये, उनसे यह प्रार्थना की—

उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्।
शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ३। ३०)

'विश्वात्मन्! आपका यह रूप अलौकिक है। आप शङ्ख, चक्र, गदा और कमलकी शोभासे युक्त अपने इस चतुर्भुज रूपको छिपा लीजिये।'

तब भगवान्—

पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३। ४६ का उत्तरार्ध)

'माता-पिताके देखते-देखते अपनी मायासे तत्काल एक साधारण बालक-से हो गये।'

भगवान्ने वहाँ वसुदेव-देवकीसे कहा कि 'मैंने आपको यह रूप इसलिये दिखलाया है कि आपको मेरे पूर्व अवतारोंका स्मरण हो जाय। यदि मैं ईश्वररूपमें प्रकट न होता तो केवल मनुष्य-शरीरसे मेरे अवतारकी पहचान नहीं हो पाती।' एवं वहाँ भगवान्ने अपनेको यशोदाके यहाँ पहुँचानेके लिये वसुदेवजीको प्रेरणा भी की। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान्का जन्म नहीं होता। दूसरी बात वहाँ यह भी दिखलायी गयी है कि भगवान्की योगशक्तिके प्रभावसे वसुदेवजीकी हथकड़ी-बेड़ियाँ खुल गयीं, दरवाजे और ताले खुल गये,

पहरेदारोंको निद्रा आ गयी तथा वसुदेवजीके श्रीकृष्णको लेकर गोकुल जाते समय यमुनाका बढ़ा हुआ जल अत्यन्त कम हो गया, यमुनाने उनके लिये मार्ग दे दिया एवं यशोदाको निद्रा आ गयी। जब वसुदेवजी श्रीकृष्णको यशोदाकी शय्यापर सुलाकर उनके बदलेमें योगमायाको, जो वहाँ कन्याके रूपमें प्रकट हुई थीं, वहाँसे लेकर कारागारमें आ गये, तब कारागारके फाटक और ताले अपने-आप बंद हो गये (श्रीमद्भा० १० । ३)। यह सब भगवान्‌का ही प्रभाव है। ऐसी शक्ति मनुष्योंमें नहीं होती।

'अव्ययात्मा अपि सन्' कहकर भगवान्‌ने यह भाव प्रकट किया है कि मेरा विनाश होता-सा प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें मेरा विनाश नहीं होता; क्योंकि मेरा स्वरूप अक्षय है। भगवान् श्रीकृष्ण जब परम धाममें पधारे, तब उस शरीरसे ही परम धाममें गये। श्रीमद्भागवतमें आया है—

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्॥
(११ । ३१ । ६)

'भगवान्‌का श्रीविग्रह उपासकोंके ध्यान और धारणाका मङ्गलमय आधार और समस्त लोकोंके लिये परम रमणीय आश्रय है। इसलिये उन्होंने (योगियोंके समान) अग्नि-देवतासम्बन्धी योग-धारणाके द्वारा उसको जलाया नहीं, सशरीर अपने धाममें पधार गये।'

श्रीमद्भगवद्गीताके एकादश अध्यायमें देखा जाता है कि अर्जुनके

प्रार्थना करनेपर भगवान्‌ने उनको अपने विश्वरूपका दर्शन कराया और पुनः प्रार्थना करनेपर उसे अदृश्य कर लिया। न तो विश्वरूपका जन्म हुआ और न विनाश हुआ, केवल आविर्भाव और तिरोभाव हुआ। अतः जब भगवान् अवतार लेते हैं, तब प्रकट होते हैं और फिर अन्तर्धान हो जाते हैं।

इसी प्रकार ध्रुवजीको भगवान्‌ने चतुर्भुजरूपमें प्रकट होकर दर्शन दिया और फिर अन्तर्हित हो गये (श्रीमद्भा० ४ । ९)।

ऐसे ही भगवान् श्रीरामावतारमें माता कौशल्याके सम्मुख चतुर्भुजरूपमें प्रकट हुए और फिर सशरीर परमधामको चले गये। श्रीवाल्मीकीय रामायणमें कहा गया है—

पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः।
विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः॥
(उत्तर० ११० । १२)

'ब्रह्माजीके वचन सुनकर परम बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्रजीने कर्तव्य निश्चय करके भाइयोंके साथ शरीरसहित अपने विष्णुसम्बन्धी तेजमें प्रवेश किया।'

इसलिये यह समझना चाहिये कि भगवान्‌का स्वरूप अविनाशी है, उसका कभी विनाश नहीं होता।

तथा 'भूतानामीश्वरोऽपि सन्' कहनेका अभिप्राय यह है कि भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंके ईश्वर होते हुए भी मनुष्य-से दिखायी पड़ते हैं, किंतु वास्तवमें मनुष्य नहीं हैं। अवतार-कालमें भगवान्‌ने जगह-जगह अपनी ईश्वरता दिखलायी है। जब ब्रह्माजीको मोह हो

गया कि श्रीकृष्ण मनुष्य हैं या ईश्वर, तब वे भगवान्‌की परीक्षाके लिये उनके बछड़ों और ग्वाल-बालोंको चुराकर ले गये। उस समय उन बछड़ों और गोप-बालकोंके रूपमें स्वयं प्रकट होकर भगवान्‌ने अनेक रूप धारण कर लिये। फिर ब्रह्माजीका मोह दूर हो जानेपर उन सब रूपोंको अदृश्य भी कर लिया (श्रीमद्भा० १० । १३)।

जब अक्रूरजी भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामको मथुरा ले जा रहे थे, उस समय वे यमुनाके ह्रदमें स्नान करने गये तो वहाँ भगवान्‌ने उनको जलमें भी अपना स्वरूप दिखाया और रथपर भी वैसे ही स्वरूपका दर्शन कराया एवं दुबारा डुबकी लगानेपर शेषशायी विष्णुरूपका दर्शन कराया (श्रीमद्भा० १० । ३९)।

श्रीरामावतारमें भगवान् रामने भी अनेक रूप धारण किये थे—

अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथाजोग मिले सबहि कृपाला॥
कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी। किए सकल नर नारि बिसोकी॥
छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥
(श्रीराम० उत्तर० ५ । ३-४)

‘उस समय कृपालु श्रीरामजी असंख्य रूपोंमें प्रकट हो गये और सबसे एक ही साथ यथायोग्य मिले। रघुवीर श्रीरामचन्द्रजीने कृपापूर्ण दृष्टिसे देखकर सब नर-नारियोंको शोकसे रहित कर दिया। भगवान् क्षणमात्रमें सबसे मिल लिये। परंतु हे उमा! यह रहस्य किसीने नहीं जाना।’

ये सब कार्य मनुष्यकी शक्तिके बाहर हैं। इनको भगवान् ही कर सकते हैं, दूसरा कोई नहीं।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।

—इस कथनका यह भाव है कि भगवान् प्रकृतिको अपने अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होते हैं। यह भगवान्‌के जन्मकी विलक्षणता है। हमलोग संसारमें अपने पुण्य-पापोंके अनुसार प्रकृतिके पराधीन होकर जन्म लेते हैं और भगवान् स्वयं प्रकृतिको वशमें करके प्रकट होते हैं। उनके जन्ममें स्वतन्त्रता है और हमलोगोंके जन्ममें परतन्त्रता है। प्रकृति उनके वशमें रहती है और हमलोग प्रकृतिके वशमें रहते हैं। उनका शरीर दिव्य, चिन्मय, अलौकिक, पापों और दुर्गुणोंसे रहित, चिन्ता-शोक-जरा-मृत्यु तथा रोगसे मुक्त होता है और हमलोगोंके शरीर जड तथा पूर्वोक्त दोषोंसे युक्त होते हैं। उनका प्राकटय धर्म, ज्ञान, प्रेम, सदाचार, श्रद्धा, भक्तिके प्रचारके द्वारा संसारके उद्धारके उद्देश्यसे होता है; किंतु हमलोगोंका जन्म शुभाशुभ कर्मफल भोगनेके लिये होता है। अतः उनके और हमलोगोंके जन्ममें अत्यन्त अन्तर है। उनके जन्म, कर्म और उद्देश्य भी अलौकिक होते हैं। उन्होंने स्वयं कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता ४। ९)

'हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता, किंतु मुझे ही प्राप्त होता है।'

भगवान्‌के जन्मकी दिव्यता तो ऊपर बतलायी जा चुकी, अब कर्मकी दिव्यता भी बतलायी जाती है। भगवान्‌के कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान, स्वार्थ, कामना, आसक्ति, ममता आदिका लेश भी नहीं रहता; उनके कर्म सर्वथा शुद्ध और केवल लोगोंका कल्याण करनेके लिये ही होते हैं। इसलिये वे कर्म भी दिव्य और शुद्ध हैं। गीतामें भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

(४। १३)

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंका समूह गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है। इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्मका कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान।'

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

(गीता ४। १४)

'कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता।'

भगवान्‌के भी कर्म अनुकरणीय तथा संसारको शिक्षा देनेके लिये ही होते हैं। उनका स्वभाव बहुत ही कोमल और सरल है। वे क्षमा, दया, शान्ति, समता, संतोष, सरलता, ज्ञान, वैराग्य, प्रेम आदि दिव्य गुणोंसे परिपूर्ण हैं। इतने उच्चकोटिके महापुरुष होकर

भी वे अपने भक्तोंका अपने समान अधिकार ही मानते हैं । एक तुच्छ मनुष्य भी यदि अपने-आपको और अपने सर्वस्वको भगवान्‌के अर्पण कर देता है तो भगवान् अपने-आपको और अपने सर्वस्वको उसके अर्पण कर देते हैं । एक तुच्छ प्राणी भगवान्‌को चाहता है और स्मरण करता है तो भगवान् भी उसे उसी प्रकार चाहते और स्मरण करते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

(गीता ४ । ११)

'हे अर्जुन ! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ; क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं ।'

यह है भगवान्‌के कर्मोंकी दिव्यता ! जो भगवान्‌के जन्म और कर्मोंकी दिव्यताको तत्त्वसे जान जाता है, उसका भी कल्याण हो जाता है; फिर उनकी आज्ञाका पालन करनेसे और उनके कर्मोंको आदर्श मानकर उनका अनुकरण करनेसे कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है ।

भला बतलाइये, संसारमें ऐसा कौन मनुष्य है, जो इस प्रकार भगवान्‌के समान बर्ताव कर सकता है । अपनेको भगवान् मनवानेवाले तो बहुत हैं, पर उनमें भगवान्‌के लक्षणोंमेंसे एक भी नहीं घटता । अतः सब लोगोंको सचेत हो जाना चाहिये कि जो अपनेको भगवान् मनवाते हैं, उनसे सदा दूर ही रहें ।

इसी प्रकार जो अधिकारी (कारक) महापुरुष होते हैं, उनके जन्म-कर्म भी दिव्य—अलौकिक और पवित्र होते हैं। वे जन्मसे पूर्व ही मुक्त हैं, केवल संसारके कल्याणके लिये भगवान्‌से अधिकार पाकर उनके परमधामसे आते हैं। उनमें दुर्गुण और दुराचारका अंश भी नहीं रहता और उनका शरीर भी अनामय (रोगरहित) होता है। संसारमें जितने भी अवतार या अधिकारी (कारक) महापुरुष हुए हैं, उनमेंसे किसीके कोई बीमारी हुई हो, यह बात ग्रन्थोंमें कहीं नहीं मिलती; क्योंकि बीमारी तो पापोंसे होती है और भगवान् या अधिकारी (कारक) महापुरुष नित्य शुद्ध ज्ञानस्वरूप होते हैं। वे महापुरुष भगवान्‌से अधिकार प्राप्त करके संसारके कल्याणके लिये संसारमें आते हैं, इसीलिये उनको अधिकारी पुरुष कहते हैं। उनमें गीताके १२ वें अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक बतलाये हुए भक्तोंके लक्षण तो पहलेसे विद्यमान रहते ही हैं। उदाहरणके लिये श्रीवेदव्यासजी अधिकारी (कारक) महापुरुष हुए। उनका अद्भुत प्रभाव था। उन्होंने जन्म लेते ही अपनी इच्छासे शरीरको बढ़ा लिया और स्वतः ही अङ्गों और इतिहासोंके सहित वेदोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया (महा० आदि० ६० । ३)। श्रीवेदव्यासजी जहाँ कहीं भी विशेष आवश्यकता समझते, वहीं बिना बुलाये ही उपस्थित हो जाते थे। उन्होंने महाराज युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंको एकचक्रा नगरीमें जानेसे पूर्व भी दर्शन दिया और वहाँ निवास करते हुए जब पाण्डव वहाँसे जानेका विचार करने लगे, तब पुनः दर्शन दिया और द्रौपदीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनाया (महा०

आदि० १५५, १६८)। इसी प्रकार पाञ्चालनगरीमें राजा द्रुपदके यहाँ प्रकट होकर उनसे भी द्रौपदीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त कहा एवं उनको दिव्य दृष्टि देकर पाण्डवोंको उनके पूर्व शरीरोंसे सम्पन्न वास्तविक दिव्य रूपमें दिखला दिया (महा० आदि० १९६)।

इतना ही नहीं, आश्रमवासिकपर्वमें तो ऐसा वर्णन मिलता है कि वहाँ राजा धृतराष्ट्र, गान्धारी और कुन्तीके सम्मुख श्रीवेदव्यासजी आये एवं जब गान्धारी और कुन्तीने अपने मृत पुत्रों तथा कुटुम्बियोंको देखनेकी इच्छा प्रकट की, तब श्रीवेदव्यासजीने उस अठारह अक्षौहिणी सेनाको संहारके सोलह वर्ष बाद भी आह्वान करके बुला दिया और सबसे यथायोग्य मिलाकर एवं रातभर रखकर प्रातःकाल लौटा दिया। सोलह वर्ष पूर्व मरे हुए उन सब प्राणियोंके रूप, आकृति, अवस्था, वेष, ध्वजा और वाहन—ये सब वैसे-के-वैसे ही थे (महा० आश्रम० ३२)। इसी प्रकार राजा जनमेजयके प्रार्थना करनेपर श्रीवेदव्यासजीने राजा परीक्षित्‌को उसी रूप और अवस्थामें यज्ञमें बुला दिया (महा० आश्रम० ३५)। यह कितने आश्चर्यकी बात है ! क्या कोई मनुष्य इस प्रकार कर सकता है ? अपनेको अधिकारी (कारक) महापुरुष मनवाना तो बहुत-से मनुष्य चाहते हैं पर उनके लक्षणोंमेंसे एक भी लक्षण उनमें नहीं घटता। दम्भीलोग अपनेको पुजवानेके लिये अपनेको भगवान् या भगवान्‌का भेजा हुआ महापुरुष बतलाकर लोगोंको धोखा देते हैं; अतः जो अपनेको अवतार, अधिकारी महापुरुष या ज्ञानी महात्मा कहें, उनके चंगुलमें कभी नहीं फँसना चाहिये, उनसे सदा दूर

ही रहना चाहिये; क्योंकि इस समय न तो कोई भगवान्‌का अवतार है और न कोई अधिकारी (कारक) महापुरुष ही भगवान्‌का अधिकार पाकर भगवान्‌के भेजे हुए यहाँ आये हैं। यदि ऐसा होता तो वर्तमानमें जो धर्मका ह्रास और अधर्मकी वृद्धि हो रही है, वह कभी हो नहीं सकती थी; क्योंकि भगवान् और उन अधिकारी (कारक) महापुरुषोंके तो श्रद्धा-भक्तिपूर्वक दर्शन, भाषण, वार्तालाप, चिन्तन और सत्सङ्गसे भी मनुष्यका कल्याण हो सकता है; फिर उनकी सेवा, आज्ञाका पालन और अनुकरण करनेसे कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है।

इस समय तो महाराज युधिष्ठिर-जैसे महात्माओंका भी सम्पर्क दुर्लभ है, जिनके दर्शन और भाषणसे नहुष-जैसे महान् पापी भी पापसे मुक्त हो स्वर्गको चले गये (महा० वन० अ० १८१)। इतना ही नहीं, महाराज युधिष्ठिर बड़े ही प्रभावशाली पुरुष थे। उनमें सत्य, धैर्य, दान, परम शान्ति, अटल क्षमा, लज्जा, श्री, कीर्ति, उत्कृष्ट तेज, दयालुता और सरलता आदि गुण सदा रहते थे। वे जिस देशमें निवास करते थे, उस देशकी प्रजा धार्मिक बन जाती थी। उस देशमें धन, धान्य, गो-वंश, धर्म और सदाचारकी वृद्धि होती थी। महाराज युधिष्ठिरके प्रभावसे उस देशमें समयपर वर्षा होती, खेत हरे-भरे रहते और धर्मका प्रचार होता था। एवं उस देशके लोग दानशील, उदार, विनयी, लज्जाशील, मितभाषी, सत्यपरायण, शुभ कर्म करनेवाले, जितेन्द्रिय, निर्भय, संतुष्ट, पवित्र,

हृष्ट-पुष्ट और कार्यकुशल तथा अभिमान, द्वेष और ईर्ष्या आदि विकारोंसे शून्य होते थे। वहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने-अपने धर्मके अनुसार यज्ञ, तप, दान, वेदाध्ययन आदि करते थे। सब अपने धर्मका पालन करते थे (महा० विराट० अ० २८)।

अपनेको युधिष्ठिरके तुल्य बतलाना तो सहज है, पर उनके समान बनना साधारण बात नहीं है। युधिष्ठिर बहुत उच्च कोटिके धर्मात्मा पुरुष थे। उन्होंने बड़ी-बड़ी आपत्तियोंका सामना किया, किंतु अपने धर्मका त्याग नहीं किया। अतएव हमलोगोंको भी युधिष्ठिर-जैसे धर्मात्मा बननेके लिये उनके आचरणोंका अनुकरण करना चाहिये।

जो पुरुष इस संसारमें अपने पुण्य-पापमय कर्मोंके फलस्वरूप मनुष्य-जन्म लेनेके पश्चात् साधनके द्वारा इसी जन्ममें मुक्ति-लाभ कर लेते हैं, उनमें भी गीताके १२ वें अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक कहे हुए भगवत्प्राप्त भक्तके तथा १४ वें अध्यायके २२ वेंसे २५ वें श्लोकतक कहे हुए गुणातीत ज्ञानीके लक्षण आ जाते हैं; किंतु उनके शरीर अनामय नहीं होते और न उनमें अवतार या अधिकारी (कारक) महापुरुषोंकी भाँति जहाँ-कहीं प्रकट हो जाना, मृत व्यक्तियोंको बुलाकर प्रत्यक्ष मिला देना आदि अमानुषिक अलौकिक प्रभाव ही होता है। हाँ, मुक्त हो जानेके अनन्तर उनके कर्म, स्वभाव आदि शुद्ध हो जाते हैं; अतः उनके निष्कामभावसे सङ्ग, वार्तालाप, आज्ञापालन, सेवा और अनुकरणसे

मनुष्योंका उद्धार हो सकता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

> तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
> उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
> (४। ३४)

'अर्जुन! तू उस ज्ञानको तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ; उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

> अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
> तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥
> (गीता १३। २५)

'दूसरे जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार ध्यानयोग, ज्ञानयोग और कर्मयोगको न जानते हुए भी, दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निस्संदेह तर जाते हैं।'

भगवान्‌के उपर्युक्त वचनोंपर ध्यान देकर हमलोगोंको भगवत्प्राप्त भक्तों तथा ज्ञानी महात्माओंके श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सङ्ग, वार्तालाप, आज्ञापालन, सेवा और अनुकरण आदिसे विशेष लाभ उठाना चाहिये।



भगवान्‌का विस्मरण कभी न हो

मनुष्यके लिये सर्वोत्तम बात यह है कि वह एक क्षणके लिये भी भगवान्‌को न भूले। जो मनुष्य यह नियम ले लेता है कि 'मैं एक क्षणके लिये भी भगवान्‌को नहीं भूलूँगा' और उसका पालन भी करता है, उसको इसी जन्ममें भगवान्‌की प्राप्ति होनेमें तनिक भी संदेहके लिये स्थान नहीं है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

भगवान्‌की इस घोषणापर विश्वास करके यह निश्चय कर लेना चाहिये कि 'इसी क्षणसे मृत्युपर्यन्त मैं जान-बूझकर भगवान्‌को नहीं भूलूँगा।' ऐसा निश्चय सच्चा होनेपर भगवान् उसमें सहायता करते हैं और अन्तमें उस भक्तकी इच्छा पूर्ण करते हैं। कभी कुछ भूल भी हो जाती है तो भगवान् उसे क्षमा कर देते हैं। यदि कोई कहे कि 'अठारह घंटे तो मनुष्य भगवान्‌का स्मरण कर सकता है, परंतु सोनेके समय छः घंटे उनका स्मरण करना उसके वशकी बात नहीं है', तो इसके लिये यह नियम है कि जाग्रत्-अवस्थामें मनुष्य

जो काम करता है, स्वप्नमें उसका मन प्रायः उसीकी स्मृतिमें लीन रहता है। ऐसा देखनेमें आया है कि जो जाग्रत्-अवस्थामें निरन्तर भगवान्‌को स्मरण रखते हैं, स्वप्नमें भी उन्हें भगवान्‌की ही स्मृति रहती है। इतना ही नहीं, जो सोनेके कुछ समय पूर्व ही भगवान्‌का स्मरण करते हैं और स्मरणके बीचमें निद्राग्रस्त हो जाते हैं, उन्हें भी प्रायः भगवद्-विषयक ही स्वप्न आते रहते हैं। अतएव यह चेष्टा रखनी चाहिये कि होश रहते हुए भगवान्‌का स्मरण न छूटे। जान-बूझकर भगवान्‌को एक क्षणके लिये भी नहीं भूलना चाहिये; क्योंकि जिस क्षण हमने भगवान्‌को भुलाया तथा मनको पशु-पक्षी, कीट-पतंग, मनुष्य, देवता आदिके चिन्तनमें लगाया और संयोगसे उसी क्षण प्राण छूट गये तो हमारे चिन्तनके अनुसार हमें पशु-पक्षी आदिकी योनि ही प्राप्त होगी। भगवान्‌ने भी कहा है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८। ६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है।'

यह मानव-जीवनकी कितनी बड़ी हानि है! मानव-जीवनकी दुर्लभतापर विचार करनेसे इस हानिकी भयानकताका कुछ अनुमान हो सकता है। चौरासी लक्ष योनियोंमें भटकता-भटकता जीव

जब अत्यन्त दुःखित हो जाता है, तब भगवान् विशेष कृपा करके उसे मानव-देह प्रदान करते हैं—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
(राम० उत्तर० ४३। ३।)

ऐसा सुदुर्लभ मानव-जीवन व्यर्थ न जाय, इसके लिये भगवान् उपाय बताते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(गीता ८। ७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

भगवान्‌ने स्मरणकी बात मुख्य रूपमें कही है, युद्ध करनेकी गौणरूपमें। इससे यह स्पष्ट है कि भगवान्‌का स्मरण एक क्षणके लिये भी न छूटे, अन्यथा मानव-जीवन व्यर्थ सिद्ध हो सकता है।

जो मनुष्य भगवान्‌में अपने मनको लगा देते हैं, उनको निश्चय ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(गीता १०। १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इसलिये भगवान्ने अर्जुनको आदेश दिया—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥

(गीता १२ । ८)

'मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा; इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।'

भगवान् जब इतना विश्वस्त आश्वासन देते हैं, तब फिर हमारे मन, बुद्धि और क्या काम आयेंगे ? इन दोनोंको इसी क्षणसे भगवान्के काममें ही लगा देना चाहिये ।

बुद्धिको भगवान्में लगा देना यह है कि परमात्मा सब जगह समानभावसे और विज्ञान-आनन्दरूपसे विराजमान हैं, सब जगह आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, आनन्दके सिवा और कुछ है ही नहीं—इस प्रकारके ध्यानमें स्थित रहना । इस प्रकारके ध्यानका फल अनायास ही परमात्माकी प्राप्ति है । बुद्धिमें खूब अच्छी तरहसे यह निश्चय हो जाना चाहिये कि निराकाररूपमें सब जगह हमारे ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर समान भावसे केवल एक परमात्मा ही हैं ।

बुद्धिके इस निश्चयके अनुसार मनसे मनन करना—मनको भगवान्में लगाना है । इसका फल भी परमात्माकी प्राप्ति ही है ।

भगवान्को छोड़कर किसी भी पदार्थका चिन्तन करना अपने गलेमें फाँसी लेकर मरनेके सदृश है; क्योंकि उससे हमारा मानव-जीवन नष्ट हो जाता है । मूल्यवान्-से-मूल्यवान् पदार्थका चिन्तन भी हमें भगवान्की प्राप्ति नहीं करा सकता । इसलिये

बड़ी तत्परतापूर्वक ऐसा अभ्यास डालना चाहिये कि भगवान्‌को छोड़कर मन और किसी पदार्थके चिन्तनमें लगे ही नहीं। समय बड़ा मूल्यवान् है। मानव-जीवनके गिने-गिनाये श्वास हमें मिले हैं। लाख रुपये खर्च करनेपर भी उससे अधिक एक मिनटका समय भी नहीं मिल सकता। मानव-जीवनके एक क्षणकी कीमत भी नहीं आँकी जा सकती; क्योंकि भगवान्‌का चिन्तन करनेसे वह क्षण भगवान्‌की प्राप्ति करा सकता है। फिर समूचे मानव-जीवनकी तो बात ही क्या है। मानव-जीवनका यह महत्त्व इसीमें है कि वह भगवान्‌की प्राप्तिमें हेतु बन सकता है। अन्य किसी भी योनिमें यह सम्भव नहीं। अतएव मानव-जीवनके समयको खर्च करनेमें बड़ी सावधानी बरतनी चाहिये। परमात्माके अतिरिक्त दूसरे कामोंमें समय लगानेवालोंको संतोंने मूर्ख कहा है।

सांसारिक पदार्थोंके संग्रहमें लगाया हुआ समय भी व्यर्थ है। मान लीजिये, एक महीनेमें हमारे लाख रुपयेका रोजगार होता है। बारह महीनोंमें बारह लाखका हुआ, तो इससे क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ? रुपयोंकी थैलियाँ यहीं रह जायँगी, जीवको अकेले ही जाना पड़ेगा। हाँ, रुपयोंको बटोरनेमें जो पाप उसने किये हैं, वे अवश्य उसके साथ रहेंगे। अतएव रुपयेके संग्रहमें दो बातोंका ध्यान रखना चाहिये—न तो उसके संग्रहके लिये भगवान्‌को भुलावे और न उसके संग्रहमें पापका आश्रय ले। मरनेपर रुपयोंसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रह जायगा। गधा ढो-ढोकर मिट्टी इकट्ठी करता है; भगवान्‌को भूलकर रुपये बटोरना ठीक ऐसा ही है। मरनेपर

न गधेके मिट्टी काम आती और न हमारे रुपया काम आता है। इस न्यायसे मनुष्य-जीवनका समय धन बटोरनेमें क्यों बरबाद किया जाय?

कुछ भाई इस शरीरके पोषणमें समयको लगाते हैं। नाशवान् शरीरके पोषणमें समयका लगाना भी उसका अपव्यय है। विशेष खान-पान, सावधानी आदिसे शरीरमें दस सेर मांस बढ़ गया तो क्या हो गया। आखिर तो मरना ही पड़ेगा। शरीर अधिक भारी हो गया तो लाश (शव) भी भारी होगी। शव ढोनेवाले यही कहेंगे कि 'लाश बड़ी भारी है'। इस मोटापेसे और होगा क्या? मोटे शरीरके जलनेपर एक-दो सेर राख अधिक हो जायगी। शवकी राख किस कामकी? किसीकी आँखमें गिरकर वह उसको कष्ट ही दे सकती है। अतएव शरीरको अधिक पुष्ट करनेमें समयको लगानेसे कोई लाभ नहीं।

कुटुम्ब-पालनमें भी भगवान्‌को भूलकर ममता और रागसे युक्त हो समय नहीं लगाना चाहिये; क्योंकि कुटुम्बका राग तो और अधिक दुःख देनेवाला है। अनन्त कालसे कुटुम्ब हमको धोखा देता चला आ रहा है। आजसे पूर्व भी तो हमलोग किसी कुटुम्बके थे। क्या उसकी अब हमको कुछ स्मृति भी है? अब हमें कुछ भी स्मरण नहीं है कि पूर्व जन्ममें हम कहाँ थे, हमारा कौन कुटुम्ब था। इसी प्रकार यहाँसे विदा होनेपर यह कुटुम्ब भी याद नहीं रहेगा। सौ-दो-सौ वर्षोंके बाद तो यह कुटुम्ब कहाँ-से-कहाँ चला जायगा, कुछ भी पता नहीं है। अतएव मृत्युके साथ जिससे बिल्कुल सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेवाला है, उस अपने

कुटुम्बके प्रति मोह-ममता रखकर भगवान्‌को भुला देना और समयको उसके पालन-पोषणमें नष्ट कर देना मानव-जीवनका दुरुपयोग है।

यदि हम मकान बनवानेमें अपने समयको खर्च करते हैं और भगवान्‌को भूल जाते हैं तो यह भी मूर्खता है। मकान बनवा लिया तो न जाने उसका भोग कौन करेगा। जिसको मकानकी आवश्यकता होगी, वह अपने-आप मकान बनवा लेगा। हम झूठ-साँच करके अपना अमूल्य मनुष्य-जीवन मकान बनानेमें क्यों लगायें। इसी प्रकार संसारके अन्य पदार्थोंके विषयमें समझ लेना चाहिये। संसारमें जिन-जिन पदार्थों और व्यक्तियोंको हम अपने मान रहे हैं, वे हमारे नहीं हैं; उनसे हमारा वियोग अवश्यम्भावी है। अतएव उनके संग्रह-संरक्षणमें भगवान्‌को भुला देना उचित नहीं। अध्यात्म-दृष्टिसे परमात्माकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले कर्मोंके अतिरिक्त सभी कर्म व्यर्थ अथवा अनर्थ हैं। यह मानव-जीवन आत्माके कल्याणके लिये ही मिला है, व्यर्थके भोग भोगनेके लिये नहीं। स्वर्गके भोगोंके लिये प्रयत्नशील होना भी व्यर्थ है। 'स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई।' अतः आत्माके कल्याणमें सहायक होनेवाले कार्यके अतिरिक्त किसी भी कार्यमें लगना मूर्खता है। आयु क्षण-क्षणमें व्यतीत हो रही है। इसलिये जिस कामके लिये हमलोग आये हैं, उसको शीघ्र कर लेना चाहिये। कालका भरोसा नहीं है। एक क्षणके बाद क्या होनेवाला है, कोई नहीं बता सकता। ऐसी परिस्थितिमें एक क्षणके लिये भी भगवान्‌को भूलना खतरेसे खाली नहीं है।

संसारके जिन-जिन पदार्थोंसे हमारा सम्बन्ध है, वे अवश्य बिछुड़नेवाले हैं। इस शरीरके सभी सम्बन्ध काल्पनिक और नाशवान् हैं, यों समझकर उनके प्रति मोह-ममताको पहलेसे समेट लें तो उत्तम है। हम विवेकपूर्वक उपर्युक्त प्रकारसे साधन कर लेंगे तो हम मुक्त हो जायँगे और यदि साधन न करनेके कारण हमको विवश होकर इन सम्बन्धोंको तोड़ना पड़ा तो हम भटकते फिरेंगे। जो जन्मा है, उसे अवश्य मरना पड़ेगा। लाख प्रयत्न करनेपर भी मृत्युसे छुटकारा नहीं हो सकता। अतः जिस कामके लिये आये हैं, उसे अवश्य कर लेना चाहिये, नहीं तो आगे जाकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

> सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
> कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥
> (राम० उत्तर० ४३)

‘जो मनुष्य इस समय सचेत नहीं होता, उसको आगे चलकर सिर धुन-धुनकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। वह मूर्ख उस समय काल, कर्म और ईश्वरपर झूठा दोष लगायेगा।’ वह यही कहेगा—‘कलियुगके कारण मैं अपने आत्माका कल्याण नहीं कर सका। मेरे कर्म ही ऐसे थे, मेरे भाग्यमें ऐसी ही बात लिखी थी। ईश्वरने मेरी सहायता नहीं की, आदि-आदि।’ उसका यह रोना व्यर्थ है—मिथ्या है। अतएव अभीसे सावधान हो जाना चाहिये।

परमात्माकी प्राप्ति स्वयं अपने किये ही होगी। कोई दूसरा हमारे लिये इस कार्यको नहीं कर सकेगा। संसारका कोई काम बाकी रह गया तो हमारे पीछे हमारे उत्तराधिकारी अथवा दूसरे लोग कर लेंगे; पर परमात्माकी प्राप्तिमें यदि त्रुटि रह गयी तो हमको पुनः जन्म लेना पड़ेगा। अतएव जो काम हमारे किये ही होगा, दूसरेसे नहीं और जिसको करना अनिवार्य है, उसीमें समय लगाना चाहिये।

संसारके सब सम्बन्ध मिथ्या हैं, स्वप्नवत् हैं, मायामात्र हैं। स्वप्नके संसारमें जो कुछ होता है, सब सत्य प्रतीत होता है; परंतु वास्तवमें उसकी सत्ता नहीं। आँख खुलनेपर न तो वह संसार रहता है, न शरीर और न वह व्यवहार ही। इसी प्रकार संसारके जितने भी सम्बन्ध हैं, ये सब शरीरको लेकर ही हैं; शरीर शान्त होनेपर इनसे हमारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह जायगा। इसलिये आवश्यकता है इन सम्बन्धोंका त्याग हम मनसे पहलेसे ही कर दें, जिससे आगे चलकर पश्चात्ताप न हो।

जबतक मानव-जीवन शेष है, तबतक सब कुछ हो सकता है। परमात्माकी शरण लेकर मनुष्य जो चाहे, वह प्राप्त कर सकता है। कठोपनिषद्में यमराजने नचिकेताके प्रति यह बात कही है कि 'नचिकेतः! ओम् जो परमात्माका नाम है, यही साक्षात् ब्रह्म है; यही सगुण और निर्गुण है। इसकी शरण जानेपर जो चाहो, वही मिल सकता है।'

अतएव हम भी भगवान्‌की शरण लेकर जो चाहें, वह कर सकते हैं। दूसरी बात यह है कि भगवान्‌की प्राप्तिके सिवा अन्य कोई भी इच्छा नहीं रखनी चाहिये। दूसरी किसी भी वस्तुकी इच्छा करना मूर्खता है। जगत्‌की जितनी भी वस्तुएँ हैं, सब प्रारब्धके अधीन हैं। कोई चाहे कि मैं १०० वर्ष जीता रहूँ तो यह असम्भव है। इसी प्रकार कोई यह चाहे कि अभी मृत्यु आ जाय तो चाहनेसे मृत्यु भी नहीं मिल सकती। जब जैसा प्रारब्ध होगा, वैसा ही होगा। अतएव इच्छा करना मूर्खता है। इसी प्रकार भोग-पदार्थोंकी प्राप्तिके विषयमें समझना चाहिये। प्रारब्धवश जब जितना मिलना है, उतना ही मिलेगा; इच्छा करनेसे नहीं।

भगवान्‌की प्राप्ति ही इच्छासे होती है। इच्छा जहाँ यथेष्ट तीव्र एवं अनन्य हुई कि भगवान् मिले। भगवान्‌को छोड़कर अन्य कोई भी पदार्थ हमारी इच्छापर निर्भर नहीं है। जगत्‌के सभी प्राणी चाहते हैं कि सुख मिले, दुःख नहीं; किंतु अधिकांशको दुःखकी ही उपलब्धि होती है। अतएव जड पदार्थोंके लिये इच्छा करना मूर्खता है; इच्छा करनेसे जड पदार्थ प्राप्त नहीं होते। उनके लिये पूर्वकृत कर्मोंका फलरूप प्रारब्ध चाहिये; और वह अब हमारे हाथमें नहीं। पर भगवान्‌के लिये तीव्र इच्छा करनेपर वे अवश्य मिल सकते हैं। अतः भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छा करनी चाहिये और उसे यथेष्ट तीव्र एवं अनन्य बनानेका प्रयत्न करना चाहिये।

भगवान्‌के मिलनमें जो देर हो रही है, इसमें त्रुटि हमारी ही

है । भगवान् तो मिलनके लिये नित्य आतुर हैं; बस हममें वैसी इच्छा होनी चाहिये । भगवान्‌के मिलनकी इच्छाकी जागृतिके लिये एकान्तमें बैठकर करुणभावसे हृदय खोलकर रोना चाहिये । अपने अपराधोंको स्मरणकर गद्गद होकर भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये—'प्रभो ! आपके अतिरिक्त संसारमें मेरा और कौन है ? नाथ ! मैं आपके शरण हूँ, आप मेरी रक्षा करें ।' भगवान् बड़े दयालु हैं, वे अपने सम्मुख होनेवाले मनुष्यके अनन्त जन्मोंके पापोंको उसी क्षण क्षमा कर देते हैं ।

अपने आत्माकी उन्नति उत्तरोत्तर तीव्रताके साथ करनी चाहिये । कल हमने जो साधन किया, उससे आज तीव्र होना चाहिये, आजसे आनेवाले कलको और तीव्र होना चाहिये । इसी प्रकार प्रातःकालसे मध्याह्न, मध्याह्नसे सायंकाल, सायंकालसे रात्रिमें और रात्रिसे अगले दिन प्रातःकालके साधनमें क्रमशः तीव्रता रहनी चाहिये । घंटे-घंटेमें, फिर क्षण-क्षणके साधनमें उत्तरोत्तर तीव्रता होनी चाहिये । यदि इस प्रकार प्रयत्न किया जाय तो परमात्माकी प्राप्ति होनेमें विलम्ब नहीं हो सकता ।

किसीने कहा है—'पाय परमपद हाथ सों जात, गयी सो गयी अब राख रही को ।' पाया हुआ परमपद हाथसे जा रहा है । सचमुच मानव-जीवनको व्यर्थ खोना परमपद हाथसे जानेके सदृश ही है । अतएव जीवनका जो समय बीत गया, वह बीत गया; पर अब एक क्षण भी परमात्माकी स्मृतिके बिना न बीते । निरन्तर सावधानी रहे । पूरी तत्परता हुई तो जितना समय जीवनका बचा

है, उतना ही पर्याप्त है। इतने समयमें ही भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। यदि कुछ कमी रह गयी तो भी भयकी कोई बात नहीं। दूसरा जन्म लेते ही कल्याण हो सकता है; क्योंकि वह मनुष्य ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेता है* और उसके चित्तमें स्वाभाविक ही भक्ति, ज्ञान, वैराग्य रहता है। वहाँ अच्छे सङ्गसे उसका चित्त निरन्तर उन्नति करता जाता है और अन्तमें वह परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

आजकल बिजलीसे चलनेवाली एक मशीन बनी है। उसके सामने जैसी आवाज की जाती है, वह उसको रेकर्ड कर लेती है। अब वह मशीन जहाँ जाती है, उसके साथ वह शब्द भी जाता है। इसी प्रकार हमारे जीवनमें जो-जो कार्य होते हैं, वे संस्काररूपसे अन्तःकरणमें एकत्रित हो जाते हैं और मृत्युके पश्चात् वे हमारे साथ जाते हैं। आगेके जीवनमें ये अच्छे-बुरे संस्कार मनकी स्फुरणामें हेतु बनते हैं। अतः जीवनके नाना कार्योंसे हृदयमें जो बुरे संस्कार एकत्रित हो रहे हैं, उनको मृत्युसे पूर्व धो डालना चाहिये। साबुन और जलसे जिस प्रकार कपड़ा धोकर साफ कर लेते हैं, उसी प्रकार अन्तःकरणमें जो राग-द्वेष और पापरूपी मैल जमा हो गयी है, उसको भगवन्नामरूपी साबुन तथा निष्कामभावरूपी जलद्वारा साफ कर लेना चाहिये। बुद्धि और मनमें अच्छा संग्रह करना चाहिये। बुद्धिमें जो ज्ञान है, वह अच्छा संग्रह है। परमार्थविषयक ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है।

---

* अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
(गीता १०। ४२)

अतएव बुद्धिमें धृति, क्षमा, शान्ति, समता, संतोष, ज्ञान, वैराग्य—इन सात्त्विक भावोंका संग्रह करना चाहिये। मनमें भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन एवं भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यकी बातें एकत्रित करनी चाहिये। भगवान्‌के नाम, रूप, लीला और धामका मनन करना चाहिये। इन्द्रियोंको तपस्याद्वारा तपाकर शुद्ध कर लेना चाहिये। फिर मनसे इन्द्रियोंद्वारा भगवान्‌के दर्शन, भगवान्‌के साथ सम्भाषण, भगवान्‌का स्पर्श आदि करना चाहिये। अर्थात् मनसे ऐसी भावना करे कि भगवान् हमारे सामने खड़े हैं, हमारी ओर देख रहे हैं, हम उनका दर्शन कर रहे हैं, उनके चरणोंका हाथोंसे स्पर्श कर रहे हैं, उनके श्रीविग्रहसे निस्सरित दिव्य गन्ध ले रहे हैं, भगवान्‌से वार्तालाप कर रहे हैं, भगवान्‌की वाणीको कानोंसे सुन रहे हैं।

हाथोंसे जीवमात्रकी भगवान् नारायणकी भावनासे सेवा करनी चाहिये। वाणीसे सत्य, प्रिय और हितकर वचन बोलने चाहिये। नेत्रोंसे भगवान्‌को, संतोंको अथवा उत्तम दृश्योंको देखना चाहिये। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रियको शुद्ध बनाकर उसमें ऐसे भाव भरने चाहिये, जो मुक्तिमें सहायक हों। यदि इस जीवनमें काम न बने तो उत्तम संस्कार तो हमारे साथ जायँ। निष्कामभावसे यह सब करना परम हितकर है। सावधानीके साथ अभ्यास करनेसे हृदयमें जो दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, मल, विक्षेप, आवरण, निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदि बुरे संस्कार हैं, वे बहुत शीघ्र सर्वथा धुल जाते हैं, एवं हृदय भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार और सद्गुणोंसे भर जाता है। वस्तुतः दैवी सम्पत्ति तथा शरीर, वाणी और मनका

तप—ये अमृततुल्य हैं और राजसी एवं तामसी भाव विष हैं; इनसे मनुष्यका पतन निश्चित है।

सर्वोत्तम एवं सबसे सरल साधन है—भगवान्‌का चिन्तन। भगवान्‌का चिन्तन प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर करना चाहिये। पर यदि प्रेम न भी हो तो भगवान्‌का चिन्तन हृदयको शुद्ध करता ही है। भगवान्‌का चिन्तन यदि कोई वैर-भावसे, द्वेषवश या भयसे भी करता है तो उसका भी कल्याण हो जाता है। मारीचने भगवान् रामका भयसे चिन्तन किया, उसका उद्धार हो गया। कंसने भगवान्‌का द्वेषभावसे चिन्तन किया, उसका भी कल्याण हो गया। फिर जो प्रेमपूर्वक करुणभावसे भगवान्‌का चिन्तन करे, उसके कल्याणमें तो कहना ही क्या है? व्रजकी गोपियोंका उदाहरण प्रत्यक्ष है। गोपियोंने प्रेमपूर्वक करुणभावसे भगवान्‌का चिन्तन किया, तब उनके उद्धारमें कहना ही क्या है। अतएव मन जहाँ भी जाय, वहीं भगवान्‌को देखे। रातको चिन्तन करते-करते ही सोया जाय। रातमें जब-जब निद्रा टूटे, जब-जब उठना पड़े, तब-तब मनकी सम्भाल कर लेनी चाहिये कि चिन्तन हो रहा है न।

एकान्तमें जप-साधन करनेके लिये बैठे तो प्रारम्भमें भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना अर्थ और भावको समझते हुए अवश्य करनी चाहिये। गीता, रामायण आदिका स्वाध्याय अर्थ और भावको समझकर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक करना चाहिये। तदनन्तर सत्संग करना चाहिये। वेदोंसे हमें चेतावनी मिलती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

(कठ० १।३।१४)

'उठो, जागो (सावधान हो जाओ) और महापुरुषोंके पास जाकर उनसे जाननेयोग्य परमात्मतत्त्वको समझो ।'

समय रहते चेत हो जाय तो ठीक है, अन्यथा---

समय चुकें पुनि का पछिताने ।

मृत्यु सिरपर आ खड़ी होगी, तब कुछ भी उपाय नहीं चलेगा । तुलसीदासजीने कितने कड़े शब्दोंमें चेतावनी दी है—

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ ।
सो कृत निंदक मंद मति आत्माहन गति जाइ ॥

(राम० उत्तर० ४४)

'जो मनुष्य उत्तम देश, उत्तम जाति, उत्तम काल, उत्तम धर्म, उत्तम सङ्ग—इन सबका सुन्दर सुयोग पाकर भी भवसागरको पार नहीं करता, वह निन्दाका पात्र और मन्दमति है । आत्म-हत्यारेकी जो गति होती है, वही उसकी भी होगी ।'

श्रीनारायण स्वामी कहते हैं—

दो बातन को भूल मत जो चाहै कल्यान ।
नारायण इक मौत को दूजे श्रीभगवान ॥

'यदि अपना कल्याण चाहते हो तो दो बातोंको मत भूलो—एक मौतको और दूसरे भगवान्‌को' । भगवान्‌को याद रखनेसे पापोंका नाश होकर कल्याणकी प्राप्ति हो जाती है और मृत्युको याद रखनेसे आगे पाप नहीं बनते ।

और कुछ भी न हो तो भगवान्‌का जो भी नाम प्रिय लगे, उसे ही नित्य-निरन्तर रटते जाइये—वही आपको निहाल कर देगा—

केशव केशव कूकिये नहिं कूकिये असार ।
रात दिवस की कूक तें कबहुँ तो सुने पुकार ॥



सर्वधर्मपरित्यागका रहस्य

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

(गीता १८ । ६६)

'सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा । मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

इस श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे ये चार बातें कही हैं—

(१) तू सम्पूर्ण धर्मोंका मुझमें त्याग कर दे ।

(२) तू केवल एक मेरी ही शरणमें आ जा ।

(३) मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा ।

(४) तू शोक मत कर ।

अब यहाँ इनमेंसे प्रत्येकपर क्रमशः विचार किया जाता है ।

१. तू सम्पूर्ण धर्मोंका मुझमें त्याग कर दे

यहाँ 'सर्वधर्मान्परित्यज्य'का अर्थ 'सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर' किया जाय तो भी कोई आपत्ति नहीं; क्योंकि भगवान्‌ने गीता ६ । १ में 'अनाश्रितः कर्मफलम्' कहकर यह आदेश दिया ही है । किंतु इस प्रकरणमें उससे और भी विशेषता है । १८ वें अध्यायके ५६ वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि 'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है ।' इस प्रकार यहाँसे

शरणागतिका प्रकरण प्रारम्भ करके भगवान् ५७ वें श्लोकमें मुख्यतया अर्जुनको आज्ञा देते हैं—'अर्जुन ! तू सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो।' अतः इस प्रकरणके अनुसार 'सर्वधर्म' का अर्थ है 'सम्पूर्ण शास्त्रविहित कर्म' और 'परित्यज्य' का अर्थ है 'उन सब कर्मोंको सब ओरसे (अच्छी प्रकार) भगवान्‌में अर्पण करके।' सब ओरसे सब कर्मोंको भगवान्‌में अर्पण करनेकी विधि गीता ९ । २७ में बतलायी गयी है, जिसका फल ९ । २८ में भगवान्‌की प्राप्ति होना बतलाया गया है। इसलिये १८ । ५७ के कथनानुसार 'सर्वधर्मान्-परित्यज्य' का अर्थ 'सब शास्त्रविहित कर्मोंको भगवान्‌में अर्पण करना' अधिक युक्तिसंगत है।

कितने ही विद्वानोंका कथन है कि 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' कहकर भगवान्‌ने स्वरूपसे समस्त धर्मोंका त्याग बतलाया है। किंतु ऐसा अर्थ युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि अर्जुनने भगवान्‌की आज्ञासे युद्ध ही किया, सर्वथा स्वरूपसे कर्मोंका त्याग नहीं किया। दूसरे महानुभाव कहते हैं कि 'अपने कर्तव्य-कर्मोंको करता हुआ उसमें अकर्तृत्वबुद्धि रखे'—यही इस पदका आशय है। पर यह भी ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा कथन ज्ञानयोग (सांख्ययोग) की दृष्टिसे सम्भव है, किंतु यहाँ प्रकरण भक्तियोगका है। कारण, भगवान्‌ने इससे पूर्व १८ । ६५ में यह स्पष्ट कहा है कि 'तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर।'

२. तू केवल एक मेरी ही शरणमें आ जा

एक भगवान्‌की शरणमें जाना क्या है ? भगवान्‌ने अर्जुनको १८ । ६५ में जो आदेश दिया है, वही शरणका प्रकार है; क्योंकि यहाँ 'शरण' का वही अर्थ लेना चाहिये, जो भगवान्‌ने गीतामें लिया हो। गीता ९ । ३२ में भगवान् कहते हैं—'अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परमगतिको ही प्राप्त होते हैं।' यहाँ भगवान्‌ने शरणका महत्त्व और फल तो कहा, किंतु शरणका स्वरूप नहीं बतलाया। अतः ९ । ३४ में शरणका स्वरूप बतलाते हुए शरण आनेके लिये अर्जुनको आदेश देते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

ठीक यही आधा श्लोक १८ । ६५ में ज्यों-का-त्यों है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि १८ । ६५ में अनन्य शरणका स्वरूप बतलाकर १८ । ६६ में भगवान्‌ने अपनी शरणमें आनेके लिये अर्जुनको आदेश दिया है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि १८ । ६५ में जो बात कही गयी है, वह अनन्यभक्तिकी है या अनन्यशरणकी ? इसका उत्तर यह है कि अनन्यभक्ति और अनन्यशरण एक ही वस्तु है; क्योंकि

गीतामें जहाँ अनन्यभक्तिका स्वरूप बतलाया गया है, वहाँ शरण उसके अन्तर्गत आ जाती है और जहाँ शरणका वर्णन है, वहाँ अनन्यभक्ति उसके अन्तर्गत आ जाती है। जैसे गीता ११।५४ में अनन्यभक्तिका माहात्म्य बतलाकर ५५ में उसका स्वरूप बतलाते हुए यही कहा है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

'हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

यहाँ 'अनन्यभक्ति'का वर्णन करते हुए जो 'मत्परमः'—'मेरे परायण' कहा गया है, इससे शरणागतिके भावको भक्तिके अन्तर्गत बतलाया गया है।

इसी प्रकार ९।३४ में 'अनन्यशरण'का स्वरूप बतलाते हुए भगवान्‌ने 'मद्भक्तः' कहकर भक्तिको शरणागतिके अन्तर्गत कह दिया है। अतएव अनन्यभक्ति और अनन्यशरण एक ही वस्तु हैं।

यह अनन्यशरणका विषय बहुत ही गोपनीय है। इसलिये यह भगवान्‌के परम रहस्यकी बात भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुन-जैसे परम अधिकारी प्रेमी भक्तको ही कही गयी है तथा इसे अपात्रको बतलानेके लिये भगवान्‌ने निषेध किया है (गीता १८।६७)। एवं पात्रको कहनेके लिये प्रेरणा करते हुए उसको

बतलानेका फल और उसकी महिमाका वर्णन भी किया है (गीता १८ । ६८-६९) ।

इसके सिवा भगवान्‌ने गीतामें जो कुछ भी आदेश दिया है, उसका पालन करना भी भगवान्‌की अनन्यशरण है; क्योंकि गीता २ । ७ में अर्जुनने भगवान्‌के शरण होकर अपना कर्तव्य पूछा, उसपर भगवान्‌ने अर्जुनको निमित्त बनाकर सारे संसारके हितके लिये गीता-शास्त्रका वर्णन किया । उपदेश देनेके पश्चात् वे अर्जुनसे पूछते हैं—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥

(गीता १८ । ७२)

'हे पार्थ ! क्या इस (गीता-शास्त्र) को तूने एकाग्रचित्तसे श्रवण किया ? और हे धनंजय ! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया ?'

इसके उत्तरमें अर्जुनने कहा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥

(गीता १८ । ७३)

'हे अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है; अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ।'

गीता २ । ७ में अर्जुनने जो कहा था कि मैं किंकर्तव्यविमूढ हो गया हूँ, उसीको लक्ष्य कराते हुए अब यहाँ वे कहते हैं—'नष्टो

मोहः' मैं अब किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं हूँ, मेरा वह मोह दूर हो गया है ।

भगवान्‌ने पूछा था—'तुमने मेरा उपदेश एकाग्रचित्त होकर सुना है न ?' इसपर अर्जुन कहते हैं—'स्मृतिर्लब्धा'—मैंने सब उपदेश सुना है और वह सब मुझे याद है । किंतु 'त्वत्प्रसादात्' —यह सब मेरी महत्ता नहीं है, आपकी कृपा है ।

भगवान्‌ने ४ । ४२ में अर्जुनसे कहा था कि 'तू हृदयमें स्थित इस अज्ञानजनित अपने संशयका विवेक-ज्ञानरूप तलवारद्वारा छेदन करके समत्वरूप कर्मयोगमें स्थित हो जा और युद्धके लिये खड़ा हो ।' उसीका संकेत करते हुए अर्जुन यहाँ कहते हैं—'स्थितोऽस्मि गतसंदेहः' तथा 'करिष्ये वचनं तव ।' 'मैं अब उस संशयसे रहित हो गया हूँ,' एवम् 'अब आप जो कुछ कहेंगे, वही करूँगा ।' इस प्रकार अर्जुनने उत्तर देकर भगवान्‌ने जैसा कहा था, वैसा ही किया ।

इस विषयमें हमें महाभारतके कर्ण-वध-प्रसङ्गपर ध्यान देना चाहिये । जब वीर कर्णके रथका पहिया पृथ्वीमें धँस गया, तब वह तुरंत रथसे उतर पड़ा और अपनी दोनों भुजाओंसे पहियेको ऊपर उठानेका प्रयत्न करने लगा । उस समय उसने अर्जुनकी ओर देखकर कहा—'महाधनुर्धर कुन्तीकुमार ! दो घड़ी प्रतीक्षा करो, जिससे मैं इस फँसे हुए पहियेको पृथ्वीतलसे निकाल दूँ । अर्जुन ! जो केश खोलकर खड़ा हो, युद्धसे मुँह मोड़ चुका हो, ब्राह्मण हो, हाथ जोड़कर शरणमें आया हो, हथियार डाल चुका हो,

प्राणोंकी भीख माँगता हो, जिसके बाण, कवच और दूसरे-दूसरे आयुध नष्ट हो गये हों, ऐसे पुरुषपर उत्तम व्रतका पालन करनेवाले शूरवीर शस्त्रोंका प्रहार नहीं करते। पाण्डुनन्दन ! तुम लोकमें महान् शूरवीर और सदाचारी माने जाते हो। युद्धके धर्मोंको जानते हो। वेदान्तका अध्ययनरूपी यज्ञ समाप्त करके तुम उसमें अवभृथ-स्नान कर चुके हो। तुम्हें दिव्यास्त्रोंका ज्ञान है। तुम अमेय आत्मबलसे सम्पन्न तथा कार्तवीर्य अर्जुनके समान पराक्रमी हो। अतः महाबाहो ! जबतक मैं इस फँसे हुए पहियेको निकाल रहा हूँ, तबतक तुम रथारूढ होकर भी मुझ भूमिपर खड़े हुएको बाणोंकी मारसे व्याकुल मत करो, क्योंकि यह धर्म नहीं है।'*

तब रथपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णने कर्णसे कहा—'राधानन्दन ! सौभाग्यकी बात है कि अब यहाँ तुम्हें धर्मकी बात याद आ रही है। प्रायः यह देखनेमें आता है कि नीच मनुष्य विपत्तिमें पड़नेपर दैवकी ही निन्दा करते हैं, अपने किये हुए कुकर्मोंकी नहीं। कर्ण ! जब वनवासका तेरहवाँ वर्ष बीत जानेपर भी तुमने पाण्डवोंका राज्य उन्हें वापस नहीं दिया, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ?† जब तुमलोगोंने भीमसेनको जहर मिलाया हुआ अन्न खिलाया और उन्हें सर्पोंसे डँसवाया था,

---

* देखिये महाभारत कर्णपर्व अ० ९०।

† वनवासे व्यतीते च कर्ण वर्षे त्रयोदशे।
न प्रयच्छसि यद् राज्यं क्व ते धर्मस्तदा गतः॥
(महा० कर्ण० ९१।४)

लाक्षाभवनमें सोये हुए कुन्तीकुमारोंको जब तुमने जलानेका प्रयत्न कराया था, रजस्वला द्रौपदीको भरी सभामें बुलवाकर जब तुमने उसका उपहास किया और उसकी ओर निकटसे देखा था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ? एवं जब युद्धमें तुम बहुत-से महारथियोंने मिलकर बालक अभिमन्युको चारों ओरसे घेरकर मार डाला था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ?* यदि उन अवसरोंपर यह धर्म नहीं था तो आज भी यहाँ सर्वथा धर्मकी दुहाई देकर तालु सुखानेसे क्या लाभ ? सूत ! अब तुम यहाँ धर्मके कितने ही कार्य क्यों न कर डालो, जीते-जी तुम्हारा छुटकारा नहीं हो सकता ।'

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी बातोंको सुनकर कर्णने लज्जासे अपना सिर झुका लिया । उससे कुछ भी उत्तर देते नहीं बना । उस समय भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—'पार्थ ! कर्ण जबतक रथपर नहीं चढ़ जाता तबतक ही अपने बाणद्वारा उसका मस्तक काट डालो ।' तब 'बहुत अच्छा' कहकर अर्जुनने भगवान्‌की उस आज्ञाको सादर शिरोधार्य किया और महान् दिव्यास्त्रसे अभिमन्त्रित अञ्जलिक नामक उत्तम बाणके द्वारा कर्णका सिर काट डाला ।† यद्यपि उस समय शस्त्ररहित पृथ्वीपर खड़े हुए कर्णके धर्मयुक्त वचनोंको सुनकर अर्जुन बाण चलानेमें हिचकिचा रहा था; फिर

---

* यदाभिमन्युं बहवो युद्धे जघ्नुर्महारथाः ।
परिवार्य रणे बालं क्व ते धर्मस्तदा गतः ॥
(महा० कर्ण० ९१ । ११)

† देखिये महाभारत, कर्णपर्व, अध्याय ९१ ।

भी भगवान्‌के वचनोंको सुनकर उसका सारा संकोच और संदेह निवृत्त हो गया, जिससे उसने निःशङ्क होकर कर्णपर बाणका प्रहार करके उसका सिर काट गिराया।*

इसी प्रकार प्रत्येक भक्तका कर्तव्य भगवदाज्ञापालन ही है। इसीका नाम भगवच्छरणागति है। भगवदाज्ञाके सामने अन्य किसी धर्मको न मानना 'सर्वधर्मपरित्याग' है। ईश्वराज्ञा और धर्मशास्त्रमें

---

* वास्तवमें अर्जुनका कर्णपर बाण चलाना अधर्म नहीं था, क्योंकि आततायीको किसी प्रकार भी मारना धर्मशास्त्रमें न्याय्य बताया गया है और कर्ण आततायी था।

वशिष्ठस्मृतिमें आततायीके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः॥
(३।१९)

'आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथमें शस्त्र लेकर मारनेको उद्यत, धन हरण करनेवाला, जमीन छीननेवाला और स्त्रीका हरण करनेवाला—ये छहों आततायी हैं।'

तथा मनुस्मृतिमें बतलाया गया है—

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥
(८।३५०-३५१)

'अपना अनिष्ट करनेके लिये आते हुए आततायीको बिना विचारे ही मार डालना चाहिये। आततायीके मारनेसे मारनेवालेको कुछ भी दोष नहीं लगता।'

विरोध-सा प्रतीत होनेपर भगवदाज्ञा ही मुख्य माननीय है; क्योंकि धर्मका तत्त्व गहन है, साधारण पुरुष उसका निर्णय नहीं कर सकता।

भगवान्‌की शरण जाना—यह उत्तम रहस्यकी बात है, जिसे भगवान्‌ने अर्जुन-जैसे परमभक्तके प्रति ही कहा है। भगवान् उस शरणागतिकी महिमा बतलाते हुए स्वयं कहते हैं—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

(गीता १८। ६४)

'सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा।'

गीतामें भगवान्‌ने गुह्य, गुह्यतर और सर्वगुह्यतम—इस तरह तीन प्रकारकी बातें बतलायी हैं। दूसरे अध्यायके ४०वें श्लोकसे आरम्भ करके तीसरे अध्यायके अन्ततक जिस कर्मयोगका वर्णन किया है, उसको भगवान्‌ने 'गुह्य' उपदेश बतलाया है। वे कहते हैं—

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

(गीता ४। ३)

'तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये वही यह पुरातन योग (जिसको मैंने सृष्टिके आदिमें सूर्यसे कहा था, किंतु जो बहुत कालसे पृथ्वीलोकमें लुप्तप्राय हो गया था) आज मैंने तुमसे कहा

है; क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम रहस्य है अर्थात् गुप्त रखने योग्य विषय है।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि कर्मयोगका विषय उत्तम होते हुए भी 'गुह्य' (गोपनीय) ही है; किंतु ईश्वरकी भक्ति 'गुह्यतर' है, जिसका वर्णन भगवान्‌ने १८। ६२-६३ में किया है। वहाँ 'गुह्य'—कर्मयोगसे ईश्वर-भक्तिको 'गुह्यतर' बतलाया गया है।

इसपर यह प्रश्न होता है कि जब ईश्वरकी भक्तिको 'गुह्यतर' कह दिया, तब १८। ६५-६६ में भी तो ईश्वरकी भक्तिका ही वर्णन है, फिर उसमें सर्वगुह्यतमत्व क्या है ? इसका उत्तर यह है कि वहाँ भगवान्‌का 'वह ईश्वर मैं ही हूँ' इस रहस्यमय बातको प्रकट करके यह कह देना कि तू मुझमें मनवाला हो, एक मेरी ही शरणमें आ जा—यही 'सर्वगुह्यतमत्व' है। यदि कहें कि जब १८। ६५-६६ में कही हुई बात ही सर्वगुह्यतम है तो ९। ३४ के पूर्वार्द्धमें भी तो यही बात कही गयी है; फिर वहाँ उसे सर्वगुह्यतम क्यों नहीं बतलाया तो इसका उत्तर यह है कि वहाँ भी उसे 'गुह्यतम' और 'राजगुह्य' कहकर 'सर्वगुह्यतम' ही बतलाया गया है। भगवान्‌ने कहा है—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

(गीता ९। १-२)

'तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय विज्ञान-सहित ज्ञानको पुन: भलीभाँति कहूँगा, जिसे जानकर तू दु:खरूप संसारसे मुक्त हो जायगा। यह विज्ञानसहित ज्ञान सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी है।'

इस प्रकार नवें अध्यायमें वर्णित उपदेशको, जिसके उपसंहार (९।३४) में शरणागतिका आदेश है, परम गोपनीय और सब विद्याओंका राजा बतलाया गया है। इसलिये वह सर्वगुह्यतम उपदेश है।

यहाँ एक बात और ध्यान देनेकी है। भगवान्‌ने १८।६१ में ईश्वरकी व्यापकताका तत्त्व बतलाकर ६२ में उसकी शरणमें जानेकी बात कही और ६३ में 'इति ते ज्ञानमाख्यातम्' अर्थात् यह 'ज्ञान' मैंने तुझसे कह दिया—इस प्रकार इसका नाम 'ज्ञान' बतलाया। इसमें केवल निराकारकी शरणागतिका विषय है, इसलिये इसे केवल 'ज्ञान' और 'गुह्यतर' ही कहा है। किंतु नवें अध्यायमें वर्णित उपदेशको 'विज्ञानसहित ज्ञान' और 'सर्वगुह्यतम' 'राजगुह्य' बतलाया गया है। वहाँ प्रथम श्लोकमें विज्ञानसहित ज्ञान कहनेकी प्रतिज्ञा करके ९।४ में निराकारका, ९।२६ में साकारका और ९।१८ में निराकार-साकार सर्वरूपका वर्णन करते हुए यह कहा गया कि वह सब मेरा ही स्वरूप है। इसी प्रकार सातवें अध्यायके प्रथम श्लोकमें समग्र स्वरूपका वर्णन सुननेके लिये कहकर भगवान्‌ने अपने परम प्रेमी भक्त अर्जुनके प्रति दूसरे श्लोकमें यही कहा कि

'मैं तेरे लिये इस विज्ञानसहित तत्त्वज्ञानको सम्पूर्णतया कहूँगा, जिसको जानकर संसारमें फिर और कुछ जाननेयोग्य शेष नहीं रह जाता ।' फिर १९ वें श्लोकमें 'सब कुछ वासुदेव ही है' इस समग्र रूपको जाननेवाले महात्माको अतिदुर्लभ बतलाया एवं अन्तमें समग्र रूपकी उपासनाका वर्णन करते हुए कहा कि 'जो पुरुष अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित मुझे जानते हैं, वे मुझको प्राप्त हो जाते हैं । अर्थात् साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण—सब कुछ मैं ही हूँ ।' इसीको 'विज्ञानसहित ज्ञान' कहा गया । अतएव यह सिद्ध हुआ कि सगुण-निर्गुण साकार-निराकाररूप समग्र भगवान्का ज्ञान ही 'विज्ञानसहित ज्ञान' है और इस विज्ञानसहित ज्ञानको जानकर उनकी सब प्रकारसे शरण ग्रहण करना ही 'सर्वगुह्यतम' है ।

यहाँ १८ । ६४ में 'मे परमं वचः भूयः शृणु–' 'मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन' यों कहकर भी भगवान्ने यही अभिप्राय व्यक्त किया है कि मैंने नवें अध्यायमें जो बात कही थी, उसी परम रहस्यमयी बातको मैं फिर तुमसे कहता हूँ । तथा 'मे दृढं इष्टः असि', 'तू मेरा अतिशय प्रिय है'—यों कहकर यह बतलाया है कि तू मेरा अत्यन्त प्यारा भक्त है, अतः तू अधिकारी पुरुष है । वहाँ नवें अध्यायके प्रथम श्लोकमें भी 'अनसूयवे' कहकर यह स्पष्ट कर दिया था कि तुम्हारी मेरे गुणोंमें दोषदृष्टि नहीं है । अतः तुम अधिकारी पुरुष हो । ऐसे परम प्रेमी अधिकारी भक्त अर्जुनसे ही भगवान् यह सर्वगुह्यतम रहस्य कहते हैं कि 'तुम एक मेरी ही शरणमें आ जाओ ।'

३. मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा

अर्जुनने पहले अध्यायमें कहा था कि 'जनार्दन ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी ? इन आततायियोंको मारकर तो हमें पाप ही लगेगा (१ । ३६) तथा यह बड़े ही आश्चर्य और शोकका विषय है कि हमलोग बुद्धिमान् होकर भी महान् पाप करनेको तैयार हो गये हैं, जो राज्य और सुखके लोभसे स्वजनोंको मारनेके लिये उद्यत हो गये हैं (१ । ४५)।' इस प्रकार अर्जुनके मनमें जो पाप लगनेकी आशङ्का थी, उसकी निवृत्तिके लिये ही भगवान्ने २ । ३८ में यह कहा था कि 'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा । इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा ।'

अब भगवान् यहाँ १८ । ६६ में कहते हैं कि यदि तू पाप समझता है तो तू सब धर्मोंका मुझमें त्याग करके मेरी शरणमें आ जा, मैं गारंटी देता हूँ कि तू जिन-जिन कर्मोंमें पाप समझता है, उन सभी पापोंसे मैं तुम्हें मुक्त कर दूँगा ।

४. तू शोक मत कर

मोहके कारण अर्जुनको बन्धु-बान्धवोंके वध करनेके विषयमें शोक हो रहा था, उसीकी निवृत्तिके लिये भगवान्ने दूसरे अध्यायमें उसको उपदेश दिया । वहाँ भगवान्ने कहा—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥

(गीता २ । ११)

'अर्जुन ! तू न शोक करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंकी-सी बातें कहता है; परंतु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते ।'

यदि तू इन सबके शरीरोंकी ओर विचार करके शोक करता है तो उन शरीरोंके लिये शोक करना उचित नहीं है; क्योंकि—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

(गीता २ । २८)

'अर्जुन ! सम्पूर्ण प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद भी अप्रकट हो जानेवाले हैं, केवल बीचमें ही प्रकट हैं; ऐसी स्थितिमें शोक क्या करना है ।'

अतः स्वभावतः नाशवान् होनेके कारण शरीरोंके लिये शोक करना व्यर्थ है । यदि आत्माकी दृष्टिसे विचार करें, तो भी शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

(गीता २ । २०)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है, न मरता है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह

अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता ।'

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥

(गीता २ । २४-२५)

'क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और निःसंदेह अशोष्य है तथा यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है, यह आत्मा अव्यक्त है, यह आत्मा अचिन्त्य है और यह आत्मा विकाररहित कहा जाता है, इससे हे अर्जुन ! इस आत्माको उपर्युक्त प्रकारसे जानकर तू शोक करने योग्य नहीं है अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है ।'

अतः आत्माके लिये भी शोक करना सर्वथा अयुक्त है । यही उपदेश भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने ताराको दिया था—

छिति जल पावक गगन समीरा । पंच रचित अति अधम सरीरा ॥
प्रगट सो तनु तव आगें सोवा । जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा ॥

(राम० किष्किन्धा० १० । २-३)

इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि शरीर या आत्मा, किसीके लिये भी शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

यदि तू कहे कि शरीरसे आत्माका वियोग होनेके विषयमें मैं शोक करता हूँ तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
(गीता २ । २२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है ।'

यदि कहें कि पुराने वस्त्रोंके त्याग और नये वस्त्रोंके धारण करनेमें तो मनुष्यको सुख होता है, किंतु पुराने शरीरके त्याग और नये शरीरके ग्रहण करनेमें तो क्लेश होता है, अतः यहाँ यह उदाहरण समीचीन नहीं है तो इसका उत्तर यह है कि पुराने शरीरके त्याग और नये शरीरके ग्रहणमें यानी मृत्यु और जन्ममें अज्ञानी मनुष्यको ही दुःख होता है और अज्ञानी तो बालकके समान है । धीर, विवेकी और भक्तको शरीर-परित्यागमें दुःख नहीं होता । भगवान्‌ने कहा है—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥
(गीता २ । १३)

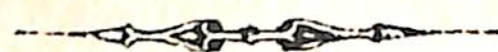
'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता ।'

श्रीरामचरितमानसमें भी लिखा है कि श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें दृढ़ प्रीति करके वालीने उसी प्रकार देहका त्याग कर दिया था, जैसे हाथी अपने गलेसे फूलकी मालाका त्याग कर देता है यानी मृत्युके दुःखका उसे पता ही नहीं लगा—

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग ।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग ॥
(राम० किष्किन्धा०)

पुराने वस्त्रोंके त्याग और नये वस्त्रोंके धारण करनेमें भी हर्ष उन्हींको होता है, जो नये-पुराने वस्त्रके तत्त्वको जानते हैं। छः महीने या सालभरके बच्चेकी मा जब उसके पुराने गंदे वस्त्रको उतारती है, तब वह बालक रोता है और नया स्वच्छ वस्त्र पहनाती है, तब भी वह रोता है। किंतु माता उसके रोनेकी परवा न करके उसके हितके लिये वस्त्र बदल ही देती है। इसी प्रकार भगवान् भी जीवके हितके लिये उसके रोनेकी परवा न करके उसकी देहको बदल देते हैं। अतः यह उदाहरण यहाँ समीचीन है।

इस प्रकार भगवान्‌ने बतलाया कि शरीर, आत्मा या शरीरसे आत्माके वियोग—किसीके लिये भी शोक करना उचित नहीं। दूसरे अध्यायके इन्हीं वचनोंका संकेत करके भगवान्‌ने यहाँ १८। ६६ में अपने प्रभावका दिग्दर्शन कराते हुए अर्जुनको सर्वथा शोक-रहित हो जानेके लिये आश्वासन दिया है कि 'तू शोक मत कर।'



गीतोक्त कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—तीनों ही मार्ग श्रेष्ठ और स्वतन्त्र हैं

अद्वैतवादी आचार्योंका कथन है कि गीता ज्ञानप्रधान ग्रन्थ है, वह अद्वैतामृतवर्षिणी है। उसमें मलदोषके नाश (अन्तःकरणकी शुद्धि) के लिये कर्मयोग, विक्षेपदोषके नाशके लिये भक्तियोग और यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये ज्ञानयोगका वर्णन है। इस प्रकार पहली सीढ़ी कर्मयोग, दूसरी सीढ़ी भक्तियोग और फलरूप अन्तिम तीसरी सीढ़ी ज्ञानयोग है। उनके सिद्धान्तके अनुसार यह प्रणाली बहुत उत्तम है।

द्वैतवादी आचार्योंका कथन है कि गीता भक्तिप्रधान ग्रन्थ है। वे कहते हैं कि उसमें कर्मयोगका साधन अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये और आत्मज्ञानका साधन आवरणनाशके लिये है एवं साक्षात् परमात्माकी प्राप्ति तो भक्तिसे ही होती है। इस प्रकार कर्मयोग पहली सीढ़ी, ज्ञानयोग दूसरी सीढ़ी और फलरूप अन्तिम तीसरी सीढ़ी भक्तियोग है। उन लोगोंकी मान्यताके अनुसार यह प्रणाली भी बहुत ही ठीक है।

कर्मयोगी महानुभावोंका कथन है कि गीता कर्मयोगप्रधान ग्रन्थ है; क्योंकि अर्जुन गृहस्थाश्रमको त्यागकर संन्यासाश्रमका अनुसरण करना चाहते थे (गीता २। ५); किंतु भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा कि 'जनकादि महापुरुष गृहस्थमें रहकर ही निष्काम कर्मयोगके द्वारा सिद्धिको प्राप्त हुए हैं, इसलिये तुमको भी लोक-संग्रहकी दृष्टिसे गृहस्थाश्रममें रहकर ही कर्म करना चाहिये'

(गीता ३ । २०) तथा अर्जुनने किया भी वही । अतः गीताका मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्मयोग ही है । भक्ति परमेश्वरके ज्ञानकी प्राप्तिका एक सुगम साधन है । ज्ञानप्राप्तिके अनन्तर कर्मोंका त्याग 'सांख्ययोग' है और ज्ञानोत्तरकालमें ईश्वरार्पणबुद्धिसे लोकसंग्रहार्थ कर्म करना 'कर्मयोग' है । इन दोनोंमेंसे गीतामें ज्ञानमूलक भक्ति-प्रधान कर्मयोगका ही प्रतिपादन है । अतः पहले तो चित्त-शुद्धिके निमित्त और उससे परमेश्वरका ज्ञान प्राप्त हो जानेपर फिर केवल लोकसंग्रहार्थ मरणपर्यन्त निष्काम कर्म करते रहना चाहिये । इन कर्मयोगी महानुभावोंकी दृष्टिके अनुसार यह पद्धति भी ठीक ही है।

कोई-कोई आचार्य महानुभाव इनसे भी भिन्न बात कहते हैं । अपनी-अपनी दृष्टिसे इन सभीका कथन शास्त्रसंगत और युक्तियुक्त है। किसी भी आचार्य या महापुरुषके प्रति यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने पक्षपात किया है । उन महापुरुषोंके अन्तःकरणमें जैसा-जैसा भाव प्रकट हुआ, उन्होंने शुद्ध नीयतसे वैसा ही कहा है । यदि किसीमें पक्षपात हो तो न तो वह महापुरुष है और न ज्ञानी महात्मा ही । साधनकालमें जिनकी जैसी श्रद्धा, विश्वास और रुचि रही है, उसीके अनुकूल साधन उनको प्रिय लगा और उसी दृष्टिसे उन्होंने गीताका अध्ययन किया; इसलिये उनको गीता वैसी ही प्रतीत होने लगी । वास्तवमें गीताका सिद्धान्त, तत्त्व और रहस्य सम्पूर्णतया भगवान् ही जानते हैं, उनका वास्तविक ज्ञान मनुष्यकी सामर्थ्यके बाहर है । फिर भी अपने कल्याणके लिये मनुष्यको किसी-न-किसी प्रणालीको अपनाना ही होगा; इसी उद्देश्यसे मैंने भी गीताका साधारणतया विचार और मनन किया, यद्यपि मेरा अध्ययन

बहुत ही अल्प है। क्योंकि गीता तो ज्ञान, कर्म, भक्ति, वैराग्य और सदाचारका भंडार है; इसके अभ्याससे मनुष्यके हृदयमें नित्य नये भाव उत्पन्न होते रहते हैं। गीता तो उपदेशका सागर है, इसका कहीं पार नहीं है। एक जन्ममें ही नहीं, यदि मैं सैकड़ों जन्मों-तक गीताका ही अभ्यास करता रहूँ तो भी गीताके उपदेशों और भावोंकी समाप्ति नहीं हो सकती। जब मैं अपनी ओर देखता हूँ, तब गीताके प्रतिपाद्य विषयपर लिखनेमें मुझे संकोच ही होता है; क्योंकि भगवान्‌ने अर्जुनको जिस उद्देश्यसे जो बात कही है, उसका यथार्थ ज्ञान तो भगवान्‌को ही है। मैं तो अपनी अल्पबुद्धिके अनुसार अनुमान ही कर सकता हूँ; क्योंकि मैं सर्वज्ञ तो हूँ नहीं, एक साधारण मनुष्य हूँ।

मेरी साधारण बुद्धिके अनुसार मेरी समझमें यह बात आयी है कि उपर्युक्त आचार्य महानुभावोंकी बतलायी हुई पद्धतियोंका आदर करते हुए उनके अनुसार साधन करनेपर साधकको परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है; किंतु इसके सिवा और भी शिक्षाप्रद भाव गीतामें भरे पड़े हैं, जिनका आविष्कार अभी नहीं हुआ है, किसी समय भविष्यमें हो भी सकता है। मेरी समझमें गीताके सिद्धान्ता-नुसार कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग—तीनों ही साधन स्वतन्त्र हैं तथा तीनों ही साधनोंके द्वारा परमात्माका यथार्थ ज्ञान और परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। जिसको गीतामें कहीं परम शान्ति, कहीं परमपद, कहीं अनामय पद, कहीं परमधाम, कहीं परम गति, कहीं निर्वाण ब्रह्म, कहीं शाश्वत पद, कहीं परम दिव्य पुरुषकी

प्राप्ति आदि नामोंसे कहा गया है, वह परमात्माकी प्राप्ति उक्त तीनों ही साधनोंके द्वारा हो सकती है। एवं अधिकारी-भेदसे ये तीनों ही साधन उत्तम (श्रेष्ठ), सुगम, शीघ्र सिद्धि प्रदान करनेवाले, सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाले, परमात्माका यथार्थ ज्ञान तथा परमपद-स्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हैं।

गीतामें इन छहों बातोंका उक्त तीनों साधनोंमें ही पृथक्-पृथक् दिग्दर्शन कराया गया है, जिसको संक्षेपमें नीचे बताया जाता है—

कर्मयोग

आत्मकल्याणके विषयमें कर्मयोगको ज्ञानयोगसे श्रेष्ठ बतलाते हुए भगवान्ने कहा है—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥

(गीता ५ । २)

'कर्मसंन्यास और कर्मयोग—ये दोनों ही परम कल्याणके करनेवाले हैं, परंतु उन दोनोंमें भी कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्म-योग श्रेष्ठ है।'

इतना ही नहीं, कर्मयोग अभ्यास, विवेक-ज्ञान और ध्यानसे भी श्रेष्ठ है। भगवान् कहते हैं—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

(गीता १२ । १२)

'मर्मको न जानकर किये हुए अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्यागरूप कर्मयोग श्रेष्ठ है, क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है।'

कर्मयोग श्रेष्ठ है, इतनी ही बात नहीं, वह सुगम भी है; क्योंकि कर्मयोगके साधनसे साधक अनायास ही सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है। भगवान्ने गीताके पाँचवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें बतलाया है—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते॥

'हे अर्जुन! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझनेयोग्य है; क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

कर्मयोगका साधन सुगम तो है ही, इसके सिवा उसके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो सकती है। भगवान् गीताके पाँचवें अध्यायके छठे श्लोकमें कहते हैं—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥

'परंतु हे अर्जुन! कर्मयोगके बिना संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग प्राप्त होना कठिन है और भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।'

इसमें यह भी बतला दिया गया कि पहले कर्मयोगका साधन किये बिना ज्ञानयोगकी सिद्धि होनी कठिन है। किंतु कर्मयोगीको ज्ञानयोगका साधन करना ही पड़े—ऐसी बात नहीं, इसके लिये वह बाध्य नहीं है; इसलिये कर्मयोग स्वतन्त्र भी है।

एवं कर्मयोगके द्वारा पापोंका नाश होकर अन्तःकरणकी शुद्धि भी हो जाती है। भगवान् कहते हैं—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

(गीता ४। २३)

'जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है, जो देहाभिमान और ममतासे रहित हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्माके ज्ञानमें स्थित रहता है—ऐसे निष्काम भावसे केवल यज्ञ-सम्पादनके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं।'

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥

(गीता ५। ११)

'कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं।'

इसके सिवा कर्मयोगके साधकको यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति भी उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जानेपर अपने-आप हो जाती है। भगवान्ने कहा है—

तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(गीता ४। ३८ का उत्तरार्ध)

'उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

इसके अतिरिक्त केवल कर्मयोगसे ही अनामय पद और परमशान्तिरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान् कहते हैं—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
(गीता २।५१)

'समबुद्धिसे युक्त ज्ञानीजन कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको त्यागकर निस्संदेह जन्मरूप बन्धनसे मुक्त हो निर्विकार परम पदको पा लेते हैं।'

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
(गीता २।७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही परमात्माकी प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है।'

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
(गीता ३।१९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्य कर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परम पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

(गीता ५ । १२)

'कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है ।'

इस कर्मयोगके साथ यदि भक्तिका समावेश करके कर्मोंका आचरण भगवदर्पण या भगवदर्थ बुद्धिसे किया जाय, तब तो कहना ही क्या है ! उसे तो भगवान्‌की कृपासे भगवत्प्राप्ति होती ही है । भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

(९ । २७-२८)

'हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे । इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उससे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त करेगा ।'

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥

(गीता १२ । १०)

'यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही पायेगा।'

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है।'

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
(गीता १८। ५६)

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परम पदको प्राप्त कर लेता है।'

गीतामें कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग और ज्ञानयोग—इन सभी साधनोंको स्वतन्त्र तथा सभीका अन्तिम फल एक ही बतलाया गया है। किसी साधककी रुचि कर्मयोगमें, किसीकी ज्ञानयोगमें और किसीकी भक्तियोगमें एवं किसीकी ध्यानयोगमें होती है; किंतु इनके फलमें कोई भेद नहीं है। भगवान्ने कहा है—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥
(गीता ५ । ४-५)

'संन्यास (ज्ञानयोग) और कर्मयोगको मूर्खलोग पृथक्-पृथक् फल देनेवाले कहते हैं, न कि पण्डितजन; क्योंकि दोनोंमेंसे किसी एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको पा लेता है। ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परम धाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥
(गीता १३ । २४)

'उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं; अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं।'

इससे यह निश्चय हो गया कि कर्मयोगीको कर्मयोगका साधन करनेके पश्चात् भक्तियोग या ज्ञानयोगका साधन करना ही पड़े—ऐसी बात नहीं है। यदि कोई करे तो अच्छी बात है, किंतु वह करनेके लिये बाध्य नहीं है; क्योंकि केवल कर्मयोगसे ही पापोंका नाश होकर यथार्थ ज्ञान और परमात्माकी प्राप्ति सुगमतापूर्वक और शीघ्र हो सकती है।

अतः परमात्माकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको अवश्य अनासक्त और निष्काम भावसे ही कर्म करना चाहिये। गीताके तीसरे अध्यायमें, जो कर्मयोगके नामसे प्रसिद्ध है, भगवान्‌ने इस बातपर विशेष जोर दिया है। गीता-तत्त्व-विवेचनी टीकामें तीसरे अध्यायके २९ वें श्लोकका ३० वें श्लोकके साथ सम्बन्ध बतलाते हुए कर्मकी अवश्यकर्तव्यतापर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

भक्तियोग

गीतामें कर्मयोगके विषयमें जो उपर्युक्त छः बातें बतलायी गयी हैं, वे सब भक्तियोगके विषयमें भी कही गयी हैं। भक्तोंके लिये सबसे बढ़कर भक्तियोगका ही साधन है। अतः भक्तोंको श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भक्तियोगका साधन करना चाहिये। परमात्मविषयक ज्ञान और परमपदकी प्राप्ति तो कर्मयोग और ज्ञानयोगसे भी हो सकती है; किंतु भगवान्‌का साक्षात् दर्शन तो अनन्य भक्तिसे ही हो सकता है, कर्मयोग और ज्ञानयोगसे नहीं। अनन्य भक्तिसे साक्षात् दर्शन ही नहीं, आत्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान और परमात्मामें प्रवेशरूप सायुज्यमुक्ति भी हो जाती है। भगवान्‌ने गीताके ११ वें अध्यायके ५४ वें श्लोकमें कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

'हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकारके रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखा, तत्त्वसे जाना तथा प्रवेश किया अर्थात् एकीभावसे प्राप्त भी किया जा सकता हूँ।'

अतः भक्ति सब साधनोंसे उत्तम है और इस कारण ही भगवान्‌ने अपने भक्तको सर्वोत्तम बतलाया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

(गीता ६ । ४७)

'कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, अष्टाङ्गयोगी और भक्तियोगी—इन सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मा (मन-बुद्धि) से मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

भक्तिमार्गमें सगुण-साकार या सगुण-निराकार—किसी भी स्वरूपकी उपासना बहुत ही सरल है । भगवान्‌ने सगुण-साकार और सगुण-निराकारके उपासकके लिये अपनेको सुलभ बतलाते हुए कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

(गीता ८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥
(गीता ९ । १-२)

'तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय विज्ञान-सहित ज्ञानको मैं पुनः भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा । यह विज्ञानसहित ज्ञान सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी है ।'

सगुण-साकारकी उपासनामें और भी सुगमता दिखलाते हुए कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
(गीता ९ । २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ ।'

उदाहरणके लिये द्रौपदीके केवल सागकी पत्ती अर्पण करनेसे, गजेन्द्रके केवल पुष्पकी भेंट चढ़ानेसे, शबरी (भीलनी) के केवल फल अर्पण करनेसे और रन्तिदेवके केवल जल प्रदान करनेसे ही भगवान् प्रसन्न हो गये थे । इस प्रकार इन भक्तोंको भगवान् सुगमतापूर्वक ही मिल गये ।

भक्तिमार्ग सुगम तो है ही, उससे भगवान्‌की प्राप्ति शीघ्र होती है और भगवान्‌की भक्ति करनेवाले पुरुषका भगवान् स्वयं मृत्युरूप संसार-सागरसे उद्धार करते हैं ।

भगवान्‌ने कहा है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

(गीता १२ । ६-७)

'जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे अर्जुन ! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका तो शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला मैं होता हूँ अर्थात् मैं उनका उद्धार कर देता हूँ ।'

उदाहरणके लिये ध्रुव, प्रह्लाद और उद्धव आदि भक्त भगवान्‌की भक्तिद्वारा शीघ्र ही भगवान्‌को प्राप्त हो गये ।

ये सब भक्त तो पहलेसे ही श्रेष्ठ थे; किंतु यदि कोई बड़ा भारी पापी हो तो उसका भी भक्तिके द्वारा शीघ्र ही उद्धार हो सकता है । उदाहरणके लिये अजामिल, बिल्वमङ्गल आदि भक्त पहले पापी थे, किंतु भगवान्‌की भक्तिसे उनका शीघ्र ही उद्धार हो गया । अतः गुण, जाति और आचरण आदिसे कोई कैसा भी नीच क्यों न हो, भक्तिसे उसका भी शीघ्र ही उद्धार हो जाता है । भगवान् गीतामें कहते हैं—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
(गीता ९ । ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है, अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है ।'

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है । हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरे भक्तका कभी विनाश नहीं होता ।'

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
(गीता ९ । ३२)

'हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं ।'

भगवान्‌की भक्ति करनेवाले प्रेमी भक्तको भगवत्कृपासे परमात्माके यथार्थ ज्ञानकी और परम पदरूप परमात्माके स्वरूपकी भी प्राप्ति हो जाती है ।

भगवान्‌ने कहा है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

(गीता १० । ९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।'

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

(गीता १० । ११)

'हे अर्जुन ! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ ।'

इसी प्रकार गीतामें और भी जगह भक्तिके द्वारा यथार्थ ज्ञान और परम पदकी प्राप्ति बतलायी गयी है ।

ज्ञानयोग

इसी प्रकार ज्ञानयोगके विषयमें भी उपर्युक्त छहों बातें बतलायी गयी हैं । गीताके तेरहवें अध्यायके ७ वेंसे ११ वें श्लोकतक जितने साधन बतलाये गये हैं, उनको भगवान्‌ने ज्ञानकी प्राप्तिमें हेतु होनेके

कारण 'ज्ञान'के नामसे कहा है; उनका जो फल है, वही वास्तवमें परमात्माका यथार्थ ज्ञान है। भगवान्‌ने उस यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये फलसहित साधनोंका वर्णन प्रकारान्तरसे १८ वें अध्यायके ४९ वेंसे ५५ वें श्लोकतक किया है। इनके सिवा गीतामें ज्ञानका विषय चौथे, पाँचवें और चौदहवें अध्यायोंमें भी आया है। तेरहवाँ अध्याय तो सारा-का-सारा ज्ञानके वर्णनसे ओतप्रोत है ही। उस ज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानी महात्माओंकी शरणमें जानेसे, ज्ञानके साधनोंके अनुष्ठानसे तथा श्रद्धा-विश्वास, सत्सङ्ग और स्वाध्याय आदि अनेक उपायोंसे होती है।

गीतामें ज्ञानयोगको भी सब साधनोंसे उत्तम बतलाया गया है। साधनरूप ज्ञान और फलरूप ज्ञान दोनोंकी ही भगवान्‌ने प्रशंसा की है।

भगवान् कहते हैं—

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥

(गीता ४। ३३)

'हे परंतप अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है; क्योंकि यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं।'

ज्ञानका मार्ग सर्वोत्तम तो है ही, सुगम और पापनाशक भी है। यों तो गीताके १२ वें अध्यायके ५ वें श्लोकमें इसे कठिन बतलाया गया है; किंतु वहाँ देहाभिमानी पुरुषोंके लिये ही उसे कठिन बतलाया गया है, ब्रह्मभूत यानी 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ब्रह्मके स्वरूपमें स्थित पुरुषोंके लिये नहीं, प्रत्युत उनके लिये तो

बहुत ही सुगम बतलाया गया है। भगवान् कहते हैं—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥
युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥
(गीता ६। २७-२८)

'जिसका मन भली प्रकार शान्त है, जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित हुए योगीको निस्संदेह उत्तम आनन्द प्राप्त होता है। वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका अनुभव करता है।'

इतना ही नहीं, श्रद्धा-विश्वास होनेपर तत्त्वज्ञानसे तो शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने चौथे अध्यायके ३९ वें श्लोकमें कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त कर लेता है तथा ज्ञानको प्राप्त करके वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको पा लेता है।'

चाहे मनुष्य कैसा भी पापी हो, तत्त्वज्ञानसे उसके सारे पापोंका नाश हो जाता है। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥
(गीता ४ । ३६)

'यदि तू अन्य सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है तो भी तू ज्ञानरूप नौकाद्वारा निस्संदेह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे भलीभाँति तर जायगा ।'

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥
(गीता ४ । ३७)

'क्योंकि हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनके ढेरको भस्म कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्म कर देता है ।'

अतः ज्ञानयोगीको ज्ञानयोगके साधनद्वारा तत्त्वज्ञान होकर उसके सारे पापोंका नाश हो जाता है । साथमें निष्काम कर्म या भक्तियोगका साधन हो, तब तो कहना ही क्या ! किंतु कर्मयोग या भक्तियोग करनेके लिये वह बाध्य नहीं है; क्योंकि ज्ञानयोग स्वतन्त्र साधन भी है । इसलिये केवल ज्ञानयोगके द्वारा ही उसे परमात्माका यथार्थ ज्ञान और परमपदस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति भी हो सकती है । भगवान्‌ने कहा है—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥
(गीता ५ । २४)

'जो पुरुष अन्तरात्मामें ही सुखका अनुभव करता है, आत्मामें ही रमण करता है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानका अनुभव करता है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको पा लेता है ।'

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
(गीता १८ । ५४-५५)

'फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है । ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभावना करनेवाला योगी ज्ञानयोगकी परानिष्ठारूप मेरी पराभक्तिको प्राप्त कर लेता है । उस पराभक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूँ और जितना हूँ—ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है ।'

ज्ञानयोगके साधनोंका वर्णन करते हुए भगवान्ने कहा है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥
(गीता ४ । २४)

'जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म हैं और हवन किये जानेयोग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्त्ताके द्वारा ब्रह्मरूप

अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले योगीद्वारा प्राप्त किये जानेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है।'

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥

(गीता ४। २५ का उत्तरार्ध)

'अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्निमें अभेद-दर्शनरूप यज्ञके द्वारा ही आत्मरूप यज्ञका हवन किया करते हैं।'

इस प्रकार गीताके श्लोकोंसे ही यह दिखलाया गया कि कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—ये तीनों ही मार्ग श्रेष्ठ, सुगम, शीघ्र सिद्धिदायक, पापनाशक, यथार्थ ज्ञानप्रद और परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हैं। गीतामें भगवान्‌ने जो इन सभीकी इस प्रकार प्रशंसा की है, वह झूठी प्रशंसा नहीं है एवं न इससे उनके वाक्योंमें परस्पर विरोधका ही दोष आता है। वस्तुतः अधिकारी-भेदसे ही तीनों मार्गोंकी प्रशंसा की गयी है। जो जिस मार्गका अधिकारी है, उसके लिये वही मार्ग श्रेष्ठ, सुगम, शीघ्र फलदायक, पापनाशक, यथार्थ-ज्ञानप्रद और परमात्मप्राप्तिकारक है; क्योंकि सबकी श्रद्धा, विश्वास, रुचि, प्रकृति और बुद्धि एक-दूसरेसे भिन्न हुआ करती है। इसीलिये गीतादि शास्त्रोंमें अधिकारी-भेदसे भिन्न-भिन्न साधन बतलाये गये हैं। सभी साधन बहुत ही उत्तम और उपयोगी हैं। अतएव मनुष्यको अपनी श्रद्धा, विश्वास, रुचि और प्रकृतिके अनुसार उपर्युक्त किसी भी मार्गका अवलम्बन करके तत्परतापूर्वक परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील होना चाहिये।



शीघ्रातिशीघ्र परमात्माकी प्राप्ति होनेके साधन

बहुत-से भाई मुझसे पूछा करते हैं कि 'परमात्माकी प्राप्ति कितने समयमें हो सकती है ?' इसका उत्तर मैं यह दिया करता हूँ कि इसके लिये कोई समय निर्धारित नहीं है। इसमें तो साधकके भावकी ही प्रधानता है। (१) ईश्वर और महापुरुषोंमें परम श्रद्धा, (२) परमात्माके स्वरूपका तात्त्विक ज्ञान, (३) निष्काम कर्म और (४) अनन्य प्रेम (अनन्य भक्ति) पूर्वक भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र इच्छा—ये सब भाव हैं। ये सभी भाव परमात्माकी प्राप्तिके उत्तम साधन हैं। इनमेंसे प्रत्येक भावमें शीघ्र परमात्माको प्राप्त करा देनेकी शक्ति है। साथमें ममता और अभिमानके अभावपूर्वक तीव्र अभ्यास और वैराग्य हो, तब तो और भी शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। महर्षि श्रीपतञ्जलिने कहा है—

तीव्रसंवेगानामासन्नः। (योगदर्शन १।२१)

'जिनके अभ्यास-वैराग्यके साधनकी गति तीव्र है, उनका योग शीघ्र सिद्ध होता है।'

मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः। (योगदर्शन १।२२)

'किंतु अभ्यास-वैराग्यके साधनकी मात्रा हल्की, मध्यम और उच्च होनेके कारण तीव्र संवेगवालोंमें भी कालका भेद हो जाता है।'

इसलिये जिनका साधन तीव्र होता है तथा भाव भी उच्च कोटिका होता है, उनको शीघ्रातिशीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

(१) जैसे बिजलीकी फिटिंग हो जाने और पावर-हाउससे कनेक्शन प्राप्त हो जानेपर स्विच दबानेके साथ ही रोशनी क्षणमात्रमें हो जाती है, इसी प्रकार मनुष्य जब पात्र बन जाता है अर्थात् जब वह परम श्रद्धालु बन जाता है, तब उसे परमात्माकी प्राप्ति तत्क्षण हो जाती है। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
(४। ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

जो ईश्वर और महापुरुषोंमें भक्ति एवं प्रत्यक्षकी भाँति विश्वास है, वह श्रद्धा है और उनमें जो भक्तिपूर्वक प्रत्यक्षसे भी बढ़कर विश्वास है, वह परम श्रद्धा है। प्रत्यक्षसे बढ़कर श्रद्धा कैसी होती है—इसको समझनेके लिये राजा द्रुपदके चरित्रपर ध्यान देना चाहिये। पहले जब राजा द्रुपदके कोई संतान नहीं थी, तब उन्होंने संतानके लिये भगवान् शङ्करकी उपासना की थी। भगवान् शङ्करके प्रसन्न होनेपर राजाने उनसे संतानकी याचना की। तब शिवजीने कहा—'तुम्हें एक कन्या प्राप्त होगी।' राजा द्रुपद बोले—'भगवन्! मैं कन्या नहीं चाहता, मुझे तो पुत्र चाहिये।' इसपर शिवजीने कहा—'वह कन्या ही आगे चलकर पुत्ररूपमें परिणत हो जायगी।' इस वरदानके फलस्वरूप राजा द्रुपदके घर कन्या उत्पन्न हुई। राजाको भगवान् शिवके वचनोंपर पूर्ण

विश्वास था, इसलिये उन्होंने उसे पुत्रके रूपमें प्रसिद्ध किया और उसका नाम भी पुरुष-जैसा 'शिखण्डी' रक्खा। इतना ही नहीं, उन्होंने दशार्णदेशके राजा हिरण्यवर्माकी कन्यासे उसका विवाह भी कर दिया। यद्यपि प्रत्यक्षमें तो वह लड़की है, पर राजाको पूर्ण विश्वास है कि वह समयपर लड़का बन जायगा और हुआ भी वैसा ही (महा० उद्योग० अ० १८८--१९२)। यह लौकिक-विषयक प्रत्यक्षसे बढ़कर श्रद्धा है। ऐसी श्रद्धा परमात्मामें हो तो परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण अवताररूपमें पृथ्वीपर विद्यमान थे, उस समय जिन भीष्म, अर्जुन आदि पुरुषोंकी उनमें परम श्रद्धा थी, उनको तो वे प्राप्त ही थे; किंतु जिन दुर्योधनादिकी भगवान्में श्रद्धा नहीं थी, उनको भगवान् प्राप्त होकर भी अप्राप्त ही थे। जैसे किसीके पास पारस तो है, परंतु उसे पारसका ज्ञान नहीं है तो उसे पारस प्राप्त होते हुए भी अप्राप्त ही है, वैसे ही जिनको भगवान् श्रीकृष्णके परमात्मा होनेका विश्वास और अनुभव नहीं था, उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण प्राप्त होते हुए भी अप्राप्त ही थे; क्योंकि अनुभव होनेसे ही श्रद्धा होती है और श्रद्धा होनेसे ही भगवान्में प्रेम होकर उनकी प्राप्ति होती है। जैसे भक्त सुतीक्ष्णका भगवान् श्रीरामके परमात्मा होनेमें विश्वास था, इसीसे वे भगवान्के प्रेममें मग्न हुए उनका दर्शन करनेके लिये आतुर हो चल पड़े तथा प्रेममें इतने विह्वल हो गये कि उन्हें अपना और दिशाओंका भान भी नहीं रहा और वे मार्गमें ही बैठ गये। उनके प्रेमके कारण भगवान्

तुरंत उनके निकट आ पहुँचे। उनकी इस प्रेमावस्थाका वर्णन श्रीतुलसीदासजीके शब्दोंमें ही पढ़िये—

मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना। नाम सुतीछन रति भगवाना॥
मन क्रम बचन राम पद सेवक। सपनेहुँ आन भरोस न देवक॥
प्रभु आगमनु श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा॥
... ...
मुनि मग माझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा॥
तब रघुनाथ निकट चलि आए। देखि दसा निज जन मन भाए॥
(राम० अरण्य० ९। १-२,८)

इस प्रकार भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम होनेसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है, भगवत्प्राप्त महापुरुषमें श्रद्धा-प्रेम होनेसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है।

जैसे पतिव्रता स्त्री पतिकी आज्ञाके अनुसार चलती है, जैसे मातृ-पितृ-भक्त मनुष्य माता-पिताकी आज्ञाके अनुसार चलता है और जैसे ईश्वरका भक्त ईश्वरकी आज्ञाके अनुसार चलता है, उसी प्रकार जो महापुरुषकी आज्ञाके अनुसार बड़ी प्रसन्नतापूर्वक आचरण करता है, उसको भी परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो सकती है। छान्दोग्य उपनिषद्‌में कथा आती है कि जबालाके पुत्र सत्यकामका श्रीहारिद्रुमत गौतमकी कृपासे—उनकी आज्ञाके पालनसे ही उद्धार हो गया और महात्मा सत्यकामकी सेवा करनेसे उपकोसलका उद्धार हो गया।

सूत्रधार कठपुतलीको जैसे नचाता है, वैसे ही वह नाचती है, उसी प्रकार जो महापुरुषके प्रति अपने-आपको सौंपकर वे जैसे नचावें

वैसे ही नाचता है, उसको बहुत ही शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। फिर जो जैसे छाया पुरुषका अनुसरण करती है, उसी प्रकार महापुरुषके संकेतके अनुसार चलता है, उसका अतिशीघ्र उद्धार हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है ! एवं महापुरुषके सिद्धान्तोंको समझकर उनके अनुसार चलनेका जिसका स्वभाव बन गया है, वह तो परमात्माको प्राप्त ही है। जैसे दर्पणमें अपना प्रतिबिम्ब दीखनेकी भाँति एक ईश्वरभक्तको ईश्वरके मनकी बात माल्म हो जाती है, पतिव्रता स्त्रीको पतिके मनकी बात माल्म हो जाती है, इसी प्रकार महापुरुषमें परम श्रद्धा रखनेवाले पुरुषको महापुरुषके मनकी बात माल्म हो जाती है, तब उस परम श्रद्धालुकी सारी क्रियाएँ महापुरुषके मनके अनुकूल स्वाभाविक ही होने लगती हैं। यह है महापुरुषमें सबसे बढ़कर परम श्रद्धा। ऐसी परम श्रद्धा होनेपर महापुरुषकी कोई भी क्रिया अपने मनके विपरीत होनेपर भी विपरीत नहीं लगती। वास्तवमें महापुरुषोंकी कोई भी क्रिया शास्त्रविपरीत नहीं होती, बिना समझे हमें विपरीत दीख सकती है। यदि वास्तवमें शास्त्रविपरीत क्रिया होती है तब तो वह महापुरुष ही नहीं है। महापुरुषमें जिसकी परम श्रद्धा है, उसको तो उनकी सारी क्रियाएँ लीलाके रूपमें दीखने लगती हैं, चाहे वे उसके मनके कितनी भी विपरीत क्यों न हों। अपने मनके अनुकूल क्रिया तो सभीको आनन्द देनेवाली होती है; किंतु महापुरुषकी अपने मनके विपरीत क्रिया देखकर भी जिस परम श्रद्धालुको ऐसी अतिशय प्रसन्नता होती है और वह उसमें इतना मुग्ध हो जाता है कि उसमें यह प्रसन्नता समाती ही नहीं तथा उस प्रसन्नतामें वह अपने-आपको भी

भूल जाता है, उस परम श्रद्धालु साधकको श्रद्धाके प्रभावसे भगवान्‌की प्राप्ति उसी समय हो सकती है। इसके लिये मैंने शास्त्रमें तो कोई उदाहरण नहीं देखा, किंतु यह मेरे हृदयका उद्गार है।

(२) परमात्माके स्वरूपका तात्त्विक ज्ञान भी एक उच्च कोटिका भाव है। जैसे स्वप्नावस्थामें स्वप्नके संसारके सम्बन्धमें जब यह ज्ञान हो जाता है कि यह स्वप्नका संसार है, तब उसी क्षण उस मनुष्यकी जाग्रत् अवस्था हो जाती है, इसी प्रकार इस संसारको स्वप्नवत् समझ लेनेपर जब परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब क्षणभरमें परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। उपनिषद्‌में बतलाया गया है—

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।

(मुण्डक० ३। २। ९)

'निश्चय ही जो कोई भी उस ब्रह्मको जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है।'

कभी मनुष्यको ऐसा दिग्भ्रम हो जाता है कि वह दिग्भ्रम वर्षोंतक दूर नहीं होता, किंतु अपने जन्मस्थानपर आनेसे उसी क्षण दूर हो जाता है। इसी प्रकार जब मनुष्य परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो जाता है, तब यह संसारका भ्रम क्षणभरमें दूर हो जाता है।

यह जो कुछ दीखता है, जो कुछ समझमें आता है और जिनके द्वारा देखा और समझा जाता है, वे मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ—सभी मायाके कार्य है और जड हैं, किंतु आत्मा चेतन है। जब मनुष्यको

इस प्रकारका यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब वह उसी क्षण परमात्माको प्राप्त हो जाता है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥
(१३। ३४)

'इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होनेको जो पुरुष ज्ञाननेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं, वे महात्माजन परम ब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।'

(३) निष्कामता भी एक उत्तम भाव है। इसकी प्रशंसा सभी शास्त्रोंमें की गयी है। कठोपनिषद्‌में निष्कामी नचिकेताकी बड़ी सुन्दर कथा है। जब नचिकेताने यमलोकमें जाकर यमराजसे आत्मतत्त्वके विषयमें प्रश्न किया तो उस समय यमराजने उसकी परीक्षा करनेके लिये बहुत-से प्रलोभन दिखलाते हुए कहा— 'नचिकेता! तुम हाथी, सुवर्ण, घोड़े और विशाल भूमण्डलके महान् साम्राज्यको माँग लो और इन सबको भोगनेके लिये जितने वर्षोंतक जीनेकी इच्छा हो, उतने वर्ष जीते रहो तथा जो-जो भोग मृत्युलोकमें दुर्लभ हैं, उन सम्पूर्ण भोगोंको तुम इच्छानुसार माँग लो! रथ और नाना प्रकारके बाजोंके सहित इन स्वर्गकी अप्सराओंको अपने साथ ले जाओ। मनुष्योंको ऐसी स्त्रियाँ निस्संदेह अलभ्य हैं। मेरे द्वारा दी हुई इन स्त्रियोंसे तुम अपनी सेवा कराओ। नचिकेता! मरनेके बाद आत्माका क्या होता है—इसको मत पूछो!'

इस प्रकारका प्रलोभन दिये जानेपर भी नचिकेताका चित्त उनमें नहीं लुभाया, बल्कि उसने यही कहा—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥
..............................वरस्तु मे वरणीयः स एव॥
(कठ० १।१।२६-२७)

'यमराज! जिनका आपने वर्णन किया, वे क्षणभङ्गुर भोग मनुष्यके अन्तःकरणसहित सम्पूर्ण इन्द्रियोंके तेजको क्षीण कर डालते हैं। इसके सिवा, समस्त आयु, चाहे वह कितनी भी बड़ी क्यों न हो, अल्प ही है। इसलिये ये आपके रथ आदि वाहन और ये अप्सराओंके नाच-गान आपके ही पास रहें, मुझे ये नहीं चाहिये। मेरा प्रार्थनीय तो वह आत्मविषयक वर ही है।'

यह सुनकर यमराज प्रसन्न हो गये और बोले—'नचिकेता! तुम ज्ञानके सच्चे अभिलाषी हो; क्योंकि बहुत-से बड़े-बड़े भोग भी तुमको नहीं लुभा सके। हमें तुम-जैसे ही पूछनेवाले जिज्ञासु मिला करें।' यह है निष्काम भाव।

श्रीमद्भगवद्गीतामें वर्णित निष्कामभाव तो इससे भी बढ़कर है। गीतामें तो यहाँतक बतला दिया गया है कि निष्काम भाव अभ्यास, ज्ञान और परमात्माके ध्यानसे भी बढ़कर है (गीता ५। २; ६। १; १२। १२)। इतना ही नहीं, यह साधन सुगम भी है (गीता ५। ३) तथा यह स्वतन्त्र भी है (गीता ५। ४ ५; १३। २४)।

यदि कहें कि शास्त्रमें यह कहा गया है कि 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'—बिना ज्ञानके कल्याण नहीं हो सकता, सो ठीक है।

किंतु कर्मयोगके साधनके प्रभावसे अन्तःकरण शुद्ध होकर परमात्माका यथार्थ ज्ञान भी स्वतः ही प्राप्त हो जाता है (गीता ४ । ३८)।

यदि कहें कि पापोंका नाश हुए बिना अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं होती सो ठीक है। इस निष्काम कर्मसे पापोंका सर्वथा नाश भी हो जाता है (गीता ४ । २३; ५ । ११)।

इतना ही नहीं, कर्मयोगके साधकको परम शान्तिकी प्राप्ति भी इसी साधनसे हो जाती है (गीता २ । ७१; ५ । १२)। एवं परम शान्तिकी प्राप्तिके साथ ही अनामयपदकी और परमात्माकी प्राप्ति भी हो जाती है (गीता २ । ५१; ३ । १९)।

इसके सिवा इस निष्काम कर्मके साधनसे साधकको परमात्माकी प्राप्ति उसी क्षण हो जाती है। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥
(५ । ६)

'अर्जुन! कर्मयोगके बिना तो संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग प्राप्त होना ही कठिन है और भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है।'

साथमें भगवान्‌की भक्तिका समावेश हो, तब तो कहना ही क्या है! उसके लिये तो भगवान् स्वयं कहते हैं कि 'वह निस्संदेह

मुझे प्राप्त हो जाता है ।' गीताके १८ वें अध्यायके ४९ वेंसे ५५ वें श्लोकतक वर्णित ज्ञाननिष्ठाके अनुसार जो परमात्माकी प्राप्ति सांसारिक विषय-भोगोंके और राग-द्वेषके त्यागसे तथा एकान्तवास, अतिशय वैराग्य और परमात्माके ध्यानसे मल, विक्षेप और आवरणका नाश होनेपर होती है, वह भगवान्‌की शरणपूर्वक सदा-सर्वदा कार्य करते हुए भगवान्‌की कृपासे सहज ही हो जाती है (गीता १८ । ५६) । यह कर्मयोगके साथ भगवान्‌की भक्तिका समावेश कर देनेकी विशेष महिमा है । भगवान्‌ने अर्जुनसे गीतामें आठवें अध्यायके ७ वें श्लोकमें भी कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर । इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा ।'

निष्काम भावसे कर्म करनेवाला पुरुष विषयोंमें और कर्मोंमें आसक्त नहीं होता, तब वह कर्म करता हुआ और विषयोंमें विचरण करता हुआ भी परमात्माको प्राप्त हो जाता है । निष्काम भावके प्रभावसे अन्तःकरणकी शुद्धि, सम्पूर्ण दुःखों, पापों और विकारोंका नाश, चित्तकी प्रसन्नता और परम शान्तिकी प्राप्ति —ये सभी बातें स्वतः ही आ जाती हैं तथा कार्य करते समय धैर्य, उत्साह और प्रसन्नता रहती है; किंतु लोग निष्काम कर्मके तत्त्वको नहीं समझते । इसमें क्रियाकी प्रधानता नहीं है, भावकी

प्रधानता है। दूसरोंके हितके लिये मनुष्य धन, पदार्थ, शरीरके आराम और स्वार्थका त्याग करके भी तबतक निष्कामी नहीं समझा जाता, जबतक उसमें मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी इच्छा और प्रीति रहती है; क्योंकि मनुष्य मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाके लिये उपर्युक्त सभी स्वार्थोंका त्याग कर सकता है। एवं मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाका त्याग होनेपर भी जबतक ममता, आसक्ति और अभिमानका त्याग नहीं होता, तबतक वह वास्तवमें निष्कामी नहीं समझा जाता। इन सबका त्याग होनेपर भी यदि वह अपनेको निष्कामी समझता है तो यह भी उसके लिये दोष है। लोग स्वार्थका त्याग करके कर्म करते हैं और अपनेको निष्कामी मान लेते हैं, किंतु उनकी यह मान्यता गलत है। निष्कामी पुरुषको लोग ही निष्कामी कहते हैं, वह अपनेको निष्कामी नहीं मानता।

मनुष्य जब राग-द्वेषसे शून्य हो जाता है—उसके अन्तःकरणसे राग-द्वेषका अत्यन्त अभाव हो जाता है, तब उसके प्रभावसे उसके मन-इन्द्रिय तो स्वाभाविक ही वशमें हो जाते हैं। वह विषयोंसे उपराम हुए बिना ही, विषयोंमें विचरण करता हुआ ही सहज ही परमात्माको प्राप्त कर लेता है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(२।६४-६५)

'अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक तो अपने

वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

इसलिये मनुष्यको सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंमें भगवद्भक्तिका समावेश करके निष्काम-भावसे कर्म करना चाहिये। सम्पूर्ण पदार्थोंमें भगवान् व्यापक हैं, वे सब भगवान्के हैं और मैं भी भगवान्का हूँ एवं भगवान् मेरे हैं तथा मैं जो कुछ करता हूँ, भगवान्के आज्ञानुसार भगवत्प्रीत्यर्थ करता हूँ—इस भावसे भावित होकर कर्म करना भगवद्भक्तिसहित निष्काम कर्मयोगका साधन है। इस प्रकार कर्म करनेवाला पुरुष परमात्माकी प्राप्तिरूप परम सिद्धिको अनायास ही प्राप्त कर लेता है। भगवान् कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

यों भक्तिसंयुक्त निष्काम कर्म करनेवाला मनुष्य व्यवहार करते समय पशु, पक्षी, कीट, पतंग, देवता, पितर और मनुष्य आदि

सभीमें भगवद्भाव रखता है और भगवद्भावसे भावित हुआ सबके हितमें रत रहता है। वह मनुष्य अतिथिकी सेवा करते समय अतिथिमें, भूतयज्ञ करते समय गौ, कुत्ते, कौवे आदिमें, श्राद्ध-तर्पण करते समय पितरोंमें, श्रुति-स्मृतिका स्वाध्याय करते समय ऋषियोंमें और पूजा-होम आदि करते समय देवताओंमें भगवद्भाव रखता है। यह भक्तिसहित निष्काम कर्मयोग है। निष्काम भाव ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर परिपक्व होता जाता है, त्यों-ही-त्यों उसके चित्तमें प्रसन्नता, शान्ति, परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान, ईश्वरमें प्रेम और संसारसे वैराग्य उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाता है। जो लोग निष्कामी होनेका दावा रखते हैं, वे निष्कामी नहीं हैं। जो निष्कामी होता है, वह निष्कामी होनेका दावा नहीं रखता। उसका जीवन ही निष्काम हो जाता है। निष्कामभाव बहुत ही ऊँची श्रेणीकी वस्तु है। यह अभ्यास, ज्ञान और ध्यान आदिसे भी श्रेष्ठ है (गीता १२। १२)।

(४) अनन्य प्रेमपूर्वक भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र इच्छाका होना बहुत ही उत्तम है। जब मनुष्यकी संसारसागरसे उद्धार होनेकी तीव्र इच्छा हो जाती है, तब उसका शीघ्र ही उद्धार हो जाता है। इसे नीचे लिखी कहानीसे समझना चाहिये।

एक जिज्ञासुने किसी समुद्रतटवर्ती महात्माके पास जाकर पूछा—'महाराजजी! संसारसे उद्धार होनेमें कितना समय लगता है?' महात्माने उत्तर दिया—'यदि उद्धार होनेकी तीव्र इच्छा हो तो एक मिनटमें संसारसे उद्धार हो सकता है।' जिज्ञासुने

कहा—'ऐसा ही उपाय बताइये, जिससे एक मिनटमें कल्याण हो जाय।' महात्मा बोले—'स्नान करनेके बाद बतलाऊँगा। चलो अभी हम समुद्रमें स्नान कर आवें।' फिर दोनों स्नान करनेके लिये समुद्रके तटपर गये और दोनोंने ही समुद्रमें प्रवेश किया। महात्माका शरीर हृष्ट-पुष्ट और बलिष्ठ था। स्नान करते समय महात्माने जिज्ञासुके शरीरको जोरसे दबा दिया और उसे एक मिनट-तक दबाये ही रहे। इससे वह बहुत छटपटाने लगा। तब महात्माने उसको बाहर निकाल दिया। उस समय जिज्ञासु कुछ उत्तेजित होकर बोला—'आप मुझे यहाँ किसलिये लाये थे?' महात्माने उत्तर दिया—'एक मिनटमें कल्याण किस प्रकार होता है—यह बात बतलानेके लिये तुझे यहाँ लाया था।' जिज्ञासुने कहा—'क्या समुद्रमें डुबो देनेसे एक मिनटमें कल्याण होता है?' महात्मा बोले—'नहीं।' जिज्ञासुने कहा—'तब फिर आपने समुद्रमें मुझको दबाकर क्यों रक्खा?' महात्माने उत्तर दिया—'तुम्हें अनुभव करानेके लिये। बताओ जब तुमको मैंने दबा रक्खा था, तब तुम्हारे मनमें बारंबार क्या बात आती थी?' जिज्ञासुने कहा—'उस समय बार-बार मेरे मनमें यही आता था कि किस प्रकार शीघ्र-से-शीघ्र समुद्रसे बाहर निकलूँ। मैं शक्तिभर प्रयत्न भी करता रहा, पर मैं स्वयं निकल नहीं सका। आपने निकाला तभी निकला।' महात्मा बोले—'इसी प्रकार संसार-सागरसे बाहर निकलनेकी तीव्र इच्छासे जब मनुष्यका जी छटपटाने लगता है, तब भगवान् उसका शीघ्रातिशीघ्र संसार-सागरसे उद्धार कर देते हैं।

तुम्हारी जैसी तीव्र इच्छा इस खारे समुद्रसे बाहर निकलनेकी हुई ऐसी ही इस दुःखके घर संसार-सागरसे बाहर निकलनेकी तीव्र इच्छा होनी चाहिये। यही एक मिनटमें संसार-सागरसे उद्धार होनेका उपाय है।

परमात्माकी प्राप्तिके लिये भजन, ध्यान, सत्संग, स्वाध्याय आदि अनेक उपाय हैं। उनमेंसे शीघ्रातिशीघ्र परमात्माकी प्राप्ति होनेका यह एक विशेष उपाय है—भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र इच्छाका होना। जब मनुष्य भगवान्‌के विरहमें अत्यन्त व्याकुल हो जाता है, भगवान्‌से मिले बिना रह ही नहीं सकता, तब भगवान् भी उससे मिले बिना नहीं रह सकते, भगवान् उसको शीघ्र दर्शन दे देते हैं। श्रीरामके वियोगमें जब भरतजी विरह-व्याकुलतामें मग्न हो गये, तब उसी समय भगवान्‌के पहुँचनेका संवाद सुनानेके लिये श्रीहनुमान्‌जी उनके पास आ पहुँचे। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥

देखत हनूमान अति हरषेउ। पुलक गात लोचन जल बरषेउ॥
मन महँ बहुत भाँति सुख मानी। बोलेउ श्रवन सुधा सम बानी॥
जासु बिरहँ सोचहु दिन राती। रटहु निरंतर गुन गन पाँती॥
रघुकुल तिलक सुजन सुखदाता। आयउ कुसल देव मुनि त्राता॥
रिपु रन जीति सुजस सुर गावत। सीता सहित अनुज प्रभु आवत॥

(राम० उत्तर० १ क-ख; १। १-३)

जब पाण्डव वनमें निवास कर रहे थे, उस समय एक दिनकी

बात है कि द्रौपदीके भोजन कर चुकनेपर महर्षि दुर्वासा अपने दस हजार शिष्योंके साथ उनके पास जाकर उनके अतिथि हुए। तब द्रौपदीको अन्नके लिये बड़ी चिन्ता हुई। उस समय उसने व्याकुल होकर मन-ही-मन करुणभावसे भगवान्‌को इस प्रकार पुकारा—

कृष्ण कृष्ण महाबाहो देवकीनन्दनाव्यय।
वासुदेव जगन्नाथ प्रणतार्तिविनाशन॥
विश्वात्मन् विश्वजनक विश्वहर्तः प्रभोऽव्यय।
प्रपन्नपाल गोपाल प्रजापाल परात्पर॥
दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा।
तथैव संकटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि॥
(महा० वन० २६३। ८—१०, १६)

हे कृष्ण! हे महाबाहु श्रीकृष्ण! हे देवकीनन्दन! हे अविनाशी वासुदेव! चरणोंमें पड़े हुए दुखियोंका दुःख दूर करनेवाले हे जगदीश्वर! तुम्हीं सम्पूर्ण जगत्‌के आत्मा हो। अविनाशी प्रभो! तुम्हीं इस विश्वकी उत्पत्ति और संहार करनेवाले हो। शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले गोपाल! तुम्हीं समस्त प्रजाका पालन करनेवाले परात्पर परमेश्वर हो। भगवन्! पहले कौरवसभामें दुःशासनके हाथसे जैसे तुमने मुझे बचाया था, उसी प्रकार इस वर्तमान संकटसे भी मेरा उद्धार करो।'

एवं स्तुतस्तदा देवः कृष्णया भक्तवत्सलः।
द्रौपद्याः संकटं ज्ञात्वा देवदेवो जगत्पतिः॥

पार्श्वस्थां शयने त्यक्त्वा रुक्मिणीं केशवः प्रभुः ।
तत्राजगाम त्वरितो ह्यचिन्त्यगतिरीश्वरः ॥
(महा० वन० २६३ । १७-१८)

'द्रौपदीके इस प्रकार स्तुति करनेपर अचिन्त्यगति परमेश्वर देवाधिदेव जगन्नाथ भक्तवत्सल भगवान् केशवको यह मालूम हो गया कि द्रौपदीपर कोई संकट आ गया है । फिर तो वे शय्यापर अपने पास ही सोयी हुई रुक्मिणीको छोड़कर तुरंत वहाँ आ पहुँचे ।'

श्रीमद्भागवतमें वर्णन आता है कि जब भगवान् श्रीकृष्ण शरत्-पूर्णिमाको गोपियोंके मध्यमें रास करते-करते अदृश्य हो गये और सभी गोपियाँ उनके विरहमें व्याकुल होकर उनसे प्रार्थना करने लगीं, तब भगवान् गोपियोंको अतिशय व्याकुल देखकर उनके सम्मुख तुरंत प्रकट हो गये ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा ।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ॥
तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३२ । १-२)

'परीक्षित् ! गोपियाँ भगवान्‌के विरहके आवेशमें इस प्रकार भाँति-भाँतिसे गाने और प्रलाप करने लगीं । अपने प्रेमास्पद श्रीकृष्णके दर्शनकी लालसासे वे अपनेको रोक न सकीं, करुणाजनक सुमधुर स्वरसे

फूट-फूटकर रोने लगीं। ठीक उस समय उनके बीचोंबीच भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। भगवान्‌का मुख-कमल मन्द-मन्द मुसकानसे खिला हुआ था। गलेमें वनमाला थी। वे पीताम्बर धारण किये हुए थे। उनका यह रूप क्या था, सबके मनको मथ डालनेवाले कामदेवके मनको भी मथनेवाला था।'

इन सब उदाहरणोंसे यही बात सिद्ध होती है कि प्रेमपूर्वक विरहकी व्याकुलतामें भगवान्‌के मिलनेकी अतिशय तीव्र इच्छा होनी चाहिये। यह तीव्र इच्छा ही सबसे बढ़कर और क्षणभरमें भगवान्‌की प्राप्तिका उपाय है। जैसे जलके वियोगमें मछली जलके बिना तड़प-तड़पकर मर जाती है, वैसी ही तड़पन भगवान्‌के विरहमें होनी चाहिये। यदि कहें कि मछली तो तड़पकर मर ही जाती है, उसे जल तो नहीं मिलता सो ठीक है, किंतु जल तो जड है, इसलिये उसमें मिलनेकी इच्छा हो ही नहीं सकती। परंतु भगवान् तो चेतन और सुहृद् हैं अर्थात् बिना ही कारण दया और प्रेम करनेवाले हैं, वे एक क्षणका भी विलम्ब कैसे कर सकते हैं।

अतएव हमलोगोंको भगवान्‌के शरण होकर और उनके विरहमें व्याकुल होकर उनके मिलनेकी तीव्र इच्छापूर्वक करुणभावसे पुकार करनी चाहिये। फिर भगवान्‌के आनेमें कोई विलम्ब नहीं है। भगवान्‌में अनन्य प्रेम (अनन्य भक्ति) होनेसे ही साधककी ऐसी स्थिति हुआ करती है।



परमात्माका तत्त्व-रहस्यसहित स्वरूप

परमात्माका जो निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन स्वरूप है, वह एक, अद्वितीय, गुणातीत, बोधस्वरूप, नित्यमुक्त, क्रियारहित, आकाररहित, विकारशून्य, विशेषणोंसे रहित, गुणोंसे रहित, धर्मोंसे रहित, केवल, शुद्ध, चिन्मय, निर्विशेष है। वह प्रापणीय वस्तु है। वास्तवमें वह बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान और ध्यानका विषय नहीं है। वह स्वयं ही अपने-आपको जानता है। जो उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है, वह फिर तद्रूप ही बन जाता है। जो उस विज्ञानानन्दघन ब्रह्मको जानता है, वह ब्रह्म होकर ही उसे जानता है, उससे भिन्न होकर नहीं। यह कथन भी वास्तवमें बनता नहीं, केवल जिज्ञासु साधकोंको समझानेके लिये ही है।

परमात्माका जो दूसरा सगुण स्वरूप है, उसको इस प्रकार समझना चाहिये—

सत्त्व, रज और तम—ये प्रकृतिके तीन गुण हैं। इन तीनों गुणोंसे युक्त प्रकृति ईश्वरकी शक्ति है, इसीको त्रिगुणमयी माया कहते हैं (गीता ७। १४) और ईश्वर शक्तिमान् है। उसकी शक्ति उससे भिन्न भी है और अभिन्न भी। तीनों गुणोंसे युक्त शक्ति जड है और परमात्मा चेतन है—इस दृष्टिसे तो वह शक्ति परमात्मासे भिन्न है तथा परमात्मा ही शक्तिके रूपमें अभिव्यक्त होते हैं, इस दृष्टिसे शक्ति परमात्मासे अभिन्न है। इस शक्तिका नाम ही प्रकृति है। प्रकृतिके कार्य होनेसे गुण प्रकृतिसे अभिन्न हैं तथा जैसे बर्फ जलसे ही उत्पन्न होती और जलमें ही विलीन हो जाती है, वैसे ही तीनों गुण प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते और उसीमें विलीन हो जाते हैं। महासर्गके आरम्भमें उस प्रकृतिसे ही गुण उत्पन्न होते हैं (गीता १४। ५), या यों कहिये कि प्रकृति गुणोंके रूपमें अभिव्यक्त होती है। समस्त जीवोंके संस्कार जो प्रकृतिके रूपमें स्थित हो रहे हैं, जीवोंको उनका फल-भोग करानेके लिये परमात्माके सकाशसे प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है अर्थात् उसमें हलचल पैदा होती है। उस हलचलसे प्रकृतिमें दो विभाग हो जाते हैं। इनमें एकका नाम विद्या और दूसरेका नाम अविद्या है। विद्या सत्त्वगुण है और अविद्या तमोगुण है तथा जो प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है, वह क्रियारूप हलचल (चञ्चलता) रजोगुण है। यही प्रकृतिकी विषमावस्था है। महाप्रलयके समय ये तीनों गुण उस प्रकृतिमें विलीन हो जाते हैं, वही प्रकृतिकी साम्यावस्था है। जितने कालतक महासर्ग रहता है, उतने ही कालतक महाप्रलय रहता है। महाप्रलयके समय संस्कारके रूपमें जीवोंके कर्म, तीनों गुण और गुणोंका कार्यरूप यह दृश्यवर्ग—

जड संसार, ये सब-के-सब कारणरूप प्रकृतिमें तद्रूप हो जाते हैं तथा उस प्रकृतिसे संयुक्त सम्पूर्ण जीव ब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं। महाप्रलयके अन्त और महासर्गके आदिमें पुनः जीवोंके संस्काररूप कर्मोंका फल-भोग जीवोंको करानेके लिये परमात्माके सकाशसे प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है, जिससे प्रकृतिमें सत्त्व, रज, तम—ये तीन विभाग हो जाते हैं। इस प्रकार प्रकृतिसंयुक्त परमात्मामें सृष्टिकी उत्पत्ति और विलय बारंबार होते रहते हैं।

इस सगुणस्वरूप परमात्माके दो भेद हैं—(१) निराकार, (२) साकार।

(१) वे सगुण-निराकार परमात्मा अविद्यासे अति परे, अत्यन्त शुद्ध, नित्यमुक्त, बोधस्वरूप, कैवल्यरूप, सर्वत्र परिपूर्ण, स्वयंप्रकाश, अद्वितीय, अखण्ड, अतिदिव्य मङ्गलस्वरूप, सच्चिदानन्दमय हैं तथा क्षमा, दया, शान्ति, समता, संतोष, सरलता, ज्ञान आदि अनन्त असीम अलौकिक अप्राकृत दिव्य चिन्मय गुणोंसे सम्पन्न हैं। वे परमात्मा निराकाररूपसे सारे संसारमें व्यापक हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
(९।४)

'मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् (जलसे बर्फकी भाँति) परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं; किंतु वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।'

इसी स्वरूपका वर्णन गीतामें परम दिव्य पुरुषके नामसे किया गया है—

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥
(८ । ९-१०)

'जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता, सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले, अचिन्त्यस्वरूप, सूर्यके सदृश नित्य-चेतन प्रकाशरूप और अविद्यासे अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वरका स्मरण करता है, वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकालमें भी योगबलसे भृकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापित करके, फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्यस्वरूप परमपुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है ।'

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥
(गीता ८ । २२)

'हे पार्थ ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सब भूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्य भक्तिसे ही प्राप्त किया जा सकता है ।'

(२) परमात्माका जो दिव्य गुणोंसे सम्पन्न सगुण-साकार स्वरूप है, वह चिन्मय है। इसी प्रकार भगवान्का परम धाम भी दिव्य चेतन है। एवं उस परम धाममें जानेवाले भक्तोंके स्वरूप भी चेतन हैं। वे ही क्षमा, दया, प्रेम, समता, शान्ति, संतोष, सरलता, ज्ञान आदि अनन्त दिव्य चिन्मय गुणोंसे युक्त भगवान् अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि सगुण-साकार रूपोंसे प्रकट होते हैं अर्थात् अवतार लेते हैं। गीतामें भगवान्ने कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥

(७ । ६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

यह श्रीराम, श्रीकृष्ण आदिका अवतार-विग्रह अनधिकारी मूढ़ मनुष्योंके लिये भगवान्की त्रिगुणमयी मायासे आच्छादित रहता है, इसीलिये भगवान्के तत्त्वको न जाननेवाले वे मनुष्य उसे नहीं जान पाते। भगवान्ने गीतामें बतलाया है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

(७ । २५)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है।'

किंतु भगवान् अपने अनन्य विशुद्ध प्रेमी श्रद्धालु भक्तके लिये अपनी उस त्रिगुणमयी योगमायाका पर्दा दूर कर देते हैं, जिससे वह भक्त अनन्यभक्तिके द्वारा भगवान्के वास्तविक स्वरूपका दर्शन कर लेता है तथा तत्त्वसे जानकर उनको प्राप्त हो जाता है ।

भगवान्ने कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

(गीता ११।५४)

'हे परंतप अर्जुन ! अनन्यभक्तिके द्वारा इस प्रकारके रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखा, तत्त्वसे जाना तथा प्रवेश भी किया (एकीभावसे प्राप्त किया) जा सकता हूँ ।'

परंतु जिनका भगवान्में श्रद्धा-प्रेम नहीं है, ऐसे आसुर स्वभाववाले मनुष्योंके लिये भगवान् अपनी योगमायासे छिपे रहते हैं । अतः वे आसुर स्वभाववाले मूढ़ मनुष्य भगवान्को न जाननेके कारण उनका तिरस्कार करते हैं । भगवान्ने स्वयं कहा है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

(गीता ९ । ११)

'मेरे परम भावको न जाननेवाले मूढ़लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वरको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझ परमेश्वरको साधारण मनुष्य मानते हैं ।'

किंतु ज्ञानी महात्मा पुरुष उस परमात्माके परम दिव्य स्वरूपको तत्त्वसे जानते हैं। एवं जो जानते हैं, वे संसारसे मुक्त होकर उस परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।

संसारमें स्थित दैवी सम्पदायुक्त सात्त्विक पुरुषों तथा ज्ञानी महात्मा महापुरुषोंमें जो क्षमा, दया, प्रेम, शान्ति, समता, संतोष सरलता, ज्ञान, वैराग्य आदि गुण दृष्टिगोचर होते हैं, उन गुणोंमें, और परमात्माके दिव्य चिन्मय गुणोंमें भी बहुत अन्तर है। पूर्णिमाके चन्द्रमाका एक तो असली स्वरूप होता है, जो आकाशमें स्थित दीखता है; और दूसरा दर्पणमें उसका वैसा-का-वैसा प्रतिबिम्ब-स्वरूप दीखता है। सगुण परमात्माके जो दिव्य गुण हैं, वे तो पूर्ण चन्द्रमाके वास्तविक स्वरूपकी भाँति हैं और चिन्मय हैं; तथा जो प्रकृतिके कार्यभूत विद्यारूप सात्त्विक गुण हैं, वे प्रकृतिके कार्य होनेसे जड हैं। ये गुण दैवी सम्पदायुक्त सात्त्विक पुरुषों और ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके शुद्ध अन्तःकरणमें, दर्पणमें पूर्णचन्द्रमाके प्रतिबिम्बकी भाँति, परमात्माके दिव्य चिन्मय गुणोंके ही प्रतिबिम्बभूत हैं।

साधकके गुणों और सिद्ध महात्माके गुणोंमें भी भेद है। दैवी सम्पदायुक्त सात्त्विक साधक पुरुष तो गुणोंकी सत्ता अपनेमें मानता है और गुणातीत ज्ञानी महात्मा पुरुष इस देहके अभिमानसे रहित हो परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं; अतः उन ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके शुद्ध अन्तःकरणमें ये गुण रहते अवश्य हैं, किंतु इन गुणरूप धर्मोंको अपनेमें माननेवाला कोई धर्मी नहीं रहता; क्योंकि वे स्वयं तो गुणोंसे अतीत हो सच्चिदानन्द ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं।

साधकों और महात्माओंके जो क्षमा, दया, प्रेम, ज्ञान, शान्ति, समता, संतोष आदि गुण हमलोगोंकी जानकारीमें आते हैं, वे दिव्य होते हुए भी ज्ञेय होनेके कारण जड हैं। किंतु परमात्माके स्वरूपभूत गुण दूसरेके द्वारा जाननेमें नहीं आ सकते, उनको महर्षि और देवगण भी नहीं जान सकते। इसी प्रकार उनका दिव्य स्वरूप भी किसी दूसरेके जाननेमें नहीं आ सकता। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥
(गीता १०। २)

'मेरी उत्पत्तिको अर्थात् लीलासे प्रकट होनेको न देवतालोग जानते हैं और न महर्षिगण ही जानते हैं; क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओंका तथा महर्षियोंका भी आदि कारण हूँ।'

वे स्वयं ही अपने-आपको जानते हैं। गीतामें अर्जुनने भगवान्‌के प्रति कहा है—

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
(१०। १५ का पूर्वार्ध)

'हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं।'

क्योंकि यदि भगवान्‌का स्वरूप किसी दूसरेके जाननेमें आ जाय, तब तो वह भी अन्य ज्ञेय पदार्थोंकी भाँति जड ही समझा जायगा। परमात्मा बुद्धिसे परे हैं, अतएव उनको बुद्धिके द्वारा कोई नहीं जान सकता; किंतु वे सबको जानते हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥
(७ । २६)

'हे अर्जुन ! पूर्वमें हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ; परंतु मुझको कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता ।'

ऊपर परमात्माके निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दमय स्वरूप तथा सगुण-निराकार एवं सगुण-साकार स्वरूपोंकी जो बात बतलायी गयी—इसका अभिप्राय यह नहीं है कि परमात्मा अनेक हैं । एक परमात्माके ही ये अलग-अलग स्वरूप उपासकोंकी दृष्टिसे ही बतलाये गये हैं । वस्तुतः इन सभी रूपोंमें एक, अद्वितीय, बोधस्वरूप, नित्यमुक्त, केवल, शुद्ध, सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा ही हैं ।

इसलिये उन परमात्माकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको उनकी अनन्यभक्ति करनी चाहिये । उस अनन्य भक्तिका स्वरूप भगवान्‌ने अपने अनन्य भक्तके लक्षण कहकर इस प्रकार बतलाया है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥
(गीता ११ । ५५)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्तव्य कर्म करता है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है (मुझसे ही प्रेम करता है), आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके प्रति वैरभावसे रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है ।'



भगवान्‌के निराकार-तत्त्वका रहस्य

श्रीभगवान् गीताके नवम अध्यायके प्रथम श्लोकमें कहते हैं—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥

'अर्जुन ! तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको पुनः भलीभाँति कहूँगा, जिसे जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा ।'

इस प्रकार इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको कहनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान् उसके आठ विशेषण देकर उसकी महिमा प्रगट करते हैं—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥
(गीता ९ । २)

'जो विज्ञानसहित ज्ञान मैं तुझे बतलाऊँगा, वह सब विद्याओं-का राजा, सम्पूर्ण गोपनीयोंका राजा, पापीसे भी पापीको पवित्र करनेवाला, सर्वोत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, परम धर्ममय, साधन करनेमें अत्यन्त सुगम और अविनाशी है ।'

इसपर प्रश्न होता है कि इतना लाभदायक और बहुत ही सुगम साधन होनेपर भी सब लोग इसमें क्यों नहीं लग जाते, तो इसका उत्तर यह है कि लोगोंमें श्रद्धाकी कमी है । भगवान्‌ने कहा है—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥
(गीता ९ । ३)

'हे परंतप ! इस उपर्युक्त धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसार-चक्रमें भ्रमण करते रहते हैं ।'

गीतामें भगवान्‌ने साकार, निराकार, सगुण, निर्गुण—सभी स्वरूपोंकी उपासना बतलायी है ।

भगवान्‌ने अपने निराकार स्वरूपका तत्त्व और रहस्य बतलाते हुए कहा है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥

(गीता ९ । ४-५)

'मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं, किंतु वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ । वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं; किंतु मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है ।'

अभिप्राय यह है कि भगवान् इस संसारमें व्यापक, इस संसारके परम आधार और अभिन्ननिमित्तोपादान कारण* हैं । यहाँ—

---

* जिस वस्तुसे जो चीज बनती है, वह उसका उपादान कारण है और बनानेवाला निमित्त कारण; जैसे घड़ेका उपादान कारण मिट्टी है और निमित्त कारण कुम्हार है । किंतु संसारके उपादान और निमित्त कारण परमात्मा ही हैं । जैसे मकड़ी जो जाला तानती है, उस जालेका उपादान कारण भी मकड़ी है और निमित्त कारण भी मकड़ी ही है,

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।

'मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है'—इस कथनसे भगवान्‌ने अपनी व्यापकता बतलायी है । भगवान्‌के कथनका भाव यह है कि यह संसार तो व्याप्य है और मैं इसमें व्यापक हूँ । तथा 'मत्स्थानि सर्वभूतानि'—'सब भूत मुझमें स्थित हैं' और 'भूतभृत्'—'मैं सब भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला हूँ'—यह कहकर भगवान्‌ने संसारका अपनेको परम आधार बतलाया है । एवं 'पश्य मे योगमैश्वरम्' 'मेरी इस अलौकिक रचनारूप ईश्वरीय योगशक्तिको देख'—यों कहकर अपनेको संसारका निमित्त कारण बताया है और 'ममात्मा भूतभावनः'—'मेरा आत्मा (स्वरूप) भूतोंके भावको उत्पन्न करनेवाला है'—यह कहकर अपनेको संसारका उपादान कारण बतलाया है ।

परमात्मा किस प्रकार संसारमें व्यापक, उसके आधार और उपादान कारण हैं, इसको नीचे लिखे उदाहरणसे समझना चाहिये । जैसे बादलोंके समूहमें महाकाश व्यापक भी है और उनका परम आधार एवं उपादान कारण भी है, उसी प्रकार परमात्मा संसारमें व्यापक, उसके परम आधार और परम कारण हैं । बादलका कोई भी ऐसा हिस्सा नहीं, जिसमें आकाश न हो, इसी प्रकार जड-चेतन और चराचर जगत्‌का कोई भी ऐसा अंश नहीं है, जहाँ परमात्मा न हों । परमात्मा सब देश, सब काल और सब वस्तुओंमें परिपूर्ण हैं । श्रुति कहती है—

उसी प्रकार परमात्मा जगत्‌के उपादान और निमित्त कारण दोनों हैं; अतः वे उससे अभिन्न हैं ।

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।

(ईशा० उप० १)

'इस संसारमें जो कुछ जड-चेतन पदार्थसमुदाय है, वह सब ईश्वरसे व्याप्त है।'

जैसे बादलोंका परम आधार आकाश है, बिना आकाशके बादल नहीं रह सकते, उसी प्रकार परमात्मा संसारके परम आधार हैं, बिना परमात्माके संसार नहीं रह सकता। एवं जैसे बादलोंकी उत्पत्ति आकाशसे हुई है—आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। (तैत्ति० उप० २।१) 'आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि और अग्निसे जल उत्पन्न होता है।' बादल, बूँद, ओला, बर्फ—सब जल ही है। अतः आकाशसे ही बादलरूप जलकी उत्पत्ति हुई है; सुतरां आकाश ही बादलका उपादान कारण है। इसी प्रकार परमात्माके संकल्पसे ही संसारकी उत्पत्ति हुई है। श्रुति कहती है—

'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति।'

(तैत्ति० उप० २।६)

—'उस परमात्माने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ।'

स्वप्नावस्थामें मनुष्यका संकल्प ही स्वप्नके संसारका रूप धारण करता है। अतः वह स्वप्नका संसार उस मनुष्यसे अभिन्न है। जिसको स्वप्न आता है, वह मनुष्य ही इसका उपादान और निमित्त कारण है; क्योंकि उस मनुष्यके अतिरिक्त वहाँ अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है, सब कुछ वह मनुष्य ही है। इसी प्रकार इस संसारके परमात्मा ही अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं। अन्तर

इतना ही है कि जीव परतन्त्र और अज्ञानके वशमें है, किंतु परमात्मा स्वतन्त्र और ज्ञानस्वरूप हैं।

यहाँ कोई कह सकता है कि इन श्लोकोंमें भगवान्‌का यह कथन कि 'मैं संसारमें व्यापक हूँ और संसार मुझमें है'—तो ठीक समझमें आ जाता है, किंतु 'मैं संसारमें नहीं हूँ और संसार मुझमें नहीं है' यह बात समझमें नहीं आती; क्योंकि इनमें परस्पर विरोध प्रतीत होता है। भगवान् पहले तो कहते हैं—

'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।'

—'मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है अर्थात् मैं सब संसारमें व्यापक हूँ।' और फिर कहते हैं—'न चाहं तेष्ववस्थितः, न च भूतस्थः'—'मैं उन सब भूतोंमें स्थित नहीं हूँ।' तथा नवें अध्यायके चौथे श्लोकमें कहते हैं—'मत्स्थानि सर्वभूतानि'—'सब भूत मुझमें स्थित हैं' और पाँचवें श्लोकमें कहते हैं—'न च मत्स्थानि भूतानि'—'सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं।' इन वचनोंमें विरोध प्रतीत होता है, अतः इनमें कौन-सा वचन ठीक माना जाय? इसका उत्तर यह है कि इनमें विरोध नहीं है; अतः दोनों ही बातें ठीक हैं। इनका तत्त्व समझना चाहिये।

उदाहरणके लिये आकाश बादलोंमें है और नहीं भी है। जब बादल नहीं थे, तब भी वहाँ आकाश था और बादमें जब बादल नहीं रहते, तब भी आकाश रहता है तथा बीचकी अवस्थामें भी बादलोंमें आकाश है। भाव यह कि बादलके आदि, मध्य और अन्तमें—सभी समय आकाश सदा ही अपने आपमें विद्यमान है। बादल उत्पन्न होते हैं और फिर उनका विनाश हो जाता है;

किंतु आकाश सदा ही एकरूप, एकरस रहता है। वास्तवमें तो जिस समय बादल है, उस समय भी आकाश अपने आपमें ही स्थित है; पर समझानेके लिये यह कहा जाता है कि बादलोंमें आकाश व्यापक है। अतः बादलोंमें आकाश व्यापक है और बादलोंमें आकाश नहीं है—ये दोनों ही कथन युक्तिसंगत हैं, इसलिये इनमें कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार परमात्मा संसारमें हैं और नहीं भी हैं। जब संसार नहीं था, तब भी वहाँ परमात्मा थे और बादमें जब संसार नहीं रहता, तब भी परमात्मा रहते हैं और बीचकी अवस्थामें भी संसारमें परमात्मा हैं। भाव यह कि सृष्टिके आदि, मध्य और अन्तमें—सभी समय परमात्मा सदा ही अपने आपमें विद्यमान हैं। संसार उत्पन्न होता है और फिर उसका विनाश हो जाता है। किंतु परमात्मा सदा ही एकरूप, एकरस रहते हैं। वास्तवमें तो जिस समय संसार है, उस समय भी परमात्मा अपने आपमें ही स्थित हैं; किंतु समझानेके लिये यह कहा जाता है कि संसारमें परमात्मा व्यापक हैं। अतः संसारमें परमात्मा व्यापक हैं और संसारमें परमात्मा नहीं हैं—ये दोनों ही कथन युक्तिसंगत हैं, इसलिये इनमें कोई विरोध नहीं है।

यदि बादलोंमें आकाश होता तो बादलोंके नाश होनेपर आकाशके भी उतने हिस्सेका नाश हो जाता, किंतु बादलोंका नाश होनेपर भी आकाशके किसी भी हिस्सेका नाश नहीं होता। इसलिये बादलोंमें आकाश नहीं है, आकाश अपने आपमें ही स्थित है—यह कहना ही उचित है।

इसी प्रकार परमात्मा यदि संसारमें वास्तवमें होते तो संसारके नाश होनेपर परमात्माके उतने हिस्सेका भी नाश हो जाता; किंतु संसारके नाश होनेपर भी परमात्माका नाश नहीं होता, इसलिये संसारमें परमात्मा नहीं हैं, परमात्मा अपने आपमें ही नित्य स्थित हैं—यह कहना ही उचित है; क्योंकि आकाशमें बादलोंकी भाँति संसार उत्पन्न होता है और फिर उसका विनाश हो जाता है, परंतु परमात्मा सदा ही नित्य अचल एकरूप एकरस रहते हैं।

एवं जिस समय बादल आकाशमें विद्यमान है, उस समय यह कहना कि आकाशके किसी एक अंशमें बादल है, उचित ही है; इसी प्रकार जिस कालमें बादल नहीं है, उस कालमें यह कथन भी कि आकाशमें बादल नहीं है, उचित ही है। किंतु जिस कालमें आकाशमें बादल हैं, उस कालमें भी वास्तवमें बादल आकाशमें नहीं हैं; क्योंकि बादल आकाशमें उत्पन्न होते हैं और फिर उनका विनाश हो जाता है। यदि वास्तवमें बादल होते तो सदा रहते। जो वस्तु सदा नहीं रहती, वह अनित्य है; अतः उसके लिये यह कहना अनुचित नहीं कि वह नहीं है।

इसी प्रकार जिस समय यह संसार प्रतीत होता है, उस समय समझानेके लिये यह कथन उचित है कि परमात्माके किसी एक अंशमें संसार है और जिस कालमें (महाप्रलयके समय) संसार नहीं प्रतीत होता है, उस कालमें यह कहना कि परमात्मामें संसार नहीं है, उचित ही है। किंतु जिस कालमें परमात्मामें संसार प्रतीत होता है, उस कालमें भी वास्तवमें संसार परमात्मामें नहीं है; क्योंकि संसार परमात्मामें उत्पन्न होता है और उसका

विनाश होता रहता है । यदि वास्तवमें संसार होता तो सदा रहता । जो वस्तु सदा नहीं रहती, वह अनित्य है । अतः जो किसी कालमें तो रहती है और किसी कालमें नहीं रहती, उस अनित्य वस्तुके लिये यह कहना कि वह नहीं है, उचित ही है । भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

(गीता २ । १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है । इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है ।'

सार यह कि सच्चिदानन्दघन परमात्मा इस संसारमें व्यापक (परिपूर्ण) हैं और वे ही इसके परम आधार एवं उपादान और निमित्त कारण हैं । यह संसार परमात्माका संकल्प होनेके कारण परमात्माका स्वरूप ही है । अतएव इस संसारको परमात्माका स्वरूप समझते रहना ही परमात्माका यथार्थ ज्ञान है । भगवान् गीतामें कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

(७ । १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है; वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ।'